

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

ग्रन्थाङ्क 189

हम्मीर-महाकाव्य

(हिन्दी अनुवाद)

1997

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान
जोधपुर

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

प्रधान सम्पादक

मुकेश शर्मा I. A. S.

[निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर]

ग्रन्थाङ्क 189

नयचन्द्रसूरि-विरचित

हम्मीर-महाकाव्य

(हिन्दी अनुवाद)

अनुवादक

पं. नाथूलाल त्रिवेदी "मधुकर शास्त्री"

प्रकाशक

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर

Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur

1997 मूल्य : 102.00

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

प्रधान सम्पादक
मुकेश शर्मा I. A. S.
[निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर]

ग्रन्थाङ्क 189

नयचन्द्रसूरि-विरचित

हम्मीर-महाकाव्य

(हिन्दी अनुवाद)

अनुवादक
पं. नाथूलाल त्रिवेदी "मधुकर शास्त्री"

प्रकाशक
राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर
Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur

1997 मूल्य : 102.00

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

राजस्थान राज्य द्वारा प्रकाशित
सामान्यतः अखिलभारतीय तथा विशेषतः राजस्थानप्रदेशीय पुरातनकालीन
संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी आदि भाषानिबद्ध
विविधवाङ्मयप्रकाशिनी विशिष्ट ग्रन्थावली

प्रधान सम्पादक
मुकेश शर्मा I. A. S.

ग्रन्थाङ्क 189

हम्मीर-महाकाव्य
(हिन्दी अनुवाद)

प्रधान-सम्पादकीय

भारतीय इतिहास के आधारभूत स्रोतों में ज्ञात ऐतिह्य सामग्री के अतिरिक्त वर्तमान शती के अन्तिम चरण में विभिन्न साहित्य-ग्रन्थों में उपलब्ध सूत्रों को जोड़ने की एवं उनके माध्यम से एक नवीन दृष्टि से इतिहास को समझने की परम्परा का विकास हुआ है। साहित्य की इस प्रकार की कृतियों का जब तक एक इतिहासवेत्ता की दृष्टि से अध्ययन नहीं किया जायेगा तब तक उनमें उपलब्ध ऐतिह्य सूत्रों की प्रामाणिकता का दावा करना हमारे लिये शायद सम्भव नहीं है। विशेषकर वे ग्रन्थ जो संस्कृत में लिखे गये हैं, राजनैतिक व सांस्कृतिक इतिहास के लिये कहाँ तक उपादेय हो सकेंगे इसका अध्ययन तब तक सम्भव नहीं जब तक कि उनके हिन्दी अथवा अंग्रेजी भाषाओं में अनुवाद सुलभ नहीं हो जाते हैं। प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान द्वारा संस्कृत-साहित्य की ऐतिहासिक उपादेयता पर विचार करने के लिये आयोजित राष्ट्रीय-संगोष्ठी की चर्चा में भी यही बात उभर कर सामने आई थी।

अतः उपलब्ध संस्कृत-साहित्य जो संस्कृतेतर विद्वानों के लिये अभी तक गूढ़ बना हुआ है, उसका क्रमशः अनुवाद करवाने एवं विद्वानों तक पहुँचाने का हमने निर्णय लिया और इसी आलोक में सर्वप्रथम चौहान शासकों से सम्बन्धित शत्रुशल्यचरित महाकाव्य को अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित किया। प्रस्तुत हम्मीर महाकाव्य उससे भी प्राचीन है। इसका पहले सन् 1966 में विभाग द्वारा प्रकाशन किया जा चुका है। अब हमारे आग्रह पर कोटा निवासी पं. नाथूलाल त्रिवेदी 'मधुकर शास्त्री' ने इस महाकाव्य का अविकल हिन्दी अनुवाद किया। स्वतन्त्रता के स्वर्ण जयन्ती वर्ष समारोह के अवसर पर इसे आपके हाथों सौंपते हुये मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। आशा है इस प्रकार के अनुवादों से इतिहास के छात्र व विद्वान् अवश्य लाभान्वित होंगे।

मुकेश शर्मा I.A.S.
निदेशक

हम्मीर महाकाव्य — एक पर्यालोचन

वि० सं० २००४ (ई० सन् १९४७, १५ अगस्त) की श्रावणी अमावस्या की मध्यकाल-रात्रि के व्यतीत होने पर, सारे संसार को अपना सुशीतल, समुज्ज्वल और प्रभापूर्ण प्रकाश देने वाले भारत का मुख-चन्द्र, जो पारतंत्र्य-स्वरूप दुष्ट राहुग्रह द्वारा शताब्दियों से ग्रस्त था, मुक्त हुआ। भारत के गगनांगण में स्वातंत्र्य के जन्म के सुप्रभात की सूचक उषःकालीन प्रभा के आभास की ज्योति का प्रकाश दिखाई दिया। उसी समय संसार के सर्वश्रेष्ठ प्राचीन महान् राष्ट्र का पुनर्जन्म हुआ। पुराण-प्रसिद्ध भारत की प्राचीन राजधानी दिल्ली के विश्वविख्यात लाल किले पर राष्ट्र की आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक स्वरूप त्रिशक्ति का सामर्थ्य-प्रदर्शक तिरंगा राष्ट्रध्वज प्रतिष्ठित हुआ। भारत में बसने वाले ४० करोड़ भारतीय-जनों के हृदय समुद्र आनन्द की उत्ताल कल्लोलों से उछलने लगे। उनके ४० करोड़ कण्ठों में से निकलने वाले मधुर ध्वनि के 'कल-कल नाद' से, भारत का ही नहीं, सारे विश्व का आकाश गूंज उठा, भारतीय जनता के ८० करोड़ चाक्षुष-तारकों में दिव्य ज्योति का तेज चमकने लगा, १६० करोड़ हाथ-पांवों में आनन्दकारी नृत्य के लिए नूतन रक्त की वेगवान् धमनियां धमकने लगीं, शताब्दियों से मूर्छित भारतीय जन-जीवन में पुनीत प्राणों का पुनः संचार हुआ, भारत के जन-गण-मन-अधिनायक के प्रतिनिधि ने लाल किले की बुर्ज पर खड़े होकर सारे विश्व की ओर अपनी पारदृश्वा दृष्टि फैलाकर विश्वदर्शन किया, विप्रबुद्ध भारत के समग्र-जनों ने विराट्-पुरुष के प्रतीक का 'जन-गण-मन-अधिनायक जय है! भारत भाग्य विधाता' के भव्य गान से अद्भुत स्वागत किया आकाश में से पुष्प-वृष्टि हुई, लाल किले पर खड़े होकर भारतीय विराट्-पुरुष के उस प्रतिनिधि ने अपना दिव्य राष्ट्र-संदेश प्रसारित किया, जो सारे संसार में ध्वनित हो उठा, भारत के प्रत्येक घर में उसकी ध्वनि मुखरित हो गई, प्रत्येक भारतीय व्यक्ति उसे सुनकर प्रमुदित हो गया, घर-घर में दीप जलाये गये, घंटा और झालर बजाये गये। भारत के भाग्याकाश में नूतन जीवन के सुप्रभात में प्राणोत्कर्षक अभिनव प्रकाश फैलाने वाला सहस्र किरणों से देदीप्यमान भास्वत् भास्कर भगवान् उदित हुआ।

दिल्ली भारत-राष्ट्र का वक्षस्थल है। यह वक्षस्थल जब तक किसी विदेशी और अभारतीय शत्रु द्वारा आक्रान्त नहीं हुआ तब तक सारा भारत एक प्रकार से अपने राष्ट्रीय स्वातंत्र्य की रक्षा करने में समर्थ रहा, भारतीय-संस्कृति अक्षुण्ण रही, भारतीयों के धार्मिक-जीवन पर कोई दुष्ट आक्रमण नहीं हुआ, भारतीय समाज-व्यवस्था पर क्रूर प्रहार नहीं हुआ, राष्ट्र के भिन्न-भिन्न प्रदेश अपनी समृद्धि से परिपूर्ण थे, जनजीवन सुव्यवस्थित और सुनिश्चित था, काश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक एक भव्य संस्कृति का साम्राज्य फैला हुआ था, पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र तक भावात्मक एकता व्याप्त थी, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए सारा भारतीय मानव-समाज अपने-अपने कर्त्तव्य में रत रहता था, धार्मिक या सामाजिक अत्याचार सर्वत्र निन्द्य और जघन्य समझा जाता था। सब लोगों में अहिंसा, भूतदया, दान, तप, संयम, सदाचार के भावों की प्रतिष्ठा थी और यथायोग्य उनका आचरण करने की अभिलाषा रहती थी। परिश्रमी किसान कृषिकर्म द्वारा जनता को खाद्य सामग्री उपलब्ध करता था। उद्यमी व्यापारी वाणिज्य-व्यवहार द्वारा लोगों को खाद्येतर वस्तुएँ प्राप्त कराता और देश-विदेशों में जाकर आर्थिक समृद्धि को बढाता था। राज्य-शासक-वर्ग आन्तर-बाह्य शत्रुओं से अपने प्रजाजनों की रक्षा करता था। देश की संस्कृति और संपत्ति दोनों की रक्षा का भार इस शासक-वर्ग पर रहता था और इसके लिए वे सदैव अपने प्राणों की आहुति देने को तत्पर रहते थे। इस प्रकार अपने समकालीन संसार में भारत एक बहुत ही उत्तम संस्कार-संपन्न और समृद्धि-परिपूर्ण राष्ट्र माना जाता था। भारतीय शासकों ने कभी किसी विदेशीय सत्ता और प्रजा पर आक्रमण करने की और उसकी समृद्धि लूट लाने की दुष्ट कामना नहीं की। ना ही किसी के धर्म-संस्कार नष्ट करने की कल्पना की और ना ही किसी वर्ग-विशेष पर अत्याचार कर उसके सामाजिक जीवन को ही भ्रष्ट करने का कुत्सित-कर्म किया। भारतीयों की ऐसी भद्र-जीवन-प्रणाली अनेक शताब्दियों तक शान्तिपूर्वक चलती रही थी।

समृद्धि और संस्कृति की स्थिरता के साथ बौद्धिक क्षमता भी भारतीयों की सब से श्रेष्ठ थी और भारत की ज्ञानराशि का लाभ उठाने के लिए चीन, तिब्बत, जावा, कम्बोडिया, बर्मा, ईरान, अरब आदि देशों के अनेक जिज्ञासु यहां आते थे और भारत के ज्ञान-भण्डार से अपने देश के लोगों के लिए ज्ञानार्जन किया करते थे। भारत के कई ज्ञानी पुरुष भी उन-उन देशों में जा-जा कर भारत के सत्संस्कारों का प्रचार करते रहते थे और असंस्कारी समाज को संस्काराभिमुख

बनाते थे। भारत की ऐसी संस्कार-विशिष्टता के कारण मध्य एशिया के आस-पास के अनेक जन-समूह अपना जीवन-यापन करने की दृष्टि से, समय-समय पर इस भूखण्ड में आते रहे और यथाशक्ति वे अपना स्थान भी यहां बनाते रहे तथा विशालकाय भारतीय जनसमाज के अन्यान्य अंगों में वे घुलमिल कर अपना जीवन-विकास करते रहते थे। शक, क्षत्रप, पार्थियन, हूण आदि ऐसे ही जनसमूह थे जो किसी प्रकार की विशिष्ट संस्कृति और संपत्ति से विहीन थे, वे इस देश की शस्यश्यामला और जनवत्सला भूमि में आकर बसते गए और यहां के जन-जीवन में एकरूप होते गए। उन्होंने इस भारत-भूमि को अपनी मातृभूमि मान लिया और यहां की संस्कृति को अपनी कल्याणकारी शक्ति-माता समझ कर उसके उपासक बनते गए।

विक्रम की ८वीं-९वीं शताब्दी तक भारत-राष्ट्र का ऐसा जीवन-प्रवाह चलता रहा। भारत के महान् धर्मोपदेष्टा सन्तजन, दिन-रात स्वीय धर्म-मन्दिरों में, देश के राजभवनों में, जनता के सभास्थानों में—

'सब सुखी रहो, सब स्वस्थ रहो;
सब कल्याण के भागी बनो;
कोई किसी तरह का दुःख मत पाओ।'

इस मानव-मंगल के महा-मंत्र का भव्य पाठ सुनाया करते थे।

* * *

भारत की पश्चिमी सीमा सिन्धुनद के प्रवाह से आवेष्टित थी। भारतीयों ने इसी नदी को अपनी राष्ट्र-रक्षक सीमा मान रखी थी। इसके पश्चिमी भाग में बसने वाले लोगों को भारतीय म्लेच्छ मानते थे, म्लेच्छ अर्थात् संस्कार-विहीन। इनके आचार-विचार संस्कार-सम्पन्न नहीं थे — इनकी वाणी असंस्कृत थी, इनकी समाज-व्यवस्था जंगली थी। इनमें कोई पारलौकिक अथवा आध्यात्मिक भावना नहीं थी। इसलिए सिन्धु नदी के उस पार की भूमि को भारतीय म्लेच्छ-भूमि समझते थे और वहां जाना-आना भी त्याज्य मानते थे। कभी किसी बलात्कार या अत्यन्त अनिवार्य कारण से जाना पड़ा तो स्वभूमि में आकर प्रायश्चित्त करते थे। इस कारण भारतीयों को उस भूमि पर किसी प्रकार का लगाव नहीं था। वहां के निवासियों का वे संसर्ग भी नहीं चाहते थे।

इसी सिन्धुनद के मुहाने के सामने अरब की खाड़ी के उस पार अरब देश था। अरब के लोग भारत में आकर व्यापार किया करते थे और भारत से अपने लिए जीवनोपयोगी विविध वस्तुएं ले जाया करते थे। वे उन वस्तुओं को फिर ईजिप्त, ग्रीक, रोम आदि देशों तक भेजा करते थे। इस अरब देश में, ईसा की ७वीं शताब्दी में एक अद्भुत शक्ति और व्यक्तित्व वाला पुरुष उत्पन्न हुआ, जिसके

प्रभाव और सामर्थ्य के कारण, केवल अरब के लोगों में ही नहीं, ईजिप्त, ईरान, ईराक, तुर्किस्तान आदि मध्य एशिया के लोगों में भी एक नई जागृति, नई क्रान्ति, नई आशाएं, नई आकांक्षाएं और नई विचारधारा उत्पन्न हुई। पर भारत की युग-युगीन संस्काररत मनोवृत्ति और विचारधारा से यह सर्वथा विभिन्न और विरोधी थी।

अरब देश में उत्पन्न यह विशिष्ट शक्तिशाली पुरुष मुहम्मद पैगंबर के नाम से संसार में प्रसिद्ध हुए। अरब के लोगों में उस समय जो पुराना धर्म चल रहा था उसके विरोध में पैगंबर ने अपना नया धर्म चलाया जिसको उन्होंने इसलाम नाम दिया। मुहम्मद पैगंबर ने अपने नये धर्म का बड़े जोर-शोर से प्रचार किया। इसके लिये उन्होंने काफी शक्ति-संचय किया और उसका पूरा बल-प्रयोग किया। अरब और उसके आसपास के प्रदेशों की आर्थिक और सामाजिक परिस्थिति बहुत गिरी हुई हालत में थी। मुहम्मद पैगंबर खुदाई बातों के केवल प्रचारक तथा धर्मोपदेशक ही नहीं थे, परंतु साथ में राजनैतिक आकांक्षाओं से ओतप्रोत होकर, राज्य-सत्ता के संस्थापक और समर्थक भी थे। इसलिये उनके द्वारा प्रचारित इस्लाम धर्म के पीछे धर्मशास्त्र की नैतिक बातों की अपेक्षा तलवार जैसे संहारक शस्त्रों का बल अधिक काम में लाया जाने लगा। मुहम्मद पैगंबर ने अपने विचारों का समर्थन करने वाले अत्यन्त सामान्यजनों को भी समान दर्जा देना शुरू किया और जो-जो लोग उनके अनुयायी बन कर उनकी सत्ता का समर्थन करने में अग्र भाग लेने लगे उनको उन्होंने यथायोग्य सत्ता और संपत्ति का भागीदार बनाना शुरू किया। इस आर्थिक प्रलोभन के कारण उनके अनुयायियों की संख्या बड़ी शीघ्रता से बढ़ने लगी और वे लोग बड़े उत्साह और आवेश के साथ अरब के आसपास के प्रदेशों में भी इस्लाम के झंडे के नीचे अपनी धाक जमाते हुए सत्ता को हथियाने में चारों तरफ टूट पड़े। अरब और उसके आसपास के देश, न कोई वैसे बड़े समृद्धिशाली ही थे और न कोई वे वैसी सुदृढ सांस्कृतिक संपत्ति से ही संपन्न थे। इस्लाम के नये अनुयायी जो बहुत सामान्य कोटि के जन-वर्ग में से थे वे, पैगंबर द्वारा प्रचारित धार्मिक भ्रातृभाव के सिद्धान्त के कारण, तलवार के बल से प्राप्त सत्ता और संपत्ति में यथायोग्य भागीदारी के अधिकारी बनते गये और फिर उन्होंने अपने अधिकार के विरुद्ध विचार और प्रचार करने वाले जनों का सफाया करना शुरू कर दिया। इस नये प्रकार के उत्साह और आदर्श के कारण एशिया के उस मध्य भू-भाग में अरब और ईरान के प्रदेश में थोड़े ही समय में इस्लाम की नई सत्ता जम गई और पुराने संस्कार वाले वर्ग की समाप्ति हो गई।

जैसा कि ऊपर सूचित किया है अरब और ईरान वालों का व्यापारिक संबंध बहुत प्राचीन काल से भारत के साथ चला आता था। उस प्रदेश वाले लोग भारत को एक बड़ा समृद्धिशाली और सत्ताशाली देश मानते आ रहे थे। अरब और ईरान का भारत के साथ यातायात का व्यवहार सिंधु नदी के मुहाने द्वारा होता था इसलिये वे भारत को 'सिंधु का देश' कहते थे। इसी 'सिंधु' शब्द का उच्चारण अरबी और फारसी भाषा बोलने वाले लोग 'हिन्दु' ऐसा करते थे इसलिये इस देश में बसने वाले लोगों को भी वे 'हिन्दु' कहते थे। इसी तरह 'हिन्दु' लोगों का देश होने से, वे इस सारे ही महान् देश को 'हिन्दुस्तान' के नाम से ही पहचानते थे। अरबी और फारसी भाषा में लिखे गये सब ग्रंथों में इस महान् भारत-राष्ट्र का यही नाम प्रसिद्ध रहा। अरब में उक्त रूप से जब महान् मुहम्मद पैगम्बर द्वारा स्थापित इस्लाम धर्म की सत्ता जमने लगी और उन नये सत्ताशाली बने बर्बर और दरिद्र लोगों की सम्पत्ति प्राप्त करने की भूख बढ़ने लगी तब सबसे पहले उनकी नज़र अपने सबसे निकट के और चिरपरिचित समृद्धिशाली 'हिन्दुस्तान' के अर्थात् भारत के पश्चिमी प्रान्त-स्वरूप सिन्ध-प्रदेश पर पड़ी। तत्कालीन राजकीय परिस्थिति के कारण भारत का यह प्रान्त-भाग वैसा सुरक्षित और सुदृढ़ सैनिक शक्तियुक्त नहीं था। इस परिस्थिति का लाभ उठाने की दृष्टि से ई० सन् ७१२ में अरबं के नये मुस्लिम बने एक सरदार मुहम्मद-बिन-कासिम ने सिन्ध पर आक्रमण कर दिया। उस प्रदेश के शासक निर्बल थे और नज़दीक में कोई शक्तिशाली राज्य नहीं था इसलिये उसने प्रारम्भ में ही सिन्ध के बहुत से भाग पर अपना अधिकार जमा लिया। इस्लाम के आदर्श को सामने रखते हुए उसने वहाँ के हिन्दुओं को तलवार के बल पर मुसलमान बनाना भी शुरू कर दिया और हिन्दुओं की सम्पत्ति को लूटने के उपरान्त देव-स्थानों आदि को भी नष्ट करना शुरू कर दिया। इस प्रकार सत्ता और सम्पत्ति के हथियाने के उद्देश्य के अतिरिक्त धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन को नष्ट-भ्रष्ट करने का उद्देश्य लेकर इस देश पर आक्रमण करने का यह सर्वप्रथम ऐतिहासिक प्रसंग बना।

मुहम्मद-बिन-कासिम पर्याप्त शक्ति के अभाव में सिन्ध में अधिक समय तक नहीं ठहर सका और वह अपने प्रयत्न में अधिक सफल भी नहीं हो सका, परन्तु इस्लाम के इन नये लुटेरे अनुयायियों को, किस तरह हिन्दुओं को लूटा जा सकता है और किस तरह सारे हिन्दुस्तान की सत्ता प्राप्त की जा सकती है, इसकी दिशा का आभास मिलना शुरू हो गया और वे इसके मनसूबे भी बांधने लग गये।

मुहम्मद-बिन-कासिम के बाद सिन्ध पर छुट-पुट आक्रमण होते रहे और उनका सामना वहां के छोटे-छोटे ठाकुर करते रहे पर वैसा कोई प्रबल आक्रमण नहीं हुआ जिसका धक्का भारत के बलवान् राज्यों तक पहुंचा हो।

सिन्ध की तरह कुछ अरब लुटेरों ने सौराष्ट्र और दक्षिण गुजरात के समुद्र-तटवर्ती कुछ स्थानों पर भी आक्रमण किया परन्तु वहां के शासकों द्वारा उनका कड़ा सामना किया गया जिससे वे वहां पर पैर नहीं जमा सके।

मुसलमानों द्वारा इस प्रकार धर्म और राष्ट्र दोनों के स्वत्व का नाश करने वाले आक्रमणों का जो सिलसिला शुरू किया गया वह धीरे-धीरे बढ़ता ही रहा।

परन्तु, ११वीं शताब्दी से ये आक्रमण बड़े पैमाने और बड़े संगठन के साथ होने लगे। इन आक्रमणों का आतंक भारत के अन्यान्य विशाल और समृद्ध प्रदेशों पर भी छाने लगा। धीरे-धीरे इन आक्रान्ताओं के पैर भारत की मुख्य भूमि पर जमने लगे और वे स्थिर होने लगे।

दशवीं शताब्दी तक इस्लाम की सत्ता मध्य एशिया के सभी मुल्कों में फैल गई और भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा के निकटवर्ती अफगानिस्तान, बलूचिस्तान, फारस आदि सभी देशों के लोग मुस्लिम धर्म में दीक्षित होकर, अपने पड़ौस के देशों पर लूट मचाने के लिये टूट पड़ने लगे। अब वे केवल सिन्ध ही की सीमा से भारत में नहीं घुस रहे थे परन्तु पंजाब की सीमा से भी आक्रमण करने लगे। उनका लक्ष्य अब भारत में आकर लूट-मार करके संपत्ति उठा ले जाना मात्र नहीं रहा परन्तु भारत ही में जम कर बैठ जाना और धीरे-धीरे सारे भारत को इस्लाम के झण्डे के नीचे ले आना, उनका मुख्य उद्देश्य बना।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, दिल्ली परापूर्व से भारत की मुख्य राजधानी रही है और भौगोलिक दृष्टि से भी वह भारत का वक्षस्थल है इसलिये इन मुस्लिम आक्रान्ताओं ने दिल्ली में अपना राज्यसिंहासन स्थापित करना ही निश्चित किया। अपने प्रबल पराक्रमों और प्रचण्ड सैन्यों के कारण इनका यह उद्देश्य सफल हुआ। शहाबुद्दीन गोरी ने वि० सं० १२५० (ई० स० ११९३) में दिल्ली विजय कर, वहाँ पर सर्वप्रथम इस्लामी सत्ता की प्रतिष्ठा की। दिल्ली के दुर्ग पर इस्लाम का झण्डा फहराने लगा। शेष भारत ने माना कि उसके सार्वभौम स्वातंत्र्य पर राहु की क्रूर दशा बैठ गई है और धीरे-धीरे उसका तेज क्षीण होने लगा है।

सब से पहले मुहम्मद-बिन-कासिम ने जिस दिन भारत की पुण्यभूमि सिन्ध पर आक्रमण किया उस दिन से लेकर शहाबुद्दीन गोरी द्वारा दिल्ली

पर अधिकार स्थापित कर लेने वाले ४०० वर्षों के बीच मुसलमान लुटेरों द्वारा छोटे-बड़े सैंकड़ों ही आक्रमण हुए पर इन आक्रमणों का भारतीय सामूहिक जीवन पर वैसा कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ सका। जहाँ-जहाँ ऐसे स्थानिक आक्रमण होते रहे वहाँ की जनता को जरूर आतंक और विनाश का दुःखानुभव करना पड़ा पर उस विनाश की ज्वाला को देश के अन्यान्य भागों में न फैलने देने के लिये उन-उन प्रदेशों के राजकर्त्ता इन आक्रान्ताओं का सतत सामना करते रहे और अपने सर्वस्वों की आहुतियाँ दे-देकर अपनी प्रजा और मातृभूमि की रक्षा करते रहे।

*

कहने की आवश्यकता नहीं कि ये राजकर्त्ता राजपूत लोग थे जो भारत पर मुसलमानों के आक्रमणों के राजमार्ग सिन्धु नदी के मुहाने से लेकर पंजाब के अन्तिम नगर पेशावर तक फैले हुए थे। इस सारे भूभाग पर उस समय राजपूतों की सत्ता थी इसलिये इन मुसलमानों से लोहा लेने का काम राजपूतों का था। मुसलमानों द्वारा नाश की जाने वाली भारतीय संस्कृति और सम्पत्ति की रक्षा का भार इन्हीं राजपूतों के कन्धों पर था। अपने राष्ट्र और धर्म के स्वत्व पर आक्रमण करने वाले धर्मनाशक और देश-घातक दुश्मनों का सामना कर उनकी शक्ति का नाश करने के लिये उनसे सतत संघर्ष करते रहना, इन राजपूतों का एकमात्र कर्त्तव्य बना हुआ था।

इस कर्त्तव्य का पालन करने के लिये हर एक राजपूत-राज्य सदा तैयार रहता था और वैसा प्रसंग उपस्थित होने पर वह तुरन्त संघर्ष में उतर पड़ता था। पर इन राजपूतों में यह एक जन्मजात दोष था कि वे परस्पर संघटित हो कर अपनी सामूहिक शक्ति बढ़ा कर किसी एक व्यक्ति के नेतृत्व के नीचे इन विधर्मियों के आक्रमणों का समूल नाश करने का प्रयत्न नहीं करते थे। व्यक्तिगत महत्ता और महत्त्वाकांक्षा की रक्षा के लिये राजपूत सदैव मरने को उत्सुक रहता था परन्तु सामूहिक महत्ता की रक्षा के लिये वह उदासीन रहता था। और इसीलिये राजपूत अपनी सामूहिक शक्ति संगठित करने में सदैव विफल रहे।

मुसलमानों ने जब भारत को अपना सत्ताकेन्द्र बनाने का प्रयत्न चालू किया तब इन राजपूतों के उत्तर, पश्चिम और मध्य-भारत में कई अच्छे, बड़े एवं शक्तिशाली राज्य थे। पंजाब में लाहोर, उत्तर प्रदेश में कन्नोज, पूर्व में गोड़, राजस्थान में अजमेर, गुजरात में अनहिलवाड़-पाटन, मालवे में धारा, विन्ध्य-

प्रदेश में त्रिपुरी और महाराष्ट्र में देवगिरि जैसे समृद्ध और शक्तिसम्पन्न बड़े राज्य थे और इनके आधिपत्य में अनेक बड़े राजपूत राजवंशों के छोटे-छोटे राजघराने भी बड़ी संख्या में सत्ताधीश बने हुए थे । इनके शासन के नीचे सारा भारत प्रायः स्वस्थ, सुरक्षित और समृद्धिसम्पन्न था । यद्यपि ये राज्य बारम्बार आपस के मानापमान के निमित्त परस्पर लड़ते-झगड़ते रहते थे और एक दूसरे की सत्ता को उखाड़ने-जमाने के लिये छोटे-छोटे युद्ध किया करते थे परन्तु उससे सारे राष्ट्र को कोई धक्का लगे वैसा कोई अनिष्ट परिणाम नहीं निकलता था । आठवीं शताब्दी में, उपर्युक्त उल्लेखानुसार, जब सबसे प्रथम मुसलमानी आक्रमण सिन्ध प्रदेश पर शुरू हुआ तब उस प्रदेश के सन्निकट प्रतिहार-वंशीय राजपूतों का भिन्नमाल या जालोर में शक्तिशाली राज्य था । सिन्ध का प्रदेश इन्हीं के सामंतों द्वारा प्रशासित था । सिन्ध पर लुटेरे अरबों के आक्रमण को प्रतिहारों ने कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया । बाद में प्रतिहारों की शक्ति बढ़ी और उन्होंने उत्तर-भारत-स्थित कन्नौज के समृद्धिशाली राज्य पर अपना अधिकार जमा कर उसको अपनी राजधानी बनाया ।

कन्नौज में रहते हुए प्रतिहारों को पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण के निकटवर्ती सभी प्रदेशों पर अपनी प्रभुसत्ता जमाने में ठीक-ठीक सफलता मिली । सुदूर दक्षिण के राष्ट्रकूट और चालुक्यवंशीय राज्य भी उनके संघर्ष में आये । इन्हीं के सत्ताकाल में मारवाड़ के चाहमान (चौहान), मेवाड़ के गुहिलोत (सीसोदिया), आबू और मालवा के परमार, गुजरात-सौराष्ट्र के चावडा, दिल्ली-पंजाब के तोमर और विन्ध्यप्रदेश के चेदी आदि सुप्रसिद्ध राजपूत राजवंशों का अभ्युदय होना शुरू हुआ । प्रतिहारों का प्रभुत्व क्षीण होने लगा । शक्ति और समय पा कर, दक्षिण के राष्ट्रकूटों ने प्रतिहारों से कन्नौज छीन लिया और उस को अपनी राजधानी बनाया ।

मध्यकालीन इतिहास के प्रारम्भ की शताब्दियों में राजपूत जाति का सबसे बड़ा शक्तिशाली साम्राज्य प्रतिहारों का था । इसी साम्राज्य के अवशेष रूप में राजपूत-जातीय परमार, चाहमान, चावडा, चालुक्य, गुहिलोत, तोमर, यादव, राठोड़ आदि राजवंशों का अभ्युदय हुआ और उन्होंने उपर्युक्त प्रदेशों पर अपनी अलग-अलग शासन-सत्तायें स्थापित कीं ।

भारत में जब इन नूतन राजपूत राज्यों का सामर्थ्य और प्रभाव जम रहा था तब अरब के मुसलमान-धर्म और उसके अनुयायियों का प्रभाव मध्य एशिया के मुल्कों में बड़ी शीघ्रता से बढ़ रहा था । भारत के निकटस्थ ईरान, ईराक,

अफगानिस्तान आदि देशों में जो पुराने धर्मानुयायी लोग थे उनकी सत्ता, संपत्ति और संस्कृति को नष्ट करने का प्रबल प्रयत्न किया जा रहा था और उन्हें बलात्कार से नये धर्म का अनुयायी बनाया जा रहा था। इन नये बने मुसलमानों में जो बुद्धिशाली, साहसी और हिम्मतवान् थे वे सत्ताशाली बनते गये और दिन-प्रति-दिन अपना सामर्थ्य और प्रभाव बढ़ाने में व्यस्त रहने लगे। अफगानिस्तान के लोग एक प्रकार से हिन्दू रक्त के थे और जो बौद्ध धर्म के उपासक थे, वे तलवार के बल पर मुसलमान बना दिये गये थे। वहां के भव्य बौद्ध मठों और चैत्यों तथा स्तूपों को जमींदोज़ कर दिया गया। इन्हीं नये मुस्लिमों में एक गुलाम सरदार सुबुक्तगीन गज़नी का शासक बना और उसकी नज़र भारत की संपत्ति पर पड़ी। उसने ठीक-ठीक सैनिक शक्ति संगठित कर पंजाब पर आक्रमण किया। यद्यपि वह पंजाब से बहुत आगे नहीं बढ़ सका परन्तु पंजाब में उसे बहुत संपत्ति लूटने का मौका मिल गया। वह लूट का माल लेकर वापस गजनी चला गया और वहां मर गया। उसके तख्त पर उसका बेटा महमूद बादशाह बना। उसके बाप द्वारा पंजाब से मिली संपत्ति से वह अधिक सैनिक शक्ति जुटाने में सफल हुआ और फिर बड़े पैमाने पर भारत पर आक्रमण करने की योजनाएं उसने बनानी शुरू कीं। भारत के उक्त प्रकार के नव प्रस्थापित राजपूत राजवंशीय राजाओं को उसकी शक्ति और महत्त्वाकांक्षा की विशेष जानकारी नहीं हुई। वे अपने राज्य और प्रभुत्व के अभिमान में मस्त रहा क़रते थे और समय-समय पर आपस में एक दूसरे पर चढ़ाइयां कर अपनी शक्ति का परीक्षण और प्रदर्शन किया करते थे। उनका न कोई सार्वभौम सम्राट् था और न कोई अग्रणी था। वे सब अपने आपको समान मानते थे और एक दूसरे से ईर्ष्या किया करते थे।

महमूद गजनवी ने भारतीय राजाओं को इस परिस्थिति का यथेष्ट लाभ उठाना शुरू किया। उसने सन् १०१० ईस्वी से लेकर १०२६ ई० तक में १७-१८ बार भारत के इन राजपूत राज्यों के प्रदेशों पर सतत आक्रमण किये और प्रत्येक आक्रमण में वह अपार संपत्ति लूट-लूट कर ले गया। कन्नौज के राज्य पर आक्रमण करके उसके प्रतिहार सम्राट् राज्यपाल को पराजित किया, इससे अन्य राजपूत राजाओं का साहस टूट गया। महमूद ने अपना इस्लामी कट्टरपन दिखाने के लिये, संपत्ति लूटने के साथ-साथ हिन्दुओं के धर्मस्थानों का नाश करने का भी वैसा ही ज़ोरदार प्रयत्न किया। इस दृष्टि से सौराष्ट्र में स्थित राजपूत राजाओं का सब से बड़ा पूजनीय एवं उपास्य इष्टदेव, सोमनाथ का जो अतिभव्य मंदिर था उसका विध्वंस करने के लिये महमूद ने बहुत ही दुःसाहस-

पूर्ण आक्रमण किया। इस आक्रमण में उसने मन्दिर का बड़ा विध्वंस तो किया ही पर साथ में हजारों नगरजनों का भी बड़ी क्रूरता के साथ भयङ्कर संहार किया।

प्रायः प्रति वर्ष होने वाले महमूद के आक्रमणों से पंजाब, दिल्ली, अजमेर, अणहिलपुर-पाटण और सौराष्ट्र के राजवंश हीनबल हो गये और प्रजाजन अत्यन्त त्रस्त हो गये। हिन्दू राजा और प्रजा को तब समझ में आने लगा कि इन विदेशी और विधर्मियों के भारत पर आक्रमण करने का क्या लक्ष्य है। तभी से हिन्दू जाति के मन में इन बर्बर आक्रमणों का बड़ा आतंक-जनक भय पैदा होने लगा। अपने राष्ट्र, धर्म और संस्कृति पर भयानक प्रहार करने वाली विधर्मी शक्ति की अकस्मात् और अकल्पित रीति से आगमन की अनिष्ट आशंका से समग्र हिन्दू जाति का चिरशान्त मन उद्विग्न होने लगा।

सन् १०३० ई० में महमूद गजनवी मर गया। उसके उत्तराधिकारी वैसे शक्तिशाली न रहे। उन पर अन्य मुसलमान शक्तियां आक्रमण करने लगीं इसलिए कोई १५० वर्ष तक भारत पर मुसलमानों के वैसे आक्रमण न हो पाये; अतः हिन्दू जाति के रक्षक राजपूत एक प्रकार से फिर निश्चिन्त हो गये। महमूद गजनवी के आक्रमणों को उन्होंने अकस्मात् होने वाले दैवी-प्रकोप के समान आकस्मिक आया हुआ एक प्रकार का तूफान ही समझा। तूफान के निकल जाने पर जिस तरह सब व्यवहार पूर्ववत् चलता रहता है उसी तरह कुछ समय बाद वे सब हिन्दू राजा भी महमूद गजनवी के दुष्ट कारनामों को भूल गये। यद्यपि प्रतिहार राजवंश उसके बाद उस तरह फिर नहीं उठ पाया—उनका राज्य दक्षिण के राष्ट्रकूटों ने हड़प लिया, परन्तु अजमेर के चाहमान, गुजरात के चालुक्य, मालवे के परमार आदि राजवंश अपनी शक्ति बढ़ाने में लगे रहे। इनके संरक्षण और आधिपत्य के नीचे रहने वाले अन्यान्य छोटे-छोटे राजपूत घराने भी अपने-अपने ठिकानों को जमाने में लगे रहे। सन् १०४० ई० से लेकर ११९० ई० तक का १५० वर्ष का समय इन राजपूत राज्यों के लिये एक प्रकार से शान्ति, सुख, समृद्धि और सांस्कृतिक विकास का समय रहा। इस समय में सारे देश में सैकड़ों देव-मन्दिरों का निर्माण हुआ, बड़े-बड़े सरोवर बने, अनेक नए नगर और दुर्ग स्थापित हुए, एवं सैकड़ों ही विद्वान् तथा धर्माचार्य अवतीर्ण हुए और विशाल परिमाण में साहित्य का सर्जन हुआ। प्रजाजन यथेष्ट सुख और शान्ति का अनुभव करते रहे।

पर भारत की पश्चिमोत्तर सीमा से पार वाले प्रदेशों में मुसलमान शासकों में परस्पर की सत्ता-स्पर्धा बड़ी उग्रता के साथ चल रही थी। वहां पर मार-

काट और लूट-नाश का राज्य फैला हुआ था। गज़नी में मुहम्मद के वंश का उच्छेद कर गोर कबीले के एक साहसी और शक्तिशाली शहाबुद्दीन नामक सरदार ने अपनी सत्ता जमा ली। इसने महमूद गजनवी के भारत पर किये गये आक्रमणों के पाठ खूब पढ़े और फिर इसने भी उसी तरह की तैयारी कर पंजाब पर चढ़ाई की। पंजाब में उसकी शक्ति को रोक सके वैसा कोई बलवान् राजपूत राज्य नहीं था। पंजाब का बहुत बड़ा हिस्सा दिल्ली के अधीन था इसलिए शहाबुद्दीन ने दिल्ली पर ही ज़ोरदार आक्रमण करना अच्छा समझा। इस आक्रमण का वर्णन प्रस्तुत हम्मीर महाकाव्य में किया गया है जिसके विषय में आगे उल्लेख आ रहा है।

*

उस समय दिल्ली पर अजमेर के चौहान राजा पृथ्वीराज का शासन था। यह राजा यद्यपि बड़ा वीर था परंतु युद्ध-निपुण नहीं था। वह बहुत विलासी था इसलिये राज्य की शक्ति को सुदृढ़ बनाने की ओर उसका लक्ष्य कम रहता था। सन् ११९२ में शहाबुद्दीन ने प्रथम बार दिल्ली पर आक्रमण करना चाहा तब पृथ्वीराज की सेना से तराई के मैदान में उसका मुकाबला हुआ। राजपूतों का ज़ोर उस लड़ाई में भारी रहा इससे शहाबुद्दीन हार कर भाग निकला और गजनी जाकर विशेष रूप से अपनी सैनिक तैयारी के साथ उसने फिर दूसरे वर्ष दिल्ली को आ घेरा। पृथ्वीराज अपनी कमज़ोरी के कारण तैयार न हो सका और वह उस लड़ाई में पकड़ा गया और मार डाला गया। उत्तर प्रदेश में कन्नौज का बड़ा राज्य था जिसका राजा जयचन्द राठौड़ था। वह पृथ्वीराज का कट्टर दुश्मन था इसलिये चौहानराज के नाश होने से उसको कुछ हर्ष ही हुआ; परंतु उसके दूसरे ही वर्ष शहाबुद्दीन ने उस पर भी जोर का धावा बोल दिया और जयचन्द ने लड़ाई में हार कर अपना राज्य और प्राण दोनों खो दिये।

दिल्ली राजपूत-राज्यों के गढ़ का प्रवेश-द्वार-रूप थी। जब तक इस प्रवेश-द्वार पर दुश्मनों का कब्जा न हो पाया था तब तक राजपूत राज्य उतने सशंक और भयभीत न हुए थे, परंतु दिल्ली पर मुसलमानों का कब्ज़ा हो जाने पर छोटे, बड़े सब राजपूत राज्य एक प्रकार से दिङ्मूढ और साहसहीन हो गये। शहाबुद्दीन ने इस परिस्थिति का पूरा लाभ उठाने की दृष्टि से गुजरात के समृद्ध और विशाल राज्य पर भी आक्रमण किया। तत्कालीन चालुक्य राजा भीमदेव को—जो प्रभाव और सामर्थ्य की दृष्टि से निर्बल-सा था—पराजित कर गुजरात-सौराष्ट्र के प्रदेशों पर भी उसने अपना आतंक फैलाया। गुजरात की सीमा से सटे

हुए मालवा और मेवाड़ के राज्यों में भी मुसलमानी सेनाओं के सरदारों ने लूट-मार का तूफान मचाना चालू कर दिया।

शहाबुद्दीन ने दिल्ली को अपने कब्जे कर मुसलमानी सत्ता का कायमी केन्द्र बनाया। शहाबुद्दीन इस तरह राजपूत राज्यों को बलहीन कर और उनकी अपार संपत्ति लूट कर अपनी शक्ति बढ़ाने में बहुत सफल हुआ। वह दिल्ली में अपने एक तुर्क जाति के गुलाम सेनापति कुतुबुद्दीन ऐबक को सूबे का शासक नियुक्त कर, बाद में लाहौर से गजनी की ओर रवाना हुआ तो सन् १२०७ में गक्खरों के हाथों से रास्ते में ही मारा गया।

उसके मरने पर, दिल्ली में कुतुबुद्दीन ऐबक ने शाही राज-चिह्न धारण कर अपने को दिल्ली का सुल्तान घोषित कर दिया और इस प्रकार वह दिल्ली का प्रथम मुसलमान बादशाह बना। तब से दिल्ली मुसलमानों की कायमी राजधानी बनी।

राजपूत राज्यों का दिल्ली केन्द्रभूत एवं हृदयरूप स्थल होने के कारण, इस प्रकार उसके मुसलमानी सत्ता की कायमी राजधानी बन जाने के बाद, राजपूतों के लिये बड़े घोर संकट की परिस्थिति उत्पन्न हो गई। उस दिन बाद कोई राजपूत राजा सुख की नींद से नहीं सोया। दिल्ली के मुसलमान दिन-प्रति-दिन अपनी शक्ति बढ़ाने में जुट गये और वे अपने आसपास के राजपूत राज्यों पर सतत आक्रमण करते रहे। परन्तु, दिल्ली के इन मुसलमान बादशाहों पर भी हिन्दुस्तान के बाहर के राज्य-सत्ता-लोलुप उनके स्वधर्मी भाई मुसलमानों के बारंबार आक्रमण होते रहे और एक के बाद दूसरे शासक दिल्ली का राज्य-सिंहासन हड़प लेने का प्रयत्न करते रहे।

*

मुसलमानों की जीवन-प्रणाली और हिन्दुओं की जीवन-प्रणाली में बड़ा अन्तर है। मुसलमानों के धार्मिक आदर्श और सामाजिक संगठन हिन्दुओं से भिन्न प्रकार के हैं। हिन्दू जनता धर्म, वर्ण और जाति-भेद के कारण अनेक समूहों में विभक्त है। मुसलमानों में वैसा धर्म, वर्ण या जाति की दृष्टि से कोई मौलिक भेद नहीं है। धर्म की दृष्टि से सब मुसलमान मुहम्मद पैगंबर के बतलाये हुए एक इस्लाम को मानने वाले हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जैसे उनमें कोई वर्ण-विशेष नहीं हैं। विभिन्न देशों में और विभिन्न प्रान्तों में रहने वाले मुसलमान अपने देश या प्रान्त के कारण भिन्न-भिन्न जाति के नाम से

पहचाने जाते हैं, परन्तु उनमें हिन्दुओं की जाति-प्रथा के जैसा कोई सामाजिक भेदभाव बताने वाला मौलिक सिद्धान्त नहीं है। किसी भी देश का, किसी भी जाति का कोई भी मुसलमान समानधर्मी के नाते अवसर मिलने पर समान सामाजिक दर्जा प्राप्त कर सकता है। इसलिए जो भी मुसलमान इस्लाम के झंडे के पीछे चलता था वह यथाशक्ति सत्ता और सम्पत्ति का भागीदार बन सकता था। मुसलमान शासक जब देशों पर आक्रमण कर संपत्ति लूटा करते थे उसका कुछ हिस्सा वे अपने मुस्लिम सैनिकों को भी बांट दिया करते थे इससे उनकी सैनिक शक्ति दृढ़ होती रहती थी और लूट के लालच के कारण सदैव उनके सैनिक आक्रमण के लिए सन्नद्ध रहते थे। लड़ाई के लिए उनका कोई खास लक्ष्य नहीं होता था। विधर्मियों को संपत्ति लूटना और काफ़िरों को तबाह करना, यही उनका मूल मंत्र था। विधर्मी (काफ़िर) को मुसलमान बनाने से अल्लाह खुश होता है और उसकी मेहरबानी उस पर उतरती है, यह एक पैगंबर साहब का फतवा था, इसलिए मुसलमानों की यह श्रद्धा बन गई थी कि जो कोई मुसलमान किसी विधर्मी या काफ़िर को, बलात्कार से भी, इस्लाम का अनुयायी बनाता है तो वह खुदा की बन्दगी ही करता है। इस प्रकार की धार्मिक श्रद्धा के कारण मुसलमानों को अपने विधर्मी शत्रुओं पर आक्रमण करने का दूना उत्साह रहता था। एक तो संपत्ति की प्राप्ति और दूसरी अल्लाह की मेहरबानी। संपत्ति का मतलब केवल चाँदी, सोना, जवाहरात आदि से ही नहीं है; संपत्ति के अन्दर इनके उपरांत मनुष्य, स्त्रियां, पशु, धान्य आदि भी सब चीजें आ जाती हैं। लड़ाई में अनेक प्रकार के और अनेक वर्ग के स्त्री, पुरुष, बच्चे भी पकड़े जाते थे। इनमें से जो अपने काम में आने लायक होते थे वैसे लोगों को वे अपने गुलाम, दास, दासी आदि के रूप में रख लेते थे, जो वैसे नहीं किये जाते थे उनको अन्य देशों में जाकर बेच दिया जाता था। इस प्रकार की मुस्लिमों की युद्ध-नीति के कारण उनकी संख्या और शक्ति दोनों ही इस देश में प्रतिदिन बढ़ने लगी।

राजपूतों का धार्मिक आदर्श और सामाजिक संगठन इससे बिल्कुल भिन्न था। धर्म-प्रचार की भावना से वे कभी युद्ध के लिए प्रेरित नहीं होते थे। बलात्कार से या अन्य घृणित उद्देश्य से वे किसी का धर्म-परिवर्तन नहीं करते कराते थे, ना ही किसी विधर्मी को वे अपने धर्म में मिलाना चाहते थे। धर्म के निमित्त किसी भी निरपराध मनुष्य की हत्या करना घोर पाप माना जाता था। स्त्रियों के जीवन की रक्षा करना राजपूत का परम धर्म माना जाता था।

राजपूतों का सामाजिक संगठन भी एक प्रकार के दायरे में बंधा हुआ

था। वे अपनी जाति के आचार-विचारों से दृढ़ बंधे हुए थे। मुसलमानों की तरह उनका सामाजिक जीवन वर्णसंकर के रूप में सर्वथा विश्रृंखलित और शिथिल नहीं था। वे न अपने से भिन्न किसी विधर्मी जाति के साथ मुक्त रूप से रक्त-संबंध करना चाहते थे और ना ही उनके साथ खान-पानादि में एकाकार होना चाहते थे। सत्ताधीश राजपूत की भी यही जीवन-प्रणाली थी और सामान्य राजपूत की भी यही जीवन-प्रणाली थी। आर्थिक परिस्थिति की न्यूनाधिकता के कारण राजपूत में छोटे-बड़े का भाव अवश्य रहता था, परन्तु उसके निमित्त वह अपने धार्मिक आदर्श और सामाजिक संस्कार से च्युत नहीं होता था। राजपूत के जीवन का मुख्य लक्ष्य स्वधर्म का पालन और रक्षण करना था। उसका स्वधर्म अपनी मातृ-भूमि की आततायियों से रक्षा करना, अपने देशजनों की सुख-शान्ति का विकास करना और अपने पूर्वजों के संस्कारों का पालन करना था।

मुसलमानों के साथ संघर्ष करता हुआ हर एक राजपूत अपनी इसी जीवन-प्रणाली का अनुसरण करता रहा। यद्यपि इससे राजपूत के जातीय-गौरव की तो रक्षा होती रही परन्तु उसकी प्रभुता की शक्ति क्षीण होती गई। वह भारत के राष्ट्रीय गौरव की रक्षा न कर सका। वह अपनी पैतृक भूमि की रक्षा के लिए सदैव प्राणार्पण करता रहा! इससे अधिक अखिल भारतीय महत्त्वाकांक्षा उसमें न पनप सकी और वह भारत की स्वाधीनता के नाश का साक्षी मात्र बना रहा।

*

दिल्ली के, उक्त रूप से, मुसलमानी सल्तनत की कायमी राजधानी बन जाने से पजाब और उत्तर प्रदेश के राजपूत शासक तो पराधीन हो ही चुके थे परन्तु गुजरात, मालवा, मेवाड़ के राजपूत राज्य अपनी स्वतंत्रता बनाए हुए थे और वे मुसलमानों पर यदा कदाचित् आक्रमण किया करते थे—इसलिए कुतुबुद्दीन ऐबक ने अजमेर भी पृथ्वीराज के वंशज से छीन लिया और उक्त गुजरात आदि राज्यों पर आक्रमण के लिए वहाँ अपना मजबूत किला बनाने की नींव रख दी।

सन् १२१० ई० में कुतुबुद्दीन मर गया। उसके उत्तराधिकारी तथा अन्य मुस्लिम सरदार आपस में लड़ते रहे, इससे राजस्थान के राजपूतों पर उनका कोई वैसा ज़ोरदार आक्रमण न हो सका। गुलामवंश से सन् १२९० में खिलजी वंश के ज़लालुद्दीन ने दिल्ली की गद्दी छीन ली। सन् १२९४ में उसके भतीजे अलाउद्दीन ने उसको मार डाला और वह स्वयं दिल्ली का बादशाह बन गया।

अलाउद्दीन अपने समय का एक बहुत ही साहसी, पराक्रमी, महत्त्वाकांक्षी और क्रूर प्रकृति का शासक था। उसने महमूद गज़नवी और शहाबुद्दीन गोरी दोनों मुसलमान आक्रान्ताओं के भारतीय राज्यों पर किए गए आक्रमणों का अच्छी तरह सिंहावलोकन किया और उनके आक्रमणों की ज्वालाग्नि में दग्ध होने से बच रहे राजपूत राज्यों को भस्मीभूत करने का संकल्प किया। उसकी महत्त्वाकांक्षा केवल दिल्ली का सुल्तान ही बने रहने की नहीं थी अपितु सारे भारत का वह सार्वभौम सम्राट बनना चाहता था। वह बड़ा बुद्धिशाली, चतुर और युद्ध-निपुण था। उसने देखा कि जब तक उसके आसपास के प्रदेशों में शासन करने वाले राजपूत राज्य नामशेष नहीं हो जाते तब तक सारा भारत का सार्वभौमत्व तो दूर की बात है दिल्ली की सल्तनत भी सही सलामत नहीं मानी जा सकती इसलिए उसने सबसे पहले अपने निकटस्थ प्रदेशों के राजपूत राज्यों पर आक्रमण शुरू कर दिये। भारत की समृद्धि को लूट-लूट कर खूब मालदार बने हुए मुसलमानों की बातें सुन-सुन कर मध्य एशिया के हज़ारों भूखे मुसलमान दिल्ली के सुलतानों की सेना में भरती होने को सदैव लालायित रहते थे इसलिए अलाउद्दीन की सैनिक शक्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ रही थी। इधर राजपूत राज्यों में देश की रक्षा का सारा भार मुख्य करके अकेली राजपूत जाति पर ही था। अन्य जाति के लोग सैनिक के रूप में बहुत ही कम हिस्सा लेते थे। देश की जनता के परिमाण में राजपूत जाति की जन-संख्या बहुत ही स्वल्प थी। इस कारण सैनिक शक्ति की दृष्टि से राजपूत राज्य निर्बल थे। अलाउद्दीन ने इस परिस्थिति का लाभ उठाना शुरू किया और उसने एक के बाद एक राजपूत राज्यों पर आक्रमण शुरू कर दिये। उसने अलग अलग रूप से, अलग अलग समय में, मारवाड़, मेवाड़, मालवा, गुजरात और दक्षिण के देवगिरि तक के राज्यों पर भयानक आक्रमण किये और उनको तहस-नहस करने में कोई कसर नहीं रखी। उसको पराजित करने की इन राजपूत राज्यों में शक्ति नहीं रही। अलाउद्दीन के आक्रमणों से रणथंभोर, चित्तौड़, जालोर और देवगिरि जैसे सुदृढ़ दुर्ग भी अपनी रक्षण-शक्ति खो बैठे। एक प्रकार से सारा ही भारत निस्तेज और निःसत्त्व हो गया। हिन्दुओं के जो बड़े-बड़े तीर्थ-स्थान थे उनको नष्ट भ्रष्ट कर दिया, हजारों देव-मन्दिरों को तोड़ गिराया और देवताओं की मूर्तियों के टुकड़े करवा दिए गए। हजारों स्त्री-पुरुष व बच्चे कत्ल कर दिए गए तथा बन्दी बना लिए गए। भारत की जनता ने अलाउद्दीन के शासन को प्रलयकाल जैसा अनुभव किया। सन् १३१६ में वह मर गया। आक्रमण काल में नष्ट होने वाले गुजरात, महाराष्ट्र और मालवा के समृद्ध राजपूत राज्य सदा

के लिए नष्ट हो गये । उनके स्थान पर दिल्ली ही की तरह मुसलमानी सत्ता स्थापित हो गई ।

अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद राजपूतों के अधीन वही छोटे-बड़े कुछ राज्य रह गये थे जो खास करके राजस्थान में थे । इनमें मुख्य करके मेवाड़ के गुहिलोत (सीसोदिया), मारवाड़ के राठौड़ और चौहान तथा आमेर के कछवाहे, जैसलमेर के भाटी वंश उल्लेख-योग्य रह गये । अलाउद्दीन की मृत्यु से लेकर औरंगजेब की मृत्यु पर्यन्त राजस्थान के ये ही राज्य दिल्ली की मुसलमानी सल्तनत के साथ सतत संघर्ष करते रहे और भारत की राष्ट्रीय चेतना की ज्योति को जैसे-तैसे भी जलती रखने का प्रयत्न करते रहे । इस्लामी झंझावात इस ज्योति को सर्वथा बुझा देने के निमित्त इस महान् राष्ट्र में प्रविष्ट हुआ था । उसके दारुण वेग ने इस ज्योति को बहुत ही कंपित किया और हीनप्रभ बना दिया । सारे भारत में एक प्रकार से आतंक, निराशा और असहायता का अन्धकार फैलता जा रहा था । समग्र हिन्दु जाति कलिकाल का स्मरण कर 'दैवेच्छा बलीयसी' के अकर्मण्य वाक्य को रटा करती थी । भारत की प्रायः सारी सुजला, सुफला और सस्यश्यामला भूमि विधर्मियों के विलास और वैभव की सुख-शय्या बन रही थी । बड़े-बड़े सम्राटों के सिंहासन उखड़ गये और उनकी समृद्धिशाली राजधानियां उजड़ गईं । सोना, चाँदी, हीरा, माणिक्य, मोती आदि बहुमूल्य वस्तुओं से भरपूर उनके वैभव-भंडार लुट गये और विधर्मियों के खज़ाने उनसे लदबद हो गये ।

राजस्थान की निर्जल-निष्फल मरुभूमि और आड़ावला की कंकरीली पहाड़ी जमीन में बसने वाले, सदा अन्न और जल के लिये तड़पने वाले तथा दरिद्र गांवों के टूटे-फूटे घरों में जन्म पाने वाले इन अत्यल्पसंख्यक राजपूतों के दिलों में इस ज्योति का मन्द-मन्द प्रकाश सदा जलता रहा ।

राजस्थान के राजपूत स्थान-शून्य, धन-हीन और संकटपूर्ण परिस्थिति से घिर रहे थे, तब भी उन्होंने अपने पूर्वजों की जलाई हुई ज्योति को बुझने नहीं देने का प्रयत्न सतत चालू रक्खा । राजस्थान के बचे-खुचे ये राजपूत घराने, सिन्ध, गुजरात, मालवा, दिल्ली आदि की बलवान् मुसलिम सत्ताओं से चारों तरफ से घिरे हुए थे तथापि वे मृत्यु के भय से साहसहीन न होकर अपने पूर्वजों की भूमि के उद्धार के लिये बड़ी वीरता के साथ लड़ते रहे । वे कभी हारे, कभी जीते, कभी भागे, कभी मरे—पर लड़ते सदा रहे । उन्होंने हताश होकर अपने हाथ में से तलवार कभी जमीन पर नहीं फेंकी । लड़ाई में लड़ते-लड़ते बाप मर

जाता था तो उसकी तलवार बेटा उठा लेता था, वह भी मर जाता तो रावले में बैठी वृद्धा ठकुरानी दादी-माँ ठिकाने के भावी वारसदार छोटे भंवर की कमर में तलवार बांध कर और हाथ में बरछी दे कर उसे लड़ाई में भेज देती थी। मौत से डर कर अपनी पैतृक भूमि की रक्षा करने से मुँह मोड़ने वाले राजपूत को रजपूतानी शाप देने लगती थी, माता मुंह नहीं देखना चाहती थी—स्त्री कायर पति को फटकार सुना कर स्वयं मर जाना पसन्द करती थी। लड़ाई में विजय हुई तो जय-जयकार के नक्कारे बजते थे, महलों में धवल-मंगल के गीत गाये जाते थे, घर-घर तोरण और ध्वजाएं बाँधी जाती थीं, राजकुल की और प्रजावर्ग की नारियां जगह-जगह नृत्य करती थीं, देव-मन्दिरों में घंटा-नाद बजते थे, दीन-दरिद्रों को विपुल दान दिया जाता था। वीरों को शिरोपाव प्रदान किये जाते थे उनको प्रजा के शुभाशीर्वाद प्राप्त होते थे; पर यदि युद्ध में शत्रु की विजय हुई तो राजपूत अपने सर्वस्व को अग्निदेव को समर्पण कर देते थे। राजकुल की राजपूतानियां अपने समस्त बहू-बेटी आदि आत्मीय नारी-वर्ग के साथ सोलह शृंगार सज कर, इष्ट देवताओं की पूजा आरती उतारती हुई, अपने वीरों और सुभटों को शुभाशीर्वाद देती हुई, मंगल-गान गाती हुई जौहर की ज्वालाओं में जा विराजती थी। लड़ते-लड़ते बचे-खुचे वीर राजपूत, अपना सब धन, धान्य, वस्त्र, आभूषण आदि सर्वस्व को जल-शरण या अग्नि-तर्पण द्वारा नष्ट करके युद्ध के मैदान में शत्रु के सन्मुख जा डटते। सन्मुख खड़ा शत्रु कितना बलवान् है, कितने उसके सुभट मरने-मारने के लिये सन्नद्ध हैं, इसका विचार वे राजपूत वीर योद्धा नहीं करते थे। उनके पूर्वजों के इस महामंत्र—'अपने कर्तव्य का पालन करने निमित्त यदि युद्ध में मृत्यु हो गई तो परलोक में स्वर्ग की प्राप्ति होगी और यदि जीत हुई तो इस लोक में पृथ्वी का उपभोग प्राप्त होगा' का स्मरण करते हुए वे वीर अपना आत्मोत्सर्ग कर देते थे; यह थी राजपूत की सामूहिक जीवन-प्रणाली।

मुसलमानों के साथ इस प्रकार राजपूतों ने शताब्दियों तक युद्ध किये और अपने देश और धर्म की रक्षा के निमित्त उन्होंने सैंकड़ों बार ऐसे महान् आत्म-बलिदान किये। राजपूतों के अद्भुत शौर्य-दर्शक इतिहास की ये सैंकड़ों कहानियाँ जन-मानस में शताब्दियों से अंकित हो रही हैं। सैंकड़ों कवियों, चारणों, भाटों तथा कथा-वार्ता-लेखकों ने इन कहानियों को शब्दबद्ध किया है।

पाठकों के हाथ में जो पुस्तक है वह भी इसी प्रकार के राजपूत जाति की जीवन-प्रणाली के इतिहास का एक चित्र आलेखित करती है।

*

हमने ऊपर सूचित किया है कि भारत पर मुसलमानों के आक्रमण का सर्व-

प्रथम केन्द्रस्थान, भारत का वह प्रदेश रहा है जिसके मध्य में आज का राजस्थान राज्य अवस्थित है। यह वर्तमान राजस्थान प्रदेश ही इतिहास-प्रसिद्ध राजपूत-राजवंशों का उत्पत्ति स्थान और कार्य-केन्द्र रहा। उस काल में राजपूत जाति के मुख्य चार राजवंश अग्रणी थे—१. प्रतिहार, २. परमार, ३. गुहिलोत और ४. चाहमान। प्रतिहारों के विषय में ऊपर कह आये हैं कि उनका मूल निवास-स्थान आबू पहाड़ के समीप भिन्नमाल और जालोर था। वे बाद में उत्तर के कन्नौज के सम्राट बन गये। परमार वंश की उत्पत्ति आबू में हुई। उनका वंश विस्तार बहुत हुआ और उन्होंने सारी मरुभूमि याने मारवाड़ और सिन्ध के प्रदेश पर अपनी सत्ता जमाई। बाद में, वे मालवा के विशाल रसाल प्रदेश के स्वामी बन गये—इतिहास-प्रसिद्ध उज्जयिनी को उन्होंने अपनी राजधानी बनाई। गुहिल वंश की स्थापना उदयपुर के निकट एकलिंगजी के सान्निध्य में हुई। मेवाड़ का प्राचीनतम नगर आघाट (आहाड़) उनका राज्य स्थान बना; बाद में वे भारत के एक सर्वश्रेष्ठ दुर्ग चित्तौड़ के भी स्वामी बने। चाहमान वंश के मूल पुरुष का प्रादुर्भाव राजस्थान के अमृतकूप समान पुष्कर तीर्थ में हुआ। इस वंश ने सपादलक्ष की शाकम्भरी (सांभर) नगरी को अपनी राजधानी बनाया और बाद में पुष्कर ही के समीप अजयमेरु नगर बसा कर वहाँ राज्य-सिंहासन प्रतिष्ठित किया। मरुभूमि के बहुत से भू-भाग पर उनका आधिपत्य रहा और पीछे से वे दिल्ली को अपने हस्तगत करके पुराण प्रसिद्ध भारत की प्राचीन राजधानी के सम्राट हो गये। दिल्ली और अजमेर को जब मुसलमानों ने अपने अधिकार में ले लिया तो उस वंश के अवशिष्ट वीरों ने उत्तर में रणथंभोर और दक्षिण में जालोर के दुर्ग पर अपने अवान्तर राज्य स्थापित किए।

राजस्थान की दक्षिणी-पश्चिमी सीमा से मिला हुआ गुजरात में चालुक्यों का राज्य था, जो पहले प्रतिहारों ही के साम्राज्य के अन्तर्गत था—परन्तु, पीछे से स्वतन्त्र राज्य के रूप में प्रतिष्ठित हो गया और मुसलमानों के आक्रमणों का सामना करने में उसने भी यथायोग्य भाग लिया।

दिल्ली में जब मुसलमानों की स्थायी सत्ता जम रही थी उस अर्से में राजस्थान में राठोड़ों और कछवाहों का प्रवेश हुआ। इन्होंने यथा-समय जोधपुर और आमेर में अपने राज्यासन स्थापित किये। दिल्ली के सुलतानों के आक्रमणों के प्रसंगों में इन्होंने भी अपने सम-जातीय उक्त राजवंशों के साथ-साथ म्लेछों का विध्वंस करने मे पूरा हिस्सा बटाया।

मुसलमानों की तरह हमारे देश में लम्बे-चौड़े इतिहास लिखने की परम्परा नहीं थी। हमारे पूर्वजों ने इतिहास की क्रमबद्ध घटनाओं को लेखनबद्ध करने

की उपेक्षा की। पुराण-प्रसिद्ध कल्पित कथाओं को लिखने में जहाँ लाखों श्लोक लिख डाले, वहाँ किसी भी इतिहास-कालीन महान् व्यक्ति के विषयक विश्वसनीय जीवन-कथा के उल्लेखन में १००-२०० श्लोक भी नहीं लिखे गये। इसलिए हमारा प्राचीन इतिहास घोर अन्धकार में छिपा हुआ है। ऊपर हमने राजपूत जाति के स्वधर्म-रक्षार्थ किये गये जीवनोत्सर्ग के बारे में जो शब्द-चित्र आलेखित किया है वह विशेषकर मुसलमान लेखकों ही के सत्यासत्य-संमिश्रित कथनों के आधार पर आश्रित है। हिन्दू लेखकों के वैसे प्रामाणिक आधार बहुत ही अल्प मिलते हैं।

भारत पर सर्व-प्रथम आक्रमण करने वाले मुसलमान लुटेरे मुहम्मद बिन-कासिम (ई० स० ७१२) से लेकर दिल्ली के अन्तिम मुसलमान बादशाह मुहम्मद शाह जफ़र तक के हजारों मुसलमानों के विषय में सैकड़ों छोटे-बड़े इतिहास मुसलमानों के लिखे हुए मिलते हैं, तब हमारे हिन्दू लेखक का लिखा हुआ उस जमाने का एक भी प्रामाणिक इतिहासात्मक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। हमारे हिन्दू लेखकों द्वारा किए गए जो कुछ छुट-पुट उल्लेख मिलते हैं वे अधिकतर किंवदन्ती और जन-श्रुति के स्वरूप में हैं। इनमें कोई'क ही ऐसा उल्लेख होता है जो प्रत्यक्षदर्शी प्रमाण माना जा सकता है। इस प्रकार हमारी ऐतिहासिक साधन-सामग्री बहुत ही स्वल्प परिमाण में मिलती है। इस कारण जो कुछ इस सामग्री का अंगभूत साहित्य मिलता है वह, वास्तव में, हमारे राष्ट्रजीवन के लिए बहुत ही मूल्यवान और दुर्लभ्य वस्तु मानी जानी चाहिए। यह जैसी भी हो, हमें उसकी रक्षा करनी चाहिए और उसे प्रकाश में लाना चाहिए। इसके अन्तर में छिपे हुए ऐतिह्य तथ्यों को खोजना चाहिए। मणों भर पत्थरों को तोड़-तोड़ कर उनको आग की भट्टी में डाल, उनमें छिपे हुए कुछ ग्राम सुवर्ण-कण निकालने जैसा कठिन श्रमसाध्य यह कार्य है।

जैसा कि ऊपर सूचित किया है—राजस्थान-निवासी जिन राजपूत जातियों ने शताब्दियों तक मुसलमानों के आक्रमणों का सतत सामना किया उनमें चौहान जाति भी एक प्रमुख जाति है। इनके विषय की जो कुछ इतिहासोपयोगी सामग्री मिलती है उससे ज्ञात होता है कि इस कार्य में शायद इस जाति का सबसे अधिक प्रमुख स्थान रहा है। म्लेच्छों द्वारा देश में धार्मिक संस्कार और धार्मिक स्थानों को नष्ट-भ्रष्ट होते जान कर व देख कर ही किसी ब्रह्मर्षि ने चाहमान वंश को प्रतिष्ठित किया और उसी वंश के वीर-पुरुषों ने सैकड़ों वर्षों तक धर्म-ध्वंसक म्लेच्छ असुरों का संहार-कार्य करना चालू रक्खा। दिल्ली का अन्तिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज, रणथंभोर का महाहठी वीर राय हमीर और जालोर का देवावतार

राय कान्हड़दे इसी चौहान वंश के मुकुटमणि राष्ट्रक्षक नरवीर थे। मुसलमान लेखकों को भी इनके पौरुषपूर्ण पराक्रमों का बखान करना पड़ा। कई हिन्दू लेखकों को भी इनकी पराक्रमपूर्ण गाथा गाने और लिखने के लिए पुण्य कर्तव्य ने प्रेरित किया।

पृथ्वीराज के पराक्रमी जीवन के चरित का वर्णन करने के लिए काश्मीरी कवि जयानक ने संस्कृत भाषा में महाकाव्य के ढंग के पृथ्वीराज-विजय नामक काव्य की रचना की है। यह कवि काश्मीर से पृथ्वीराज के दरबार में आया था अतः उसका समकालीन विद्वान् है। यह काव्य अभी तक कहीं से पूरा नहीं मिला है। इसकी एकमात्र खण्डित प्रतिलिपि मिली है और उसीके अनुसार एक दो जगह से छप चुका है। इसका अन्तिम भाग उपलब्ध नहीं है, इससे यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें पृथ्वीराज की जीवन-विषयक किन-किन बातों का उल्लेख हुआ है। बीच-बीच में भी इस काव्य के कई अंश खण्डित और त्रुटित हैं; परन्तु, इसके नाम से इतना तो ज्ञात होता है कि इसमें पृथ्वीराज के पराक्रमी जीवन की सूचक कुछ विजयात्मक घटनाओं का वर्णन किया गया है। पृथ्वीराज के चरित को उद्देश्य कर इस काव्य की रचना की गई है, इसलिये संस्कृत-काव्य-लेखकों की शैली के अनुसार, उसके वंश के मूल संस्थापक आदि-पुरुष चाहमान से लेकर पृथ्वीराज के पिता तक होने वाले प्रसिद्ध-प्रसिद्ध राजाओं का भी नाम-निर्देश किया गया है और उनमें से किसी-किसी के वीर-कार्य का भी उल्लेख किया गया है। पृथ्वीराज ने अपने शत्रुओं को पराजित किया, यह इस काव्य का बीजतत्त्व है, इसलिये इसमें म्लेच्छों अर्थात् मुसलमानों को भी पराजित करने के संकेत रहे हैं।

पृथ्वीराज के जीवन की मुख्य घटना, जो हिन्दू और मुसलमान दोनों लेखकों ने वर्णित की है और जिस घटना के कारण ही पृथ्वीराज भारत के इतिहास में एक विशिष्ट राजा के नाम से अंकित और उल्लेखित है वह घटना है, गोर के मुसलमान विजेता शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी की, इसी शहाबुद्दीन गोरी ने, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, भारत में स्थायी रूप से मुसलमानी सत्ता का सिंहासन स्थापित किया! इस सुलतान को पृथ्वीराज ने युद्ध में कई बार हराया और भारत की भूमि से उसे मार भगाया; परन्तु, आखिर में यह सुलतान पृथ्वीराज पर विजय प्राप्त करने में सफल हुआ और पृथ्वीराज उसके हाथ से मारा गया। मुसलमान आक्रान्ताओं में शहाबुद्दीन का स्थान सबसे बड़ा है। इसी तरह मुसलमानों के साथ लोहा लेने वाले हिन्दू वीरों में पृथ्वीराज चाहमान का स्थान सबसे बड़ा है। पर उक्त 'पृथ्वीराज-विजय' में इस महान्

ऐतिहासिक घटना का किंचित् भी उल्लेख नहीं है, अतः चाहमानों के इतिहास की दृष्टि से यह काव्य कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता, तथापि इसमें उस वंश के मूल-पुरुष चाहमान और उसकी सन्तानों में होने वाले कई वीर-पुरुषों के जो संकेत मिलते हैं उनमें मुख्यतया, उनके द्वारा म्लेच्छों अर्थात् मुसलमानों के प्रबल प्रतिरोध की ही ध्वनि व्यक्त होती है। म्लेच्छों द्वारा राजस्थान का प्राचीनतम तीर्थभूत स्थान नष्ट-भ्रष्ट किया गया, उस पवित्र पुष्कर धर्मस्थान पर म्लेच्छों ने गायों का संहार कर तथा देव-मन्दिरों को ध्वस्त कर बड़ा विप्लव मचाया, इसलिए उन असुरों, दैत्यों, चाण्डालों और म्लेच्छों का नाश करने के लिए ब्रह्मा ने चाहमान को प्रतिष्ठित किया। फिर, उसके वंश में वासुदेव-नामक पराक्रमी पुरुष हुआ। उसने पुष्कर के आसपास के प्रदेश — सपादलक्ष में शाकंभरी नगरी को अपनी राजधानी बनाया। वह भी चाहमान की तरह म्लेच्छों का संहार करने में सतत प्रवृत्त रहा। उसके वंश में वप्पराज, दुर्लभराज, विग्रहराज आदि कई वीर-पुरुष हुए जो अपने वंश के पूर्व-पुरुषों की तरह म्लेच्छ-विध्वंसन-कार्य में व्यस्त रहे। १२वीं शताब्दी में, अजयराज वीर राजा हुआ जिसने पुष्कर के निकट अजयमेरु नगर की स्थापना की और शाकंभरी के बदले उसे अपनी राजधानी बनाया। उसके पुत्र अर्णोराज ने पुष्कर की घाटी के पास गज़नी के मातंग याने म्लेच्छ या चाण्डालों को परास्त किया, मुसलमानों का संहार किया। उनके अपवित्र रक्त से वह भूमि दूषित हो गई अतः उसको चन्द्र नदी के जल से शुद्ध करने के लिये सरोवर बनाया। यही सरोवर पीछे से आनासागर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसी अर्णोराज का पौत्र पृथ्वीराज हुआ। इस प्रकार 'पृथ्वीराज-विजयकाव्य' में, चाहमानों द्वारा मुसलमानों के अनेक आक्रमणों का सामना करने तथा अपने देश और धर्म की रक्षा करने के अनेक संकेत मिलते हैं।

पृथ्वीराज के चरित्र को लक्ष्य कर, देश्य-भाषा में रचित 'पृथ्वीराज-रासो' नामक बहुत बड़ा ग्रन्थ प्रसिद्ध है ही, पर इसमें वर्णित चौहान-वंश का इतिहास बहुत ही शंकास्पद होकर विवादपूर्ण है। यह ग्रन्थ बहु-चर्चित और बहु-चर्वित है। प्रायः यह बहुजन-विश्रुत भी है, अतः इसका परिचय यहाँ प्रस्तावित नहीं है।

'पृथ्वीराज-विजय' काव्य के समान ही चौहान-वंश के वीरों का यशो-वर्णन करने वाला प्रस्तुत 'हमीर-महाकाव्य' दूसरा संस्कृत काव्य-ग्रन्थ है। पृथ्वीराज-विजय की अपेक्षा इतिहास की दृष्टि से यह काव्य बहुत महत्त्व का है। एक तो यह कि इसमें पृथ्वीराज के चरित्र की मुख्य ऐतिहासिक घटना का भी विस्तृत वर्णन मिलता है, और दूसरा, इसमें उस पृथ्वीराज के ही वंश के अन्तिम परन्तु अप्रतिम

श्रेष्ठ वीर पुरुष का यशोवर्णन है जो पृथ्वीराज से भी कई अंशों में अधिक गुण-वान् और आदर्श पुरुष था। यह वीर नर हम्मीर पृथ्वीराज से प्रायः एक शताब्दी बाद उसकी सातवीं पीढ़ी में हुआ।

पृथ्वीराज-विजय और हम्मीर-महाकाव्य की रचना का मूल उद्देश्य तो एक ही है। दोनों काव्य चौहान-वंश के प्रतापी वीरों के यश का गुण-गान करते हैं। ये चौहान वीर भारत की राष्ट्रीयता और संस्कृति की रक्षा के लिए केवल अपने बाह्य-सुखोपभोगों का ही नहीं, प्रियतम आत्मीयजनों का और स्वयं के प्राणों का भी बलिदान करने में सदा उत्सुक और तत्पर रहे। चौहान-वंश का भूतकालीन इतिहास इस विषय में बहुत अधिक प्रेरणादायक और प्रशंसनीय रहा है। इस वंश के ऐसे अनुपम शूर-वीरों की यशोगाथा को काव्य-बद्ध करने की कामना से प्रेरित हो कर वाग्देवी के उपासक कवि जयानक और कवि नयचन्द्रसूरि ने क्रमशः इन दो महाकाव्यों की विशिष्ट रचनाएं कीं। यद्यपि दोनों कवियों का काव्य-लक्ष्य समान है, तथापि दोनों के प्रेरक तत्त्व कुछ भिन्न हैं। जयानक कवि की कवित्व-शक्ति किसी ऐहिक आकांक्षा से प्रेरित है, तब नयचन्द्रसूरि की वाग्-भारती केवल पारमार्थिक भावना से अनुप्राणित है। जयानक पृथ्वीराज का राज्याश्रित एवं राज-सभा-सम्मानित कवि था। उसको पृथ्वीराज से धन और सम्मान मिला था इसलिए उसका पृथ्वीराज के गुण-गान का गुम्फन करना सापेक्ष था। पृथ्वीराज वीर था, अपने पूर्वजों की भूमि और कीर्ति का रक्षण करने में वह सन्नद्ध था, पर साथ में वह विलासमय जीवन का उत्कट अनुरागी भी था। कवियों द्वारा की जाने वाली सत्य या मिथ्या स्तुति का वह अभिलाषी था। अतः कवि जयानक द्वारा किये गये उसके गुणों का गान एक आश्रित कवि का साभि-लाष प्रशस्ति-गान पाठ है।

हम्मीर-महाकाव्य के कर्त्ता नयचन्द्रसूरि का व्यक्तित्व और कर्तृत्व भिन्न-प्रकार का है। वह निःस्पृह धर्मोपदेष्टा, बहुजन-सम्मानित, साहित्योपासक, संस्कृतिप्रिय, तपःसंयम-पूत, तेजस्वी तथा त्यागी है। उसे किसी प्रकार के धन की प्राप्ति की कोई आकांक्षा नहीं है; न वह किसी के सम्मान का भूखा है, न वह राज्याश्रित पण्डित है और न चौहान-वंशीय किसी व्यक्ति विशेष से सम्मानित या पोषित है। उस वंश के साथ उसका कोई ऐहिक संबन्ध नहीं है कि जिससे उस वंश के पूर्व-पुरुषों का गुण-गान करने में कोई ऐहिक भावना उसके लिये कारणीभूत बने। वह अपने काव्य-नायक हम्मीर से लगभग १०० वर्ष बाद उसके यश का वर्णन करने में प्रवृत्त हुआ है। उसका मुख्य कारण, उस सत्त्वशील वीर की

जन-प्रसिद्ध पराक्रमपूर्ण प्राण-विसर्जन की पावन कथा है। नयचन्द्रसूरि उसकी ऐसी लोकोत्तर कीर्तिकथा पर मुग्ध होकर, उसको अपनी भावपूर्ण वाणी द्वारा काव्य-बद्ध करता है। उसके अन्तर की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती ही उसको इस सत्कीर्तन करने में प्रेरित करती है। माता भारती का वह सत्त्वानुरागी सुपुत्र है। वाग्देवी ने उसे उत्तम कवित्व-शक्ति प्रदान की है। उस कवित्व-शक्ति का सर्वोत्तम फल प्राप्त करने के लिये उसने हम्मीर जैसे उत्तम सत्त्वशील नरवीर को अपना आदर्श नायक (मोडेल) बना कर उसके उज्ज्वल यश का गुणगान करना पसन्द किया। हम्मीर के वीर-जीवन की तरह उस का यह कवि-जीवन भी पूर्ण सफल हुआ।

इस प्रकार पृथ्वीराज-विजय के निर्माण में लौकिक आकांक्षा की सापेक्षता हेतुभूत है और हम्मीर-महाकाव्य के प्रणयन में विशुद्ध सात्त्विक एवं राष्ट्र-भक्ति-पूर्ण निराकांक्षा हेतुभूत है।

*

नयचन्द्रसूरि अपने समय के एक प्रसिद्ध जैनाचार्य थे। इनके पूर्वगुरुओं ने राजस्थान के नागौर आदि अनेक स्थानों की जनता को धार्मिक प्रवृत्ति में प्रवृत्त किया। इनके सदुपदेशों के कारण लोकोपयोगी अनेक देवस्थान निर्मित हुए। नयचन्द्रसूरि के प्रगुरु महेन्द्रसूरि थे, जिनका मुसलमान शासक भी बड़ा सम्मान करते थे। उनके उपदेश से दीन और दुखीजनों की सहायता के लिए प्रतिवर्ष एक लाख दीनार (सोना-मुहर) व्यय किये जाते थे। इन महेन्द्रसूरि के पट्टधर आचार्य जयसिंहसूरि हुए, जिनके पट्टधर प्रसन्नचन्द्रसूरि थे। नयचन्द्रसूरि के दीक्षागुरु तो प्रसन्नचन्द्रसूरि थे, परन्तु विद्या-गुरु जयसिंहसूरि ही थे। ये जयसिंहसूरि बड़े विद्वान् और वाद-विद्या में पारंगत थे, इन्होंने षड्भाषाकवि-चक्रवर्ती, ऐसे सारंग-नामक विद्वान् को वाद-विवाद में परास्त कर दिया था। ये स्वयं त्रैविद्य वादिचक्रवर्ती थे। इन्होंने, न्यायशास्त्र के सुप्रसिद्ध प्राचीन ग्रंथ भा-सर्वज्ञकृत न्यायसार पर बड़ी पाण्डित्यपूर्ण टीका लिखी। एक स्वतन्त्र नया व्याकरण-ग्रन्थ भी बनाया। कवित्व-कला का निदर्शक 'कुमारपाल-चरित' नामक बड़ा काव्य-ग्रन्थ बनाया। नयचन्द्रसूरि अपने इन त्रैविद्य-विद्यागुरु की साहित्योपासना का अध्ययन-मनन करते रहते थे और उनको सहयोग भी देते थे। उक्त कुमारपाल-चरित्र का प्रथमादर्श याने मूल-रचना की प्रथम शुद्ध प्रतिलिपि नयचन्द्रसूरि ने अपने हाथ से की थी। इस सहयोग के लिए जयसिंहसूरि ने अपने काव्य में इनकी इस प्रकार से प्रशंसा की है—

अवधानसावधानः प्रमाणनिष्णः कवित्वनिष्णातः ।
अलिखन् मुनिनयचन्द्रो गुरुभक्त्याऽस्याद्यादर्शम् ॥

अर्थात् अवधानविद्या में निपुण, प्रमाणशास्त्र में प्रवीण और कवित्वप्रणयन में निष्णात ऐसे नयचन्द्र मुनि ने, गुरु-भक्ति के कारण इस ग्रन्थ का प्रथम आदर्श (पहली प्रतिलिपि) लिखा ।

जयसिंहसूरि के इस संक्षिप्त उल्लेख से नयचन्द्रमुनि (उस समय वे सूरि नहीं बने थे) की प्रतिभा-शक्ति का परिचय मिल जाता है । नयचन्द्र उत्तम कोटि के कवि तो थे ही, जो प्रस्तुत हम्मीर-महाकाव्य के अध्ययन से सुनिश्चित है, पर वे प्रमाणशास्त्र अर्थात् न्यायशास्त्र के भी उत्तम पण्डित थे और कई प्रकार के अवधान-प्रयोग करने में भी बड़े निपुण एवं प्रतिभाशाली समझे जाते थे । इस प्रकार नयचन्द्रसूरि एक बड़े उत्कृष्ट विद्वान् और श्रेष्ठ कवि थे ।

जयसिंहसूरि ने कुमारपाल-चरित्र-काव्य की रचना वि० सं० १४२२ में पूर्ण की, अतः उसकी प्रथम प्रतिलिपि करने वाले नयचन्द्रसूरि, जो स्वयं उस समय बड़े विद्वान् बन चुके थे, अवस्था की दृष्टि से कम-से-कम २५ वर्ष के तो रहे ही होंगे । नयचन्द्रसूरि ने हम्मीर-महाकाव्य के रचे जाने के समय का कोई संकेत नहीं किया है, इससे इसकी रचना कब हुई, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, तथापि कुछ अनुमान किया जा सकता है । जैसा कि नयचन्द्रसूरि सूचित करते हैं—इस काव्य के रचने की प्रेरणा, ग्वालियर के तोमर-राजवंशीय नृप वीरम की राज-सभा के कुछ विद्वानों के कथन को सुन कर हुई थी । उस तोमरवंशीय वीरम नृप के ई० सन् १४२२ तक विद्यमान होने का प्रमाण शिलालेख से ज्ञात होता है । पर उस समय वह बहुत वृद्ध हो चुका था । अतः उसका राज्यकाल १३८२ से १४२२ सन् तक का माना जाता है । इस विचार से उसके राज्य के मध्यकाल में अर्थात सन् १४०० के आसपास, नयचन्द्र-सूरि द्वारा हम्मीर-महाकाव्य बनाया जाना अनुमानित किया जा सकता है । नयचन्द्रसूरि उस समय ५० वर्ष जितनी परिपक्व आयु के अवश्य रहें होंगे ।

वीर हम्मीर की मृत्यु सन् १३०१ में हुई थी । यदि उपर्युक्त कल्पना के अनुसार इस काव्य की रचना सन् १४०० के आसपास मान लें तो, हम्मीर की मृत्यु को उस समय लगभग १०० वर्ष पूरे होते हैं । इस दृष्टि से, आधुनिक प्रणाली के अनुसार, हम इस काव्य को उस राष्ट्रवीर को प्रथम शताब्दी की पूर्णता का सूचक एक शास्वत, सारस्वत, पुण्य-स्मारक कह सकते हैं ।

हम्मीर-महाकाव्य एक उत्तम कोटि का राष्ट्रकाव्य है । इस कोटि का और

ऐसे उदात्त-भावों का आलेखन करने वाला संस्कृत-महा-काव्य, हमारे विचार से और कोई नहीं है। यह कोई पौराणिक कल्पित कथा का चित्रण करने वाला सामान्यशृङ्गाररस-पोषक काव्य नहीं है। यह एक विशुद्ध ऐतिहासिक राष्ट्रवीर की पावनतम कथा द्वारा अत्यन्त उदात्त और प्रेरणा-परिपूर्ण भारतीय भावना को उद्दीपित करने वाला वीराङ्क महाकाव्य है। इस काव्य में उस राष्ट्र-नरवीर का यशोवर्णन है जिसने अपने राष्ट्र, धर्म, कुल और उच्च संस्कृति की रक्षा के निमित्त केवल अपने समय के ही नहीं, अपि तु संसार के इतिहास के एक बहुत बड़े शक्तिशाली, महाक्रूर, धर्म-ध्वंसक और नृशंसतम मुसलमान आक्रान्ता के दुष्टतम आक्रमण को और नोचतम आमंत्रण को बल और वचन से धुतकार दिया था। उस राष्ट्र-वीर और धर्म-शूर ने, भारतीय संस्कृति के सुवर्णमय शरीर और धर्म-परायण हृदय को अपने क्रूरातिक्रूर डंक द्वारा विषाक्त कर, राष्ट्र को प्राण-शेष करने के लिये प्रबल वेग से धंसे आने वाले काल-भुजंगम को, कठोर लत्ता-प्रहार द्वारा उछाल कर रणथंभोर के दुर्ग से अपमान के गर्त में फेंक दिया था। भारत के भाग्य-विधाता विराट् पुरुष ने, राष्ट्र के गौरव और धर्म की रक्षा के लिये अपने सर्वस्व का उल्लासपूर्वक बलिदान करके प्राणों का भी उत्सव के साथ उत्सर्ग कर देने वाले उत्कृष्ट प्रतीक के रूप में उस महावीर का निर्माण किया था। वह अपने विराट् के निर्माण को सफल करता हुआ परमधाम को चला गया। सम्राट् विराट् ने स्वर्ग में उसका जय-जयकार किया और उसके ऐसे अद्भुत उज्ज्वल यश को एक महाकाव्य द्वारा चिरस्थायी बनाने के लिये, राष्ट्र-कवि नयचन्द्रसूरि को दिव्य आदेश दिया। विराट् के पुण्य-प्रदायक पावन आदेश का श्रद्धा और भक्तिपूर्वक पालन करते हुए, कविशिरोमणि नयचन्द्रसूरि ने वीर हम्मीर के शतवार्षिक श्राद्धस्वरूप तर्पण-कार्य में अपनी यह भव्य काव्य-कुसुमाञ्जलि समर्पित की।

हम्मीर-महाकाव्य में हमारे राष्ट्र के ऐतिहासिक वीरों की राष्ट्ररक्षात्मक कीर्ति-कथा का गुण-गान है, अतः यह एक राष्ट्रीय महाकाव्य है।

यह हम्मीर-काव्य एक अच्छा बड़ा काव्य है। इसमें १४ सर्ग हैं जो संस्कृत के विविध छन्दों में गुम्फित हैं। इसकी कुल पद्यसंख्या १४७६ है। प्रत्येक सर्ग के अन्त में किसी-न-किसी तरह 'वीर' शब्द का प्रयोग किया गया है, अतः संस्कृत की काव्य-पद्धति के अनुसार यह वीरांक काव्य है।

कवि नयचन्द्र क्यों उस हम्मीर के गुणों पर मुग्ध है और क्यों इस काव्य

के करने में प्रवृत्त हुआ है, इस विषय में वह काव्य के प्रारम्भ में अपने मनोभाव बड़े स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करते हुए कहता है कि—

"पूर्व काल में, मान्धाता, सीतापति राम, और कंक (युधिष्ठिर) आदि पृथ्वी में कितने राजा नहीं हो गये, पर उन सब में अपने सत्त्वगुण के कारण यह हम्मीर एक अद्वितीय स्तवार्ह (स्तुति करने लायक) पुरुष है। इस सत्त्वैक-वृत्ति वाले पुरुष ने विधर्मी मुसलमान को अपनी पुत्री तथा अपनी शरण में आये हुए विधर्मी मनुष्यों तक को न देने के लिये राज्यलक्ष्मी, सुखविलास और अपने जीवित तक को तृणवत् समझ कर उनका त्याग कर दिया। इसलिये राजन्यजनों के मनों को पवित्र करने की इच्छा से मैं उस वीर के उन-उन गुणों को गौरव से प्रेरित होकर थोड़ा-सा चरित-वर्णन करना चाहता हूँ। कहाँ तो इस राजा के वह अतिमहान् चरित और कहां मेरी अणु-समान अल्प बुद्धि? इसलिये मेरा यह कार्य मोह के वशीभूत हो कर, एक हाथ से महासमुद्र तैरने जैसा है; तथापि गुरुजनों की कृपा से, उस पुरुष के जीवन-वृत्त का स्तवन करने में शक्तिमान् होना चाहता हूं। क्या चन्द्रमा की गोद की शरण लेकर हरिण आकाश में नहीं खेल रहा है?"

वह हम्मीर चाहमान-वंश का मुकुट-समान वीर नर था, इसलिये कवि ने प्रारम्भ में उस वंश के पूर्वपुरुषों का ऐतिहासिक वर्णन आलेखित किया है। यह वर्णन उक्त पृथ्वीराज-विजय-काव्य में वर्णित शैली का है। इसमें उसी ढंग से वंश के मूलपुरुष चाहमान की उत्पत्ति बताई गई है। उसके बाद उत्पन्न होने वाले वासुदेव, नरदेव, चन्द्रराज, सिंहराज, वप्पराज, विग्रहराज, वल्लभराज, दुर्लभराज, विशालदेव, आनलदेव और सोमेश्वरदेव तक के कोई २९-३० राजाओं के नाम गिनाये गये हैं और उनके द्वारा समय-समय पर किये गये म्लेच्छों के आक्रमणों का प्रतिरोध आदि कार्यों के संकेत-सूचक उल्लेखों का वर्णन है। पृथ्वीराज-विजय-काव्य की तरह ही इन वर्णनों में भी मुख्य करके म्लेच्छों द्वारा किये गये उपद्रवों और विप्लवों का सामना करते हुए अपने राष्ट्र और धर्म की रक्षा के निमित्त चाहमान-वंशीय वीरों ने जो बड़ा शौर्य-कर्म किया उसी का चित्रण अंकित है। इसी वर्णन में प्रसंगानुसार, चाहमानों के मूल निवासस्थान शाकंभरी, सपादलक्ष-देश और अजयमेरु-नगर आदि की स्थापना-संबन्धी बातों का भी उलेख किया गया है। पृथ्वीराज-विजय की अपेक्षा इसमें वंश के पूर्व-पुरुषों की नामावलि में कुछ न्यूनाधिकता भी है। कुछ ऐसे भी म्लेच्छ आक्रान्ताओं के नाम आदि दिये गये हैं जो पृथ्वीराज-विजय में नहीं मिलते।

उदाहरणार्थं — वप्रराज के पुत्र हरिराज ने किसी शकाधिप को जीत कर उसका मुग्धपुर छीन लिया था (१. १२; पृ. ६)। हरिराज के पुत्र सिंहराज ने हेतिम-नामक शकपति को मारा और उसके चार मस्त हाथी युद्ध में पकड़ लिए (१. १०४; पृ. ९)। चामुण्डराज ने हेजिमदीन-नामक किसी मुसलमान आक्रांता का संहार किया (२. २४; पृ. ११)। दुर्लभराज ने सहाबदीन नामक किसी शासक को पराजित किया (२. २८; पृ. ११) इत्यादि, ऐसे उल्लेख मिलते हैं जो पृथ्वीराज-विजय में नहीं हैं।

अजमेर के अन्तिम सम्राट् पृथ्वीराज का वर्णन इसमें बहुत विस्तृत है। कोई १०० पद्यों में पृथ्वीराज के चरित्र का वर्णन किया गया है। ये १०० पद्य एक प्रकार से पृथ्वीराज-विषयक स्वतंत्र खण्ड-काव्य-स्वरूप हैं। कवि नयचन्द्र के इस वर्णन में भी पृथ्वीराज के देश-रक्षा-निमित्त किये गये सहाबुद्दीन के साथ के युद्धों का चित्रण मुख्य है। पृथ्वीराज की कुछ राजनैतिक असावधानता और अनुचित आत्मविश्वास के कारण उसकी पराजय हुई और म्लेच्छों ने भारत की मुख्य भूमि का स्वत्व छीन कर, दिल्ली में अपने साम्राज्य की नींव डाली, यह इस वर्णन की आर्तस्वरात्मक अन्तर्ध्वनि है। साथ में, इस वर्णन में पृथ्वीराज के प्रजाप्रिय, शौर्यशाली और राष्ट्राभिमानी होने का सुन्दर चरित्र-चित्रण भी, संक्षेप में परन्तु बहुत प्रशस्त शब्दों में किया गया है।

पृथ्वीराज की मृत्यु के साथ, चाहमान-वंश के पराक्रमों का मूल केन्द्रस्थान (राजधानी) अजयमेरु पर म्लेच्छों का स्थायी अधिकार हो गया और उसके साथ उस वंश द्वारा अधिष्ठित भारत की मुख्य राजधानी दिल्ली भी मुसलमानों के अधिकार में चली गई। एक प्रकार से चाहमान-वंश का मूल राज्यसिंहासन नष्ट हो गया, पर इस वंश में, अभी एक और सर्वश्रेष्ठ वीर पुरुष, १०० वर्ष बाद उत्पन्न होने वाला था। कवि नयचन्द्र ने उसी के यश का वर्णन करने के लिए यह नव्य और भव्य-काव्य बनाया है, इसलिए उसने प्रारम्भ के तीन सर्गों में ही पृथ्वीराज तक के वीर-पुरुषों का वर्णन समाप्त करके चौथे सर्ग से रणथंभोर के अधिष्ठाता राजवंश का वर्णन प्रारम्भ किया है। हम्मीर इसी वंश का सर्वान्तिम परन्तु सर्वोत्तम वीर-नर है।

पृथ्वीराज की मृत्यु के बाद उसके पुत्र गोविंदराज ने रणथंभोर में अपनी नयी राज्यगद्दी स्थापित की। उसकी सातवीं पीढ़ी में महावीर हम्मीर उत्पन्न हुआ। काव्य के बाद के ११ सर्गों में इस वंश का वर्णन दिया गया है। हम्मीर का पिता जैत्रसिंह था। नयचन्द्र ने गोविंदराज से लेकर जैत्रसिंह तक के राजाओं का संक्षिप्त परिचय दे कर, चौथे सर्ग के अन्तिम भाग में हम्मीर के जन्म का

उल्लेख किया है। बाद के ४ सर्गों में (५ से ८ तक) काव्य की परम्परा का अनुसरण करते हुए वसन्तादि ऋतु-वर्णन, जल-क्रीड़ा, शृंगार-रस-पोषक सुरत आदि प्रसंगों का काव्यात्मक वर्णन किया है।

गोविंदराज से लेकर जैत्रसिंह तक के राजाओं पर दिल्ली के मुसलमानों के सतत आक्रमण होते रहे। रणथंभोर का दुर्ग सैनिक दृष्टि से बड़े महत्व के स्थान पर स्थित था। दिल्ली के नज़दीक वही सब से दुर्गम दुर्ग था। चाहमान जैसे मुसलमानों के सब से प्रबल वैरिवंश की अवशिष्ट सन्तानों ने उस पर अपना अधिकार कर रक्खा था इसलिए दिल्ली के मुसलमान शासकों को अपने सिर पर लटकती हुई तलवार जैसी वह सत्ता खतरनाक लगा करती थी। अतः दिल्ली के मुसलमान शासकों ने उस सत्ता को नष्ट करने का सतत प्रयत्न चालू रक्खा। बारंबार वे रणथंभोर पर आक्रमण करते रहे; चाहमान भी उनका सामना अपने पूर्वजों के समान वैसा ही करते रहे। वे कभी हारते, कभी जीतते— पर संघर्ष सदा चालू रखते। वे अपनी तलवार को सिरहाने रख कर कभी सुख की नींद नहीं सोते थे। नयचन्द्र कवि ने इस संघर्ष-काल का यथोचित उल्लेख किया है।

हमारा उद्देश्य यहां पर उन सब ऐतिहासिक प्रसंगों का वर्णन देना नहीं है, केवल कव्यगत वस्तु का निर्देशात्मक संकेत-मात्र सूचन करना है।

काव्य के आठवें सर्ग में हम्मीर के राज्याभिषेक का वर्णन है। वि० सं० १३३९ की पोष शुक्ला पूर्णिमा के शुभ मुहूर्त में हम्मीर राज्यसिंहासन पर अधिष्ठित होता है। बाद में, उसके पिताका स्वर्गवास हो जाता है। फिर हम्मीर शक्ति और सत्ता प्राप्त करने की दृष्टि से अपने सीमावर्ती समीप के देशों पर दिग्विजय करने निकलता है। इसी नौवें सर्ग में दिल्ली के सुलतान का भी वर्णन आता है। वह रणथंभोर के हम्मीर-वीर के शौर्य से क्षुब्ध हो कर उस पर आक्रमण करने की कुटिल नीति का प्रयोग चालू करता है। बाद के १०-११-१२-१३, इन ४ सर्गों में अलाउद्दीन के साथ होने वाले संघर्षों का वर्णन है। इन्हीं संघर्षों में हम्मीर द्वारा प्रदर्शित की गई शूर-वीरता का, शरणागतवत्सलता का और कुल-मर्यादा की रक्षा का विशद वर्णन है। अन्तिम सर्ग में रणथंभोर के पतन और हम्मीर के प्राणोत्सर्ग का वर्णन है। कवि नयचन्द्र द्वारा आलेखित यह वर्णन भारतीय साहित्य की एक अद्भुत वीर गाथा है। ऐसा भव्य, उदात्त और प्रशस्त वर्णन संस्कृत भाषा के किसी भी काव्य में हमारे देखने में नहीं आया।

अलाउद्दीन भारत के तत्कालीन इतिहास में एक प्रलयकाल का सर्जक था। भारतीय संस्कृति और समृद्धि का सामूहिक सर्वनाश करने का उसका जीवन-लक्ष्य था। भारत के तत्कालीन सब राज्यों के दुर्गों और नगरों को उद्ध्वस्त कर, उनके स्वामी और प्रजाजनों पर अत्यन्त अमानुषी अत्याचार कर, भारत की राष्ट्रीयता का समूल नाश करने के लिये उसने सर्वत्र दारुण दावानल सुलगा दिया था। इस दावानल में एक के बाद एक भारत के जनजीवन रूप नन्दन वन भस्म हो रहे थे। उन्हीं नन्दन वनों में रणथंभोर भी एक विशिष्ट स्थान रखता था। अतः उसको भी अपनी लपेट में लेने के लिये अलाउद्दीन की क्रूर-दृष्टि की दाहक ज्वाला का उस पर फैलना स्वाभाविक था। हम्मीर-महाकाव्य में इस ज्वाला का भयंकर स्वरूप यथेष्ट चित्रित है। राष्ट्र-व्याप्त इस प्रचण्ड ज्वाला को बुझाने के लिये हम्मीर के पास वैसी असाधारण शक्ति नहीं थी। वह एक छोटे-से राज्य का स्वामी था, उसकी धन एवं जनात्मक शक्ति बहुत मर्यादित थी, अतः इस ज्वाला में उसके राज्य और सामर्थ्य का भस्मीभूत होना अनिवार्य था। वह केवल तभी बच सकता था जब वह अलाउद्दीन के आदेशानुसार उसका दासत्व स्वीकार कर लेता और उस दुष्ट की दुरभिलाषा के अधीन पूर्ण रूप से हो जाता। हम्मीर साहस, शौर्य और सत्त्व का वज्रपिण्ड था। वह अलाउद्दीन के क्रूर कोपाग्नि के ताप से पिघलने वाला कच्चे लोहे का पुतला नहीं था। उसने उसके अधम मनोरथ और प्रस्ताव को अपने कठोर वाग्बाणों द्वारा छिन्न-भिन्न कर दिया और उस दुष्ट दैत्य को तीव्र तिरस्कार के साथ ललकारता हुआ, तीक्ष्ण तलवार हाथ में लेकर उस पर टूट पड़ा। मैं अकेला हूं, असहाय हूं, दुर्बल हूं या अपरिच्छद हूँ, ऐसा कातर विचार उस नरसिंह को स्वप्न में भी नहीं आया था। मृत्यु का उसको किंचित् भी भय नहीं था, धर्म की रक्षा के लिये युद्ध में मृत्यु प्राप्त करना, यह तो क्षत्रिय-पुत्र के राजपूत सन्तान के जीवित का एक मात्र चरम लक्ष्य होता था, इसलिये वह तो ऐसे मंगलमय मृत्यु के आने के प्रसंग की उत्कंठा-पूर्वक अभिलाषा कर रहा था। अलाउद्दीन के साथ युद्ध करके उसने अपनी यह अभिलाषा पूर्ण कर ली। वि. सं. १३५८ के श्रावण मास के शुक्ल पक्ष की छठ के दिन, रणथंभोर की पवित्र रणस्थली में वह अद्भुत वीर मृत्यु प्राप्त कर भारत के गौरवपूर्ण इतिहास में शाश्वत स्थान का उत्कृष्ट अधिकारी बन गया।

नयचन्द्रसूरि-रचित हम्मीर-महाकाव्य का यही अन्तरंग आत्मतत्त्व है तथा इसका शब्दमय शरीर-सौन्दर्य भी वैसा ही भव्य है। यह सुवर्ण समलंकृत और सुघटित महाकाव्य है। इसकी काव्यगत विशिष्टता के परिचायक कुछ प्रसंगों

का उल्लेख डॉ. श्री दशरथजी शर्मा ने अपने 'हम्मीर महाकाव्य में ऐतिह्य सामग्री' वाले लेख में किया है।

नयचन्द्राचार्य की काव्यशैली बहुत ही प्रासादिक और ओज:पूर्ण है। इसमें शब्दाडम्बर का सर्वथा अभाव है। क्लिष्ट-कल्पनाएं और अस्वाभाविक उक्तियां इसमें कहीं नहीं हैं। काव्य में मुख्य रस वीर है, शृङ्गारादि अन्य रस उसके अङ्गभूत रस हैं। काव्य का नायक हम्मीरदेव धीरोदात्त गुणवाला और बड़ा सत्त्वशील पुरुष है। उसका प्रतिनायक अलाउद्दीन धर्म-ध्वंसक, निकृष्ट और पापिष्ठ है। वह प्रतिनायक बहुत बड़े साम्राज्य का स्वामी है। उसकी प्रभुसत्ता और सैन्यशक्ति बहुत विशाल है। उसका जीवन-लक्ष्य केवल किसी तरह अपनी साम्राज्य-तृष्णा को सन्तुष्ट करना है, अपनो ऐहिक-भोग-विलासात्मक लालसा को तृप्त करना है। उसमें न मनुष्यता है, न मानवता के प्रति कोई सद्भाव है। उसको न अपने पूर्वजों का ख़याल है, न अपने कुल या वंश की मर्यादा का कोई विचार है। वह न अपने वचन के पालन को कर्तव्य समझता है, न किसी अन्य के वचन का मूल्य समझता है। वह केवल अपने दुष्ट स्वभाव के लक्ष्य को पूर्ण करना चाहता है।

हम्मीरदेव एक बहुत ही आदर्शवादी और सत्त्वशील पुरुष है। वह धर्मात्मा है, पुण्यमूर्ति है, कुटुंब-वत्सल है, प्रजाप्रिय है, अपने पूर्वजों के गुणों का पूजक है, अपनी कुल मर्यादा का रक्षक है, अपने धर्म और राष्ट्र के प्रति कर्तव्य का उसे पूर्ण ज्ञान है, स्वामी और सेवक के संबन्धों का उसे यथार्थ भान है, अपने वचन के पालन में वह पूरा सावधान है, किसी के प्रति अन्याय न हो इसका अच्छी तरह ख़याल रखता है और शरणागत विधर्मी-जनों के साथ भी वह आत्मीयभाव का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है।

कवि नयचन्द्रसूरि ने हम्मीर के ऐसे अनेकानेक उदात्त गुणों से आकृष्ट होकर ही अपनी कवि प्रतिभा को सफल करने की पुण्य आकांक्षा से प्रेरित होकर इस महाकाव्य की रचना की। कवि ने अपने काव्य-नायक के उक्त सभी गुणों का प्रसंगोपात्त वर्णन बहुत ही उत्तम रूप से किया है। इस वर्णन में न कहीं कवि-सुलभ मिथ्या स्तुति है, न अमानवीय भावों का ही कल्पित-चित्रण है, यथाशक्य और यथाज्ञात ऐतिह्य तथ्यों का वर्णन देना ही कवि का मुख्य लक्ष्य रहा है।

प्रसंगानुसार कवि ने जगह-जगह सरस सदुक्तियों का तथा धर्म और नीतिपरक अनेक उद्बोधक सद्वचनों का भी सन्निवेश किया है। जो पाठक सज्जन

संस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञान रखते हैं उनको तो मूलकाव्य का पाठ करने से ही इसका पूरा रसास्वाद प्राप्त हो सकता है परन्तु, जो ठीक तरह संस्कृत नहीं जानते उनके परिज्ञान के लिये काव्यगत कुछ भावों का और वर्णनों का सार, उदाहरण के तौर पर, यहां दिया जाता है। इससे पाठकों को कवि नयचन्द्राचार्य की वर्णन शैली का कुछ आभास हो जायगा। यह सार काव्य के अन्तिम सर्ग से दिया जा रहा है, जिसमें हम्मीर और अलाउद्दीन के बीच हुए संघर्ष का अंतिम परिणाम वर्णित है।

संवत् १३५८ के ग्रीष्म काल में अलाउद्दीन ने बड़ी सजधज और तैयारी के साथ हम्मीरदेव से आख़िरी युद्ध करने के लिये रणथम्भोर दुर्ग पर चढ़ाई की। कई दिनों की युद्ध की तैयारी के बाद दोनों दलों की प्रत्यक्ष मुठभेड़ हुई और दो दिन तक यह घमासान युद्ध चला, जिसमें दोनों पक्षों के हज़ारों सैनिकों ने अपने प्राण विसर्जित किये। कवि नयचन्द्र ने काव्य के बारहवें सर्ग में इस दो दिन के युद्ध का विस्तार से वर्णन किया है। यह वर्णन एक प्रत्यक्ष-द्रष्टा के वर्णन के समान बहुत ही स्वाभाविक और ओजःपूर्ण कवित्व से अलंकृत है। इसके बाद के तेरहवें सर्ग में काव्य के अन्तिम प्रसंगों का वर्णन है, जो बड़ा ही मार्मिक, रोमांचक, हृदय-क्षोभक और अश्रुमोचक है।

उक्त दो दिन के घमासान युद्ध के बाद दोनों पक्ष कुछ विश्रान्ति लेना चाहते हैं। अलाउद्दीन अपने सैन्य के साथ रणथंभोर दुर्ग के किले के ठीक नीचे डेरा डाले पड़ा है। चाहमान हम्मीरदेव अपने सामन्तों, सैनिकों और नगरजनों के साथ किले में रह रहा है और भविष्य के युद्ध की तैयारी कर रहा है। इसी बीच एक दिन, चतुर्थ प्रहर के समय, राजा हम्मीर ने अपनी छोटी-सी राजसभा बुलाई। सभा की बैठक किले के उस स्थान पर लगी जहां से, किले के ठीक नीचे पड़े हुए अलाउद्दीन के दरबारियों की हलचल नज़र आ सके, नीचे वालों को भी उस स्थान पर क्या हो रहा है इसका कुछ आभास हो सके।

हम्मीरदेव अपनी राज-सभा में बैठे हैं। आसपास सामन्त आदि बैठे हैं। एक तरफ राजा के छोटे भाई वीरम तथा सेनापति रतिपाल आदि बैठे हैं, दूसरी तरफ अलाउद्दीन का बागी मुग़ल सरदार महिमासाहि, जो वर्षों से हम्मीरदेव की शरण में आकर रह रहा है, अपने तीनों भाइयों के साथ बैठा है। सभा के मनोरंजन के लिए राज्य की मुख्य नर्तकी धारादेवी के नाच का आयोजन किया गया है। वीणा, बांसुरी, सितार, मृदङ्ग आदि वाद्यों के बजाने वाले कुशल कलाकारों के संगीत के साथ धारादेवी अपनी अद्‌भुत नृत्य-कला से सभा का मन रंजित कर रही है। वह अपना यह नृत्य ऐसे स्फटिक के

शिलापट्टों पर खड़ी होकर कर रही है, जिसको अलाउद्दीन के दरबारी भी दूर से ठीक तरह से देख सकते हैं। अलाउद्दीन भी अपने खेमे में बैठा हुआ इस दृश्य को देख रहा है। ऐसे प्रसङ्ग में उस नर्तकी ने, जब अलाउद्दीन की नज़र उस पर पड़ रही थी, अपनी पीठ के नीचे का भाग उसको तरफ दिखा कर बड़ा व्यंग्यात्मक अभिनय किया, जिसे देख कर वह बादशाह बहुत ही शर्मिन्दा और खिन्न हुआ। बादशाह ने अपने दरबारियों से तत्काल पूछा कि कोई ऐसा बाण चलाने वाला आदमी है जो यहाँ से बाण फेंक कर इस नर्तकी को छेद दे ? बादशाह का भाई, जो उसके पास बैठा था, बोला—उड्डानसिंह नाम का एक सैनिक है जो कैद में पड़ा है वह यह काम कर सकता है, और किसी की ताकत नहीं है। बादशाह ने तुरन्त उस कैदी को अपने सामने बुलवाया और उसकी बेड़ियाँ काट कर उसे स्नेह से आवर्जित किया और अपने धनुष-बाण के प्रहार से उस नर्तकी को मार गिराने का आदेश दिया। उसने अपनी असाधारण धनुर्विद्या का चमत्कार बताते हुए ऐसा बाण मारा कि जिससे वह नर्तकी, शिकारी के बाण से हरिणी जैसे बिंध जाती है वैसे बिंध कर, जमीन पर पड़ी। इससे राजा हम्मीर की सभा में विस्मय के साथ बड़ा क्षोभ फैल गया।

शरणागत महिमासाहि मुगल सरदार उस सभा में राजा के पास ही बैठा था, उसे भी यह काण्ड देख कर बड़ा क्षोभ और क्रोध उत्पन्न हुआ। वह बड़ा धनुर्धारी और बाणवेधी था। उसने अपना धनुष-बाण हाथ में लेकर राजा से कहा कि 'यदि आप मुझे आज्ञा दें तो मैं इसी क्षण अपने बाण से उस दुष्ट अलाउद्दीन को मौत के घाट उतार सकता हूँ।' राजा ने कहा—'बादशाह को मार देने के बाद मैं फिर किसके साथ युद्ध करूंगा ? तुम तो उस उड्डानसिंह को ही मार कर खत्म करो।' बादशाह को न मारने का राजा का आदेश पाकर महिमासाहि मन में बड़ा खिन्न हुआ और उसने उड्डानसिंह पर बाण चला कर उसको मार गिराया। बादशाह इस घटना को देख कर खूब भयभीत हुआ और उसने तत्काल अपना खेमा वहाँ से हटा कर तालाब की दूसरी ओर पीछे के भाग में लगवाया।

कुछ समय बाद, बादशाह के भाई ने किले की दीवार को उड़ा देने के ख़याल से किले की खाई में सुरङ्ग लगवाने का आयोजन किया। खाई को पत्थर, मिट्टी, लकड़ियाँ और घास के पूलों से पाट दिया गया और उसके ऊपर से जाकर मुसलमान सैनिकों ने सुरङ्ग खोदना प्रारम्भ कर दिया। राजा ने यह जान कर किले में से अपने सैनिकों द्वारा आग के गोले और जलते हुए लाख के रस द्वारा उसमें आग लगवा दी। खौलते हुए पानी में जैसे मछलियाँ भुन जाती हैं

उसी तरह वे सुरङ्ग लगाने वाले बादशाह के सैनिक उस आग में भुन गये। बच्चों द्वारा पत्थर और लकड़ी से पीटा गया कुत्ता जैसे चिल्लाता हुआ भागता है वैसे ही वे सुरङ्गों में घुसे हुए सैनिक चिल्लाते हुए चारों तरफ भागने लगे। उस अग्नि की ज्वाला से अनेक सुभट झुलस कर उसी खाई में गिर गए; उन्होंने अपने मृतक शरीरों से मानों उस खाई को पुनः पाट दिया।

इस तरह अलाउद्दीन ने उस किले को जीतने के लिए जितने भी प्रयत्न किये उन सब को राजा हम्मीर ने विफल कर दिए। ऐसी परिस्थिति को देख कर बादशाह दिन-प्रतिदिन अवसाद करने लगा। सर्प जैसे छछुंदर को न निगल सकता है और न छोड़ सकता है उसी तरह बादशाह न किले को ले सकता है और न उसे छोड़ कर जा सकता है। वह दिन और रात योगी की तरह अपने सब सुखों को छोड़ कर एक नज़र जमीन पर और एक नज़र किले पर डालता हुआ सोचता रहता है। ऐसे समय में किले को ग्रहण न कर सकने के दुःख के कारण अतिप्रतप्त उसके मन को मानो ठंडा करने के निमित्त ही आकाश में बादलों की घटाएं दिखाईं दीं, अर्थात वर्षा ऋतु आ गई।

कवि ने यहां पर १५-१६ पद्यों में वर्षा-ऋतु का बहुत ही स्वाभाविक और मनोरंजक वर्णन किया है। बाद में, वह कहता है कि वर्षा-ऋतु के कारण आकाश में जैसे-जैसे जोरों से बादल गर्जने लगे वैसे-वैसे क्षत्रियों द्वारा मारे गये मुसलमान सैनिकों की स्त्रियाँ भी जोर-जोर से आक्रन्द करने लगीं। सारी जमीन कीचड़ से लदबद हो गई और ऊपर आकाश से मूसलाधार वर्षा होने लगी, तब बादशाह के सैनिक बहुत खिन्न होने लगे और नौकरी छोड़-छोड़ कर जाने लगे। घोड़े मैदान को छोड़ कर भागने लगे, हाथी भूख से तड़पने लगे, रथ जमीन में धंसने लगे और मच्छरों के काटने से मनुष्य बड़े परेशान होने लगे। इस प्रकार अकाल ही में काल की तरह वर्षाऋतु का आगमन देखकर बादशाह बड़ी चिन्ता में पड़ा और उसने किसी तरह इस संकट से पार होने का उपाय सोचा।

सन्धि करने की बात के बहाने उसने राजा के सेनापति रतिपाल को बुलाने के लिये अपना दूत भेजा। हम्मीर ने यह सोच कर कि बादशाह क्या कहता है, रतिपाल को उसके पास जाने की आज्ञा दे दी।

यह जान कर रणमल (जो राजा का प्रधान था) रुष्ट हो गया। उसने सोचा कि रतिपाल के बादशाह के पास जाने पर यदि सन्धि की कोई बात निश्चित हुई और उसके अनुसार बादशाह यहाँ से हट जाता है तो मेरे प्रधा-

नत्त्व का क्या महत्त्व रहेगा ? उधर रतिपाल जब बादशाह के पास पहुँचा तो उस कपटी ने उसका बड़ा भारी स्वागत किया। वह रतिपाल को आते देख कर खड़ा हो गया और फिर उसको अपने बराबर के आसन पर बिठाया। बादशाह ने अपना कूटभाव दिखाते हुए उसको अच्छी-अच्छी भेटें देकर उसका सम्मान किया। जो कूटजीवी होते हैं वे कूट व्यवहार में कहीं चूकते हैं क्या ?

बादशाह ने अपने भाई को छोड़ कर अन्य सभी दरबारियों को वहां से हटा दिया और फिर रतिपाल के सामने अपना पल्ला फैला कर बोला—"मैं अलाउद्दीन हूं, मैंने उन अनेक किलों को जीत लिया है जो जीते जाने में बड़े कठिन माने जाते हैं। अब यदि मैं इस किले को जीते बिना जाता हूं तो जलती हुई आग में रोपी जाने वाली वल्ली (लता) के समान मेरी कीर्ति कितने दिन टिक सकती है ? इस किले को अधीन करना इन्द्र के लिये भी कठिन है, परंतु मेरे सद्-भाग्य से तुम मुझे मिल गये हो इसलिये मेरी इच्छा अब अवश्य सफल हो जायगी। तुम शीघ्र ही ऐसा प्रयत्न करो जिससे युद्ध में मेरी जीत हो जाय। मैं तो केवल जीतने की इच्छा रखता हूं। यह राज्य तुम्हारा हो ऐसा मैं चाहता हूं।" अलाउद्दीन के इस प्रकार के प्रलोभनात्मक वचनों से रतिपाल के मनरूपी किले को लोभ रूपी कलि ने घेर लिया। वह अलाउद्दीन को रणथंभोर का किला दिलाने में सम्मत हो गया। बाद में बादशाह उसको अपने ज़नानखाने में ले गया और उसे खूब मिष्टान्नादि खिलाये। अपनी बहन के हाथ से उसे अच्छी मदिरा भी पिलाई। उस दुर्मत्ति रतिपाल ने बादशाह का सब कथन स्वीकार कर लिया और वह राजा के पास जाकर उसके सामने वैसी बातें कहने लगा जिससे राजा का क्रोध भड़क उठे। वह बोला—"महाराज, अहंकार और घमंड में मस्त हुआ बादशाह तो यह कह रहा है कि हम्मीर कैसा मूर्ख है, जो मुझे अपनी लड़की नहीं देना चाहता ! यदि वह मुझे अपनी लड़की नहीं देता है तो, मैं अलाउद्दीन नहीं जो उसकी सब स्त्रियों को छीन न लूं। ऐसा करने में मेरे सैकड़ों ही आदमी मारे जायेंगे तो मुझे उसकी कुछ परवाह नहीं है। कानखजूरे के दो-चार पांव टूट जाने से वह लंगड़ा तो नहीं हो जाता है। इस लड़ाई में मेरा कितना ही खज़ाना क्यों न खाली हो जाय, मेरी उससे क्या हानि हो सकती है ? समुद्र में से बादल कितना ही पानी ले लें तो उससे समुद्र थोड़े ही सूखने वाला है ? इसलिये तूं यहां से जा और जो कुछ करना चाहता है वह जल्दी कर।" रतिपाल ने आकर राजा से कहा कि, 'उसके इस प्रकार के अपमानजनक वचन सुन कर मैंने भी उसे ऐसे ही वचन सुनाये

और मैं यहां चला आया। मालूम देता है, रणमल भो किसी कारण से कुछ रुष्ट हुआ है। वह मानता है कि मैंने कुछ साजिश की है—इसलिये आज सायं-काल को आप ५-७ मनुष्यों को साथ लेकर उसके मकान पर जायें और उसे प्रसन्न कर लें। हमारे सामने यह बादशाह क्या चीज़ है ?'

रणमल को राजी करने के लिए राजा को इस प्रकार प्रेरित कर रतिपाल वीरम के पास होता हुआ वहाँ से चला गया। उस समय उसके मुख से दारू की उग्र दुर्गन्ध निकल रही थी जिसे जान कर वीरम को शंका हुई कि जरूर यह शत्रु के साथ कुछ सांठगांठ करके आया है। फिर, वीरम ने एकान्त में जाकर राजा को कहा कि 'महाराज, इस रतिपाल के मुंह से दारू पीने की ऐसी गन्ध आ रही थी कि जिससे मालूम होता है कि यह शत्रु से किसो प्रकार की साजिश वाली बातचीत करके आया है। मद्य पीने वाला क्या क्या दुष्कृत्य नहीं करता ? इसलिए इसको अभी तलवार से खत्म कर देना चाहिये। बादशाह हताश हो रहा है अतः वह अभी यहाँ से चला जायगा।'

वीरम के ये वचन सुन कर राजा क्षण भर मौन रहा और फिर सोच-विचार कर अमृत की तरह मीठे वचन बोला—"भाई, सूर्य यदि पूर्व से पश्चिम में भी उगने लगे तो भी हम अब इस किले की रक्षा नहीं कर सकेंगे, ऐसा मुझे लग रहा है। वैसी हालत में यदि हम इस रातिपाल को मार डालते हैं और फिर बाद में किला दुश्मन के हाथ में चला जाता है तो लोग कहेंगे कि हमारे राजा का सारा परिवार ही दुर्बुद्धि वाला है जिसने रतिपाल को मरवा डाला। इसके जोते रहने पर भी जब तक हम किले में बैठे हैं तब तक क्या म्लेच्छ यहां विलास कर सकते हैं ? सिंह के जीते जी उसकी गुफा में कोई क्रीडा कर सकता है क्या ? इसलिये यह विचार छोड़ दो। जो भावी होगा सो होकर रहेगा। रावण जैसे अत्युग्र प्रताप वाले भी भावो को नहीं टाल सके।"

राजा के इस प्रकार के विचारों के साथ ही, नगर में सब जगह यह बात फैल गई कि बादशाह तो केवल राजा से लड़की मांग रहा है, और कुछ नहीं चाहता। रानी ने जब यह बात सुनी तो उसने अपनी पुत्री को सिखा कर राजा के पास भेजा। कुमारी देवलदेवी ने जा कर राजा से कहा—"पिताजी आप क्यों मेरे लिये अपने राज्य का विनाश करा रहे हैं ? क्या कोई बुद्धिमान् कील के लिये अपने महल को गिरवाता है ? रात्रि के अन्धकार में उत्पन्न होने वाली बहुत-सी तारिकाएं भी क्या पूर्व दिशा का मुख प्रकाशित कर सकती हैं ? क्षुद्र की लक्ष्मी की तरह दूसरे ही के लिये पुत्री की वृद्धि होती रहती है।

इसलिए मेरा दान कर यदि साम्राज्य की रक्षा की जा सकती हैं तो वह वैसा ही उचित होगा, जैसे काच का टुकड़ा देकर चिन्तामणि रत्न को बचाया जाता है। मर जाने की अपेक्षा जहां कहीं भी जीती रहने वाली पुत्री अच्छी ही है क्योंकि जीते रहने वाले कभी-न-कभी फिर मिल सकते हैं—मर जाने वाले कभी नहीं। नीति विलक्षण मनुष्य को अपने हिताहित का विचार करके कार्य करना चाहिए। इसलिए पिताजी ! यदि आप मुझे बादशाह को दे देते हैं तो आपके लिए कैसी-कैसी अच्छी बातें हो सकती हैं। एक तो वैसा बड़ा सम्राट् आपका दामाद होगा और दूसरा आप अपने राज्य की रक्षा कर सकेंगे। कुल की रक्षा के लिए एक का त्याग करना इत्यादि नीतिवाक्य भी प्रसिद्ध ही हैं। अपनी अर्जित भूमि की रक्षा के लिए मुझे देने में आपको क्या हानि होती है ? इसलिए आप बुद्धि से विचार करें, समयोचित कार्य करें, मेरे वचन की उपेक्षा न करें और मुझे बादशाह को सौंप दें।"

अपयशरूप पट का निर्माण करने में चतुराई भरी उसकी बातों को सुन कर राजा की क्रोधाग्नि अत्यन्त प्रज्वलित हो उठी। राजा बोला—'पुत्रि ! यह तेरी बुद्धि की कल्पना नहीं है। जिनके मन को पाप ने नहीं छुआ है वैसी कुमारियों के मन में ऐसी बुद्धि कभी उत्पन्न नहीं होती। पापिनी रानी ने तुझे यह सब सिखा कर यहां भेजा है। यदि स्त्री-वध के पाप का भय न होता तो मैं उसकी जीभ कटवा डालता। दुष्ट के हाथ में तुझे सौंप कर यदि बड़े साम्राज्य के सुखोपभोग की आशा मैं करूं तो वह उस सर्पिणी के कृत्य के जैसा होगा जो अपनी भूख मिटाने के लिए अपने ही बच्चों को खा जाती है। कुल की रक्षा के लिए एक का त्याग करना ठीक है, यह जो नीति का कथन तूने बताया है उसका मर्म समझने की अभी तेरी क्या शक्ति है ? तू तो अभी बच्ची है। कुल के लिए उस एक का त्याग करना ठीक है जो कुल की अपेक्षा कम महत्त्व रखता है। सर्प का खाया हुआ अंगूठा जैसे काटा जा सकता है वैसे क्या जीभ भी काटी जा सकती है ? समुद्र-पर्यन्त पृथ्वी की अपेक्षा भी हमारे कुल में तू अधिक सारभूत वस्तु है; नहीं तो, बादशाह जमीन को छोड़ कर तुझे ही क्यों माँगता है ? और, तू ने यह जो कहा कि मेरे दे देने से आपको क्या-क्या लाभ हो सकते हैं, यह भी तेरा बालपन का अबोध-सूचक विचार है। सब प्रकार से अधम, पापिष्ठ और गो-भक्षक मुसलमान को तुझे सौंप देने से मेरा क्या हित होने वाला है ? दुनियां में अपकीर्ति होगी, परलोक में दुर्गति होगी और स्वकुलाचार का विध्वंस होगा। ऐसा जीवन तो धिक्कार के योग्य होता है। दुर्लभ मनुष्य-भव प्राप्त कर बुद्धिमान को दो

ही वस्तुएँ प्राप्त करने जैसी हैं, एक कीर्ति और दूसरा धर्म । ये दोनों वस्तुएँ अपने कुलाचार का ठीक पालन करने से प्राप्त होती हैं । जो मनुष्य कुलाचार का लोप कर सुख की प्राप्ति चाहते हैं वे अपने पूर्वजों की कीर्त्ति का नाश करते हैं । चाहमान वंश के आरंभ से लेकर आज तक जिन पूर्वजों ने वैसा अकृत्य कार्य नहीं किया, मैं वह कार्य आज करके उन पूर्वजों को क्या जवाब दूंगा ? इस तरह उस पुत्री देवलदेवी के वचनों का प्रतिरोध करके और उसके मन को धैर्य देकर राजा ने उसे अपने महल में जाने की आज्ञा दी ।

इधर वह रतिपाल भी शीघ्र रणमल्ल के मकान पर गया और उसने आकुलता के साथ रणमल्ल को कहा—'भाई क्यों सुख से बैठा है ? जल्दी भाग निकलने का प्रयत्न कर । राजा हम सेवकों का शत्रु बन गया है और वह तुझे पकड़ने के लिए आ रहा है ।' सुन कर रणमल्ल ने कहा कि—'चन्द्रमा से जैसे ज़हर की संभावना नहीं की जाती वैसे इस राजा से ऐसे व्यवहार की संभावना नहीं की जाती ।' रणमल्ल के ऐसे आक्षेपात्मक वचन सुन कर रतिपाल ने कहा—यदि आज शाम को अपने ५-७ जनों के साथ तेरे मकान पर राजा को आता देखे तो मेरी बात को सच समझना ।' यह कह कर रतिपाल अपने मकान पर चला गया । रतिपाल के कहे मुजब राजा को सायंकाल के समय अपने मकान की तरफ आता देखा तो रणमल्ल को विश्वास हो गया कि रतिपाल ने जो बात कही है ठीक ही मालूम देती है । तब वह डर के मारे किले से नीचे उतर कर शत्रु से जा मिला । रतिपाल भी उसी तरह किले से नीचे उतर कर, स्वर्ग से उतर कर नरक में जाने वाले प्राणी की तरह, बादशाह की सेना से जा मिला ।

उन दोनों के ऐसे दुर्व्यवहार को देख कर राजा ने कलिकाल के कुटिल प्रभाव का विचार करते हुए अपने धान के कोठार के रक्षक जाहड नामक अधिकारी को बुला कर पूछा कि 'कोठार में धान कितना'क है ?' उसने सोचा कि मैं यदि अन्न का अभाव सूचित करूंगा तो राजा जल्दी ही बादशाह से सन्धि कर लेगा – इससे उसने राजा से कहा कि "अन्न तो कुछ भी नहीं है ।" हित की कामना करने वाला भी मूर्ख-जन अहित का ही कारण होता है जिसका वह जाहड एक उदाहरण है । जाहड के कथन से राजा बड़ा चिन्तित हुआ और वह अपने महल में आया । रात्रि के समय जब चन्द्रमा आकाश में दिखाई देने लगा तो उसकी तन्द्रा भग हो गई और वह मन में सोचने लगा कि—जिनको मैंने अनेक प्रकार के दान और सम्मान से भाई की तरह सत्कृत किया वे भी इस तरह स्वामिद्रोह करने को तत्पर हो गये तो जो स्वभाव से ही नीच हैं उनके बारे में क्या कहा जाय ? राजा सोचने लगा—यदि ये मुगल, जो मेरे पास हैं,

अपने जाति-भाई का पक्ष लेकर मुझे पकड़वा कर शत्रु को दे दें तो मेरी कैसी विडम्बना होगी ? इसलिए किसी तरह समझा-बुझा कर इनको अपने नगर से रवाना करना अच्छा होगा। पराया मनुष्य चाहे जितना प्रेम करे पर वह परायेपन को कभी नहीं छोड़ता।

प्रातःकाल होने पर राजा स्तुतिपाठ करने वाले बन्दी को पारितोषिक देकर नित्यक्रिया से निवृत्त हुआ। फिर राजसभा में आकर बैठा और अपने भाई के सन्मुख उन मुगल भाइयों के अध्यक्ष महिमासाहि को लक्ष्य कर वह बोलने लगा—'हम क्षत्रिय हैं, हमारा धर्म है कि हम अपनी भूमि की रक्षा के लिये प्राणों का भी त्याग करने में सदैव तत्पर रहें। हमारा यह धर्म युगान्त में भी नष्ट नहीं होता। क्षत्रिय वही है जो प्राणान्त के समय भी अपने हुंकार को नहीं छोड़ता। इसका प्रसिद्ध उदाहरण सुयोधन है, जो सबको विदित है। आप विदेशी हैं, इस संकट काल में आपका यहां रहना योग्य नहीं होगा इसलिये आपको जहां कहीं जाने को इच्छा हो वह बतलायें तो मै आपको वहां पहुँचा दूं।' राजा के ये वचन भाले की नोक की तरह उस वीर के हृदय को आघात करने वाले बने। वह मूर्छा खा कर पड़ने जैसी दशा में हो गया पर क्रोध के बल से अपने को संभाल कर, अवष्टब्ध हो रहा। बाद में 'ठीक है, ऐसा ही हो।' यह कह कर वह अपने निवास में चला गया। वहां उसने अपने सारे परिवार को तलवार से काट डाला और फिर राजा के पास आकर कहने लगा—'महाराज, आपके भाई की घरवाली जाने के लिए उत्कंठित है पर वह मुझ से गद्गद् होकर कहती है कि—स्वामिन् ! हम इतने वर्षों से यहां इस घर में सुख से रह रहे हैं। हमें अपने पहले के शत्रुओं से प्राप्त दुःखों का किंचित् भी यहां स्मरण नहीं हुआ। जिसकी कृपा से हमें संपूर्ण सुख और धन प्राप्त हुआ है, सूर्य किधर ऊगता है और किधर अस्त होता है यह भी हमने कभी नहीं जाना, यदि उसके दर्शन किये बिना ही हम यहां से चले जाते हैं तो हमारे लिए बड़े दुःख का कारण होगा। इसलिये, महाराज, उन लोगों के मन की शान्ति के लिये आप एक बार हमारे मकान पर चलने की कृपा करें।'

उस महिमासाहि के यह कहने पर राजा तुरन्त उठ खड़ा हुआ और अपने भाई के साथ उसकी भुजा को अपनी भुजा में दबा कर चल पड़ा। महिमासाहि के मकान पर पहुँच कर जब वह उसके अन्दर पहुँचता है तो वहां पर कुरुक्षेत्र की भूमि की तरह उसके सारे आंगण को मृतकों के शवों से भरा पाता है। लोहू के गड्ढों में स्त्रियों के और बच्चों के सिर डूबे पड़े थे। यह भयंकर दृश्य देखते ही राजा मूर्छित हो गया और जमीन पर गिर पड़ा। वीरम आदि

भाईयों के अश्रुओं के सिंचन द्वारा राजा की जब मूर्छा उतरी तो वह महिमासाहि के गले लग कर इस तरह विलाप करने लगा—'हे कम्बोज-कुलाधार ! हे कीर्तिकुलमन्दिर ! हे अनन्यजनसौजन्य ! हे धन्यतम-विक्रम, हे क्षत्रैकव्रतागार ! हे विश्वजनवत्सल ! मैं प्राण देकर भी तेरा ऋण कैसे चुका सकूंगा ? मुझ से अधिक अधम मनुष्य कोई नहीं है और तेरे से अधिक उत्तम मनुष्य कोई नहीं है। तेरे जैसे प्रेमी पुरुष के बारे में भी मैं मन्द-बुद्धि वैसा दुर्विचार करने में प्रवृत्त हुआ। विधाता की प्रतिकूलता के कारण मुझे यदि ऐसी दुर्मति हो गई परंतु, तुमने ऐसा कृत्य क्यों किया ? परंतु, यह सब भावी के खेल हैं। मनुष्य अपने आत्महित की दृष्टि से जिस बुद्धि का अनुसरण करता है, भवितव्यता उसको अपनी गति के अनुसार ले जाती है। मनुष्य अन्य प्रकार के मनोरथ करता रहता है, दैव उसके कर्मानुसार अन्यथा फल देता है।'

राजा वहां से लौटता हुआ धान के कोठार की तरफ मुड़ा तो उसने वहां खूब अन्न भरा देखा। तब उस जाहड को पूछा कि, यह क्या है ? तो उसने सच बात कही। तब राजा ने कुपित होकर कहा कि 'तेरी बुद्धि को धिक्कार है, जिसने कुल क्षय का प्रसंग उपस्थित किया।' बाद में राजा ने नगर के दरवाजे खुलवा दिये और सब नगर जनों को इधर-उधर चले जाने की आज्ञा दे दी।

फिर, उसने अपनी रानियों और स्त्रीजनों को अग्नि में जल मरने की आज्ञा दी, स्वयं दान-धर्मादि कार्य करके जनार्दन की पूजा की और फिर पद्मसरोवर के किनारे आकर विषादमुक्त होकर बैठ गया। इतने में रङ्गदेवी-प्रमुख सब रानियाँ पद्मसरोवर में स्नान कर, नाना प्रकार के आभूषणों से सजधज कर राजा के सन्मुख उपस्थित हो गईं। उन्होंने राजा को नमस्कार किया। राजा ने हर्ष के साथ अपने सिर की सुन्दर केश-चूड़ा को काट कर उन सब रानियों के हाथों में, प्रत्यक्ष शृंगार-सर्वस्व के रूप में वितीर्ण कर दी। फिर राजा ने अपनी पुत्री देवल्लदेवी का अपनी भुजाओं से दृढ आलिङ्गन किया और अत्यन्त क्रन्दन करते हुए बड़े कष्ट के साथ उसे दूर किया। फिर बोला—'यदि किसी को पुत्री हो तो तेरे जैसी हो, जिसने अपने पिता को गौरव के शिखर पर चढ़ाया है।' यदि स्वर्ग में पहुँचने पर राजा हमको न पहचान सके तो हम इनको इन केश-चूड़ा के केशों को हाथ में लेकर अपनी पहचान कराएंगीं—इस विचार से उन रानियों ने वे केश अपने वक्षःस्थल पर रख कर, धधकती हुई अग्नि ज्वाला में प्रवेश किया। राजा ने शान्त मन से उन सब को अन्त्यांजलियां दीं और फिर जाजा नामक अपने अत्यन्त प्रिय सामन्त और शूरवीर नर को भी आदेश दिया कि 'भाई तुम भी अब कहीं चले जाओ।' राजा का आदेश सुन कर वह जाजा

भी अपने निवास पर जाकर, अपनी आठ पत्नियों और एक पुत्र का मस्तक काट कर, थाल में रख राजा के सामने उपस्थित हुआ। राजा ने पूछा, यह क्या? तो उसने कहा कि 'राजन्, पूर्वकाल में रावण ने जिस तरह अपने दस मस्तक काट कर शिव का अर्चन किया था उसी तरह मैं शिवस्वरूप तुम्हारा इन दस मस्तकों से अर्चन करता हूँ। इनमें से ९ मस्तक तो ये मेरे हाथ में हैं और दसवां मस्तक मेरे धड़ पर है जिसको काट कर मैं तुम्हारे चरणों में समर्पण करना चाहता हूँ।'

हम्मीर ने अपने भाई वीरम को राज्याधिकार देना चाहा तो उसने इनकार कर दिया और अपने भाई के साथ ही युद्ध में लड़ कर मर जाना चाहा, तब हम्मीर ने जाजादेव को राज्याधिकार समर्पित किया।

राज्य-भण्डार की सब निधि को कहां डाला जाय, इसकी चिन्ता जब राजा को हुई तो रात को स्वप्न में पद्मसरोवर ने आकर कहा कि मेरे अन्दर डाली हुई निधि प्राणान्त तक भी मुसलमान नहीं पा सकेंगे। ये रतिपाल आदि स्वामि-द्रोही जैसा द्रोह कर गये हैं वैसा द्रोह यह किला, ये तेरे साथी सुभट और मैं पद्मसरोवर, कभी नहीं करेंगे। सवेरे उठ कर राजा ने जाहड कोठारी को बुलाया और उसे आदेश दिया कि जो भी राज्य की धन-संपत्ति कोठारों में है उस सब को पद्मसरोवर में डलवा दो। जाहड के वैसा करने के बाद फिर वह बोला कि 'अब और मैं क्या करूँ?' तब राजा के आदेशानुसार वीरम ने उसका शिरश्छेद कर उसे भूमिसात् कर दिया।

अब श्रावण महिने के शुक्ल पक्ष की छठ और रविवार के दिन स्वर्ग में अपनी कीर्ति की कला को देखने के लिए उत्सुक होकर राजा ने अपने नौ वीरों के साथ युद्ध-भूमि में प्रवेश किया। हम्मीर युद्ध के मैदान में पहुँच गया है, यह जान कर बादशाह भी अपनी सेना के साथ मैदान में आ पहुँचा। हम्मीर के साथ सब से आगे उसका भाई वीरम था, दूसरा सिंह नामक वीर था, तीसरा गंगाधर टाक था, चौथा क्षेत्रसिंह परमार था, साथ में महिमासाहि आदि वे चारों सच्चे मित्र मुगल भाई थे। सभी वीरों ने बड़ी वीरता के साथ अपना रणकौशल दिखाया और शत्रु के अनेक सुभटों को यम के द्वार पर पहुँचाया। राजा स्वर्ग की जिस लक्ष्मी को स्वाधीन करना चाहता है वह कैसी है इसे देखने के लिये ही मानों सब से पहले वीरम ने स्वर्ग में प्रयाण किया। अन्य वीर भी जीवित से निर्विण्ण होकर हम्मीर से पहले स्वर्ग चले गये। महिमासाहि शत्रु के प्रहार से मूर्छित होकर युद्ध-भूमि में गिर पड़ा, तब फिर स्वयं हम्मीर सजग होकर आगे बढ़ा। अपने शस्त्र-प्रहारों से शत्रु के अनेक सुभटों का प्राण-संहार करता हुआ वह अकेला वीर युद्ध-भूमि में ताण्डव-नृत्य करता रहा। चारों

तरफ से आते हुए शत्रु के बाणों से बिंध जाने पर जब उसने देखा कि अब जीवन समाप्त होने वाला है तो, कहीं शत्रु उसे जिन्दा न पकड़ लें, इस विचार से तुरन्त उसने अपने हाथ से अपना कण्ठच्छेद कर डाला और स्वर्ग की ओर प्रस्थान कर गया।

*

महाकवि नयचन्द्र सूरि ने हम्मीर-महाकाव्य के तेरहवें सर्ग में जो वर्णन दिया है उसका यह सारभूत आलेखन है। इस वर्णन के पढ़ने से सामान्य पाठकों को भी यह कल्पना हो सकेगी कि हम्मीर महाकाव्य में कवि ने किस स्वरूप में और किस प्रकार से अपना काव्य-कलाप आलेखित किया है। कवि का लक्ष्य कोई काल्पनिक और पौराणिक शैली का अनुसरण करके अपने काव्य-नायक का कल्पित, अतिरंजित, अमानवीय प्रकृति-चित्रण कर केवल कविता के कलेवर को ही बढ़ाना नहीं है, जैसा कि पृथ्वीराज-विजय के कर्ता कवि जयानक ने अपने काव्य में पृथ्वीराज का चरित्र प्रदर्शित किया है। कवि नयचन्द्र हम्मीर के तथ्यभूत जीवन को स्पर्श करने वाले सत्त्व, औदार्य, धैर्य, वात्सल्य और स्नेह-प्रपूरित उदात्त गुणों का याथातथ्य वर्णन कर, भारत के उस एक अद्वितीय वीर पुरुष की कीर्ति-गाथा का पुण्यगान कर अपनी कवि-प्रतिभा द्वारा राष्ट्र के अमूल्य वाङ्मय भण्डार में एक उत्कृष्ट काव्य-रत्न प्रदान करता है।

*

काव्य का चौदहवां सर्ग छोटा-सा ही है। इस सर्ग में कवि ने प्रारम्भ में हम्मीर के लोकोत्तर गुणों की स्तुति रूप में कुछ पद्य आलेखित किये हैं। हम्मीर देव की इस प्रकार विपत्तिजनक दशा में मृत्यु होने के कारण देश के कवियों और लोगों के कैसे-कैसे उद्गार निकले हैं, उसका आभास कराया गया है। शायद, इनमें के कुछ पद्य अन्य कवियों की रचना-रूप हों। इस सर्ग के पहले पद्य में कवि कहता है कि 'अपने शत्रुओं को त्रास देने के लिए दीक्षा लेने वाले मनुष्यों के गुरु-रूप और लोकप्रिय कार्यों को ही जिसने अपनी उन्नति का मूलाधार माना वैसे हम्मीर नृपति की उस प्रकार मृत्यु होने के दुःखद समाचार सुन कर कई कवियों ने उसके गुणो की स्तुति करने वाले काव्यों की रचना की।'

कोई कवि कहता है—'राजाओं के भाल के तिलक समान हे हम्मीर! तुम्हारे स्वर्ग चले जाने पर आज धर्म ने सुख का स्थान छोड़ दिया, करुणा ने अरण्य की शरण ले ली, वीरता ने बालक्रीडा का रूप धारण कर लिया, औदार्य गल गया, नीति भयभीत हो गई और लक्ष्मी ने वैधव्य रूप धारण कर लिया।'

कोई दूसरा कवि विलाप करता हुआ कहता है कि—'हे हम्मीर ! तुम्हारे बिना अब हमारी क्या गति होगी ? कौन ब्राह्मणों को कांचन का दान दे-दकर पूजा करेगा ? कौन प्रतिदिन षड्-दर्शनों की पालना करेगा ? दुष्ट यवनों द्वारा मारी जाने वाली गायों की कौन रक्षा करेगा ?'

एक कवि कहता है—हे महीमहेन्द्र हम्मीर, विद्वान् लोग जो यह कहा करते हैं कि कलिकाल में कल्पद्रुम, कामधेनु और चिन्तामणि रत्न पृथ्वी में दृष्टि-गोचर नहीं होते (परन्तु, तुम्हारे जीवन ने उन सब का प्रत्यक्ष दर्शन कराया था) वह बात तुम्हारे स्वर्ग में जाने पर सत्य सिद्ध हो रही है।

किसी कवि का कथन है कि—'पाताल में नागराज, स्वर्ग में देवगण, उद्यानों में पुष्प-पुंज, सरोवरों में राजहंस, घरों में सन्नारियां और नगरों में प्रेमातुर नागरिक, इस प्रकार आज सब कोई हम्मीर की मृत्यु के बारे में शोक कर रहे हैं।'

एक कवि का विलाप है कि—'दारुण विधाता ने निष्कारण ही वैसे गुणों के आकर समान हम्मीरदेव का हरण करके सारी पृथ्वो के सर्वस्व का अपहरण कर लिया है। हम क्या करें, क्या कहें, किस स्वामी से अनुरोध करें ? किस के सामने हम अपना यह विषम दुःख प्रकट करें ?'

एक कवि का कथन है कि—'इस पृथ्वी में अनेक राजा विद्यमान हैं, जो अपनी प्यारी भूमि की रक्षा के निमित्त अनेक प्रकार के युद्धों का आयोजन करके अपनी दृढ़ता स्थापित करते रहते हैं परन्तु, म्लेच्छों के मस्तकों के निपात से क्षितिमण्डल को दन्तुर बनाने वाला तो इस कलिकाल में केवल एक हम्मीर ही है।'

किसी कवि का विलाप-कथन है कि—'हे हम्मीर नरेश्वर ! (रणथंभोर के) जिस पद्मसरोवर में संध्यावन्दन आदि कर्मों में मस्त ब्राह्मण हंसों की तरह तैरा करते थे, उसमें आज, तुम्हारे बिना गन्दे कपड़े पहने हुए यवन, भैंसों की तरह कूद रहे हैं।' इत्यादि

इस प्रकार, इस सर्ग में १३ पद्य ऐसे दिये गये हैं जिनमें हम्मीर की मृत्यु के कारण सन्तप्त कवियों के हृदयोद्गार हैं। इसके बाद चौदहवें पद्य में शायद कवि नयचन्द्र अपना हृद्गत भाव व्यक्त करते हैं—वे कहते हैं कि 'लोग यों ही अपनी मूढ़ता के कारण भले ही कहते रहें कि यह विश्व का अद्वितीय वीर नरेश्वर, चाहमान हम्मीर स्वर्ग में चला गया है; किन्तु, तत्त्व-ज्ञान की दृष्टि से विचार करते हुए हम तो कहेंगे कि वह राजा अपने उन-उन पराक्रम-

प्रदर्शक-गुणों के कारण पृथ्वी पर जीता-जागता ही दिखाई देता है। (१५)*

इसके बाद, सोलहवें पद्य में कवि ने हम्मीर के ३ सेवकों—सेनापति रतिपाल, मुख्यमंत्री रणमल्ल और परम विश्वस्त जाज को भिन्न-भिन्न प्रकार के शब्दों से सम्बोधित किया है—'उस शूरवंशाधम रतिपाल को धिक्कार है! वह विलय को प्राप्त हो! वह पापी रणमल्ल अच्छी तरह अपना मुंह काला कर ले! एक जाज ही दुनियां में आनन्दित रहे, जो स्वाभाविक प्रेम की मूर्ति है और जिसने हम्मीर के स्वर्ग चले जाने पर भी दो दिन तक किले की रक्षा की। इस स्वामिभक्त चाहमान जाजा को राजा ने चले जाने का आदेश दे दिया था तब भी वह न जाकर अपने स्वामि के सिंहासन की रक्षा करता हुआ अन्त में अनन्त में चला गया अर्थात् किले की रक्षा करता हुआ मृत्यु को प्राप्त हुआ।'

बाद के तीन पद्य नयचन्द्र कवि ने महिमासाहि के सम्बन्ध में कहे हैं। कवि कहते हैं—(पुराणों में वर्णन है कि पुरा काल में, दूसरों की रक्षा के लिए) राधेय ने अपना कवच दे दिया था, शिबि ने अपना मांस दे दिया था, बलि राजा ने पृथ्वी दे दी थी, जीमूत ने आधा शरीर दे दिया था तथापि वे हम्मीर देव के समान उदार नहीं हो सकते क्योंकि इसने तो अपने शरणागत महिमासाहि के लिये क्षण भर में पुत्र, कलत्र और सेवक गण के साथ अपने प्राणों तक का विनाश कर दिया। उस महिमासाहि का भी क्या वर्णन किया जाय! वह कम्बोजवंश की कीर्ति बढ़ाने में चन्द्रमा जैसा था, वह निष्कपट वीर-व्रत का धनी था और स्वाभिमान का निवासस्थान था। उसने अपने संरक्षक वीर हम्मीर देव की युद्ध में मृत्यु हो जाने पर भी, उसके शत्रु को, प्राणान्त के अवसर तक, अपना उन्नत मस्तक नहीं झुकाया।

वह महिमासाहि जब उस युद्ध में शत्रु द्वारा जीवित पकड़ा गया तो, अपने जाति भाई को अपनी ही जाति के द्वारा नहीं मारना चाहिए, ऐसी कुल-रीति का अनुसरण करते हुए, बादशाह ने उससे पूछा कि—यदि तुझे ज़िन्दा छोड़ दिया

---

*नयचन्द्र सूरि के इस पद्य में, उनके प्रगुरु जयसिंह सूरि रचित कुमारपाल-चरित्र के अन्त में इसी भाव को प्रदर्शित करने वाला जो एक पद्य लिखा है उसकी पूरी छाया दिखाई देती है। पूर्वार्ध में तो शब्दावली भी प्रायः समान है। वह पद्य इस प्रकार है—

लोको मूढतया प्रजल्पतु दिवं राजर्षिरध्यूषिवान्
ब्रूमो विज्ञतया वयं पुनरिहैवास्ते चिरायुष्कवत्।
स्वान्ते सच्चरितैर्नभोऽधिमनुभिः कैलास-वैहासिकैः
प्रासादैश्च बहिर्यदेष सुकृती प्रत्यक्ष एवेक्ष्यते॥

कुमारपालचरित, सर्ग १०; पद्य २६७

जाय तो मेरे प्रति तेरा कैसा व्यवहार होगा ?' तब महिमासाहि ने अपना पैर दिखाते हुए कहा 'कि जैसा व्यवहार तूने हम्मीर के प्रति किया है वैसा ही व्यवहार मैं भी तेरे प्रति करूंगा।' ऐसे महिमासाह जैसे वीर की समानता करने वाला अन्य कौन वीर होगा ?

इसके बाद के पद्य में, उस दुष्ट रतिपाल के प्रति बादशाह ने कैसा व्यवहार किया उसका उल्लेख है—कहा गया है कि युद्ध भूमि में हम्मीर के मर जाने पर जब बादशाह उसे देखने आया तो दुष्ट रतिपाल ने अपने पैर की ठोकर लगा कर हम्मीर का मृतक मस्तक दिखलाया—बादशाह ने उससे पूछा कि हम्मीर ने तुझे क्या क्या दिया ? तो उसने उन सब दान, सनमान आदि का वर्णन किया जो हम्मीर ने उसे दिया था। बादशाह ने सुन कर उसकी खाल उतरवाने का आदेश दे दिया। यदि ऐसा न किया जाता तो कौन दुष्ट स्वामिद्रोह करने से दूर रहेगा ? (२१)

इस वर्णन के साथ नयचन्द्र सूरि अपने महाकाव्य के वर्ण्य विषय को समाप्त करते हैं। बाद के ६ पद्यों में कवि अपने प्रगुरु और गुरु का परिचय देते हैं, जो ऊपर लिखा जा चुका है। यद्यपि कवि को इस महाकाव्य के प्रणयन की प्रेरणा तो तोमरवंश के वीरमदेव की राजसभा के कतिपय विद्वानों की इस उक्ति से मिली थी कि—'इस समय वैसा कोई प्रतिभाशाली कवि नहीं है जो प्राचीन कवियों के समान उत्कृष्ट काव्य रचना कर सके' और इसी उक्ति के आक्षेप का निवारण करने के लिए नयचन्द्र कवि ने इस महाकाव्य की रचना की है, परन्तु काव्य का विषय हम्मीरदेव का चरित्र-वर्णन पसन्द करने के बारे में कवि कहते हैं कि—'स्वप्न में आकर उस हम्मीरदेव ने ही कवि को प्रेरित किया कि वह उसके चरित को काव्य-रूप में निबद्ध करे।

तेने तेनैव राज्ञा स्वचरितलनने स्वप्न-नुन्नेन कामं
चक्राणं काव्यमेतन्नृपतितर्तिमुदे चारुवीराङ्करम्यम्। (१४. २६)

उसी वीर नायक के स्वप्नगत निदेशानुसार, राजाओं के आनन्द के लिए यह वीराङ्क काव्य बनाया गया है।

आगे के कुछ पद्यों में कवि ने अपनी काव्य-विषयक रुचि, शैली, शब्दावली आदि के विषय में विचार अंकित किए हैं। कवि को हर्ष और अमर कवि अधिक प्रिय हैं। कवि उन्हीं दोनों कवियों की शैली का अनुसरण करता है। कवि को अपनी रचना को वैशिष्ट्य का पूरा ख्याल है। वह एक उत्तम कोटि का कवि

है और काव्यप्रकाशादि-लक्षणग्रन्थों में पारङ्गत भी। उसने लक्षणग्रन्थों में वर्णित रसबहुल उत्तम काव्य का प्रणयन सरस जनों के मन को प्रसन्न करने के लिए किया है; अतः कोई नीरस व्यक्ति इस काव्य से आनन्द प्राप्त न कर सके तो इस कवि के काव्य का दोष नहीं—

काव्यं काव्यप्रकाशादिषु रसबहुलं कीर्तयन्त्युत्तमं यत्,
तन्नो भावैर्विभावप्रभृतिभिरनभिव्यक्त मुक्तैः कदाचित्।
तेनेति व्यक्तमुक्तं सरसजन मनःप्रीतये काव्यमेतत्,
कश्चिच्चेन्नीरसोऽस्मिन् भजति बत मुदं नोतदाकोऽस्य दोषः ॥३४॥

इस प्रकार अपने काव्य के गुणों के प्रति जागरूक यह कवि स्वाभिमान की अभिव्यक्ति करता हुआ भी समानधर्मा कवियों का सम्मान करना भी जानता है। इसी दृष्टि से वह अपने काव्य में अनजान में प्रयुक्त अपशब्द के लिए क्षमा-याचना करना भी नहीं भूलता है—

क्षन्तव्य एव कविभिः कृपया प्रमादात्,
काव्येऽत्र कश्चिदपि यः पतितोऽपशब्दः।
प्रीतिर्यथाऽस्तु सुहृदामथवा सुशब्दैः,
किं सा तथाऽस्त्वसुहृदामपि माऽपशब्दैः ॥

ऐसे कवि ही लोकोत्तर आनन्द देते हुए लोकसेवा के साधन अनायास ही उपस्थित कर जाते हैं। अतः यह काव्य निस्संदेह हमारे साहित्य की अमूल्य निधि है। यों तो इस काव्य का नायक ही हमारे इतिहास का एक ऐसा प्रातः-स्मरणीय व्यक्तित्व है जिसके विषय में स्वर्गीय मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों में कहा जा सकता है "कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है", परन्तु कवि की शक्ति, निपुणता और शैली से हम्मीर के लोकोत्तर शौर्य्य, औदार्य्य एवं त्याग के गुण विशेष रूप से मुखरित होकर मानों घोषणा करने लगे हैं कि "अभयं स्वस्ति" और "अरंकृति" के वैदिक आदर्श में निमज्जित यह अद्वितीय वीर स्वयं अभय है और अपने शरणागत को भी अभयदान देने में समर्थ है तथा अपने प्राणों की आहुति देकर भी कृत-संकल्प है। रूप, शील और गुण से संपन्न हम्मीर ने अपनी चारित्रिक समृद्धि द्वारा हमारी मातृभूमि को जो गौरव प्रदान किया वह धन्य है, स्तुत्य है, परंतु ऐसे वीरों की गाथा को जनता के स्मृति-पथ पर लाने के लिए जो रससिद्ध कवीश्वर प्रयत्नशील हैं वे निस्संदेह जनता की सेवा में उतने

हो रत कहे जा सकते जितने कि उस 'परं ज्योतिः' के जिसको हम्मीरमहाकाव्य के प्रारंभ में निम्नलिखित शब्दों में याद किया गया है—

सदा चिदानन्दमहोदयैकहेतुं परं ज्योतिरुपास्महे तत् ।
यस्मिन् शिवश्रीः सरसीव हंसीव विशुद्धिकृद्धारिणि रंरमीति ॥

इन शब्दों के साथ सहृदय पाठकों के हाथों में यह ग्रंथ समर्पित किया जाता है ।



प्रास्ताविक परिचय

इतिहास के रूप में हम्मीरमहाकाव्य

[लेखक — प्रो० दशरथ शर्मा, एम. ए., डी. लिट्]

इतिहास शब्द पर्याप्त प्राचीन है; गहन तत्वों को समुचित रूप से समझने के लिए हमने ऐतिहासिक ज्ञान को आवश्यक समझा है। जिस नियमित अर्थ में हम आजकल इतिहास शब्द को प्रयुक्त करने लगे हैं, उसी अर्थ को यदि हम प्राचीन संस्कृत-कृतियों पर भी लागू करें तो प्राचीन संस्कृत-साहित्य में इतिहास-ग्रन्थों की संख्या कुछ अधिक न मिलेगी। हमारे यहां काव्यमयी प्रवृत्ति इतनी अधिक रही है कि इतिहास अधिकतर काव्य का बाह्य रूप ही धारण नहीं करता, उसकी कथा में भी काव्य-तत्वों की इतनी भरमार हो जाती है कि ऐतिहासिक तथ्य उभर नहीं पाते।

कुछ प्राचीन इतिहास-काव्य

'हर्ष-चरित' इसी तरह का इतिहास-काव्य है। भारतीय संस्कृति के चित्र के रूप में यह अमूल्य है। पर स्वयं हर्ष और उन के पूर्वजों के इतिहास की सामग्री इस में अत्यल्प है। पद्मगुप्त के 'नवसाहसांक-चरित' में परमार राजा नवसाहसांक सिन्धुराज की कथा है। किन्तु कवि ने इस में इतने अलौकिक तत्व डाल दिये हैं कि इतिहास के विद्यार्थी के लिए सत्य से असत्य को पृथक् करना अत्यन्त दुष्कर हो गया है। बिल्हण का 'विक्रमांकदेवचरित्र' कुछ अधिक तथ्यमय है। परन्तु उस में भो काव्य-चमत्कार पर अधिक और तथ्यों के वर्णन पर कम बल है। 'पृथ्वीराज-विजय महाकाव्य' खण्डित रूप में हमें प्राप्त है। इस में चौहान-इतिहास की पर्याप्त सामग्री है। किन्तु चलते-चलते मानों कवि को अपना कवित्व कुछ विशेष रूप से स्मरण हो जाता है और अनेक सर्ग अलौकिक और काल्पनिक सामग्री को प्रस्तुत करने में समाप्त हो जाते हैं। 'हम्मीर महाकाव्य' से पूर्व अनेक अन्य ऐतिहासिक काव्य भी संस्कृत में लिखे गये।[1] किन्तु विशुद्ध इतिहास को प्रस्तुत करना अधिकतर उन का लक्ष्य न रहा है।

'हम्मीरमहाकाव्य' भी इस इतिहास-काव्य की परम्परा के दोषों से सर्वथा निर्मुक्त न रहा है। इस की रचना ग्वालियर के राजा वीरमदेव के सभासदों के

---

[1] इस प्रसंग में कई वर्ष पूर्व प्रकाशित मुनि श्रीजिनविजयजी का 'प्राचीन गुजरात ना सांस्कृतिक इतिहास नी साधन-सामग्री' नाम सन्दर्भ-ग्रन्थ अब भी पूर्ववत् पठनीय है।

यह कहने पर हुई थी कि उस समय पूर्व कवियों के समान काव्य की रचना करने वाला कोई व्यक्ति न रहा था। ऐसी स्थिति में उस में अनेक काव्य-तत्वों का आना स्वाभाविक ही था। कवि ने पांचवें सर्ग में वसन्त-वर्णन, छठे में जल-क्रीड़ा-वर्णन, सप्तम में रति-वर्णन दे कर इस काव्य-परम्परा का पूरा निर्वाह किया है। किन्तु 'हम्मीर महाकाव्य' की विशेषता इस में है कि अधिकांश में इस का ऐतिहासिक भाग सर्वथा सुस्पष्ट, सुग्रंथित और अलौकिक तत्वों से प्राय: विहीन है। इस के पढ़ने में इतिहास-पठन का आनन्द है। इस के पात्र मानव-गुणों और दोषों से युक्त हैं। हम्मीर कई बातों में महान् है, किन्तु कवि ने उस की कमियों को भी सुन्दर ढंग से प्रदर्शित किया है। कर्मसिद्धान्तवादी होने के कारण लौकिक घटनाओं के लिए अलौकिक कारण देने की प्रथा से नयचन्द्र आसानी से दूर रह सके हैं। उदाहरण के लिए हम रणथम्भौर के भंग को ले सकते हैं, जिस के कारण, व्यष्टि रूप में अनेकश: और समष्टि रूप में, जैत्रसिंह के अन्तिम उपदेश के रूप में वर्तमान हैं।

हम्मीर काव्य का रचना-काल

कवि नयचन्द्र हम्मीर के समसामयिक न थे। किन्तु अपने दादा गुरु जयसिंह सूरि के ईस्वी सन् १३६५ में रचित 'कुमारपाल चरित' का प्रथम आदर्श नयचन्द्र ने ही लिखा था। हम्मीर की मृत्यु सन् १३०१ में हुई। अत: नयचन्द्र और हम्मीर के समय में बहुत अधिक अन्तर नहीं है सन् १३६५ में नयचन्द्र २४ साल के रहे हों तो उन के जन्म और हम्मीर के देहान्त का अन्तर केवल ४० साल का रह जाता है। दीक्षा तो नयचन्द्र ने जयसिंह सूरि के शिष्य प्रसन्नचन्द्र से प्राप्त की थी; किन्तु काव्यशिक्षा-गुरु उन के जयसिंह सूरि ही थे। इस से भी नयचन्द्र का समय लगभग सन् १३४० से सन् १४२० माना जा सकता है। 'हम्मीरमहाकाव्य' की रचना ग्वालियर के तंवर नरेश वीरम के समय हुई जिस के राज्य का अन्तिम ज्ञात सम्वत् १४७९ (सन् १४२२) है। संवत् १४८१ में उस का पौत्र डूंगरेन्द्र सिंहासनासीन हो चुका था। इस से प्रतीत होता है कि वीरम ने दीर्घकाल तक राज्य किया और सन् १४२२ में वह पर्याप्त वृद्ध हो चुका था। उस का राज्य-काल हम सन् १३८२ से १४२२ ई० तक रखें तो हम काव्य का रचना-काल सन् १३९० के आस पास रख सकते हैं। उस समय तक कवि की काव्यशक्ति पूर्णतया प्रस्फुटित हो चुकी होगी। उन की स्मृति में प्राय: वे सब हम्मीर-विषयक बातें भी रही होंगी जिन्हें वे बाल्यकाल से सुन रहे थे। वीरम नरेश के सभासदों की उक्ति काव्य-प्रणयन के लिए निमित्त मात्र थी। अन्यथा भी सम्भवत: नयचन्द्र इस काव्य का प्रणयन करते। 'रम्भामंजरी'

नाटिका की रचना से स्पष्ट है कि कवि को ऐतिहासिक विषयों से कुछ प्रेम था। इसीलिए 'दलपंगुल' कान्यकुब्जाधीश जयचन्द्र को नयचन्द्र ने नाटिका का नायक बनाया। हम्मीर जयचन्द्र से कहीं अधिक उन की प्रशंसा का पात्र था। सत्त्ववृत्ति हम्मीर ने अलाउद्दीन को अपनी पुत्री न दी। शरणागतों को प्रदान न किया। उस ने राज्यश्री के विलास और जीवन को तृण तुल्य समझा। फिर ऐसे व्यक्ति पर इतिहासानुरागी नयचन्द्र सूरि की कलम कैसे न चलती? प्रतीत होता है कि वे स्वप्न में भी उसे भूल न पाते थे। इसीलिए तो उन्हें यह आभास हुआ कि स्वयं हम्मीर स्वप्न में आकर उन्हें 'हम्मीर-चरित' के तनन (स्वचरिततनन) के लिए उत्साहित कर रहे हैं (१४-२६)।

काव्य का कथा-सार

प्रथम सर्ग में चाहमान से सिंहराज तक के राजाओं का वर्णन है। ब्रह्मा ने पुष्कर में यज्ञ आरम्भ करते समय दैत्यों से यज्ञ को बचाने के लिए सूर्य का स्मरण किया। उन के यह चाहते ही सूर्य-मण्डल से उतर कर एक योद्धा ने यज्ञ की रक्षा की। वही 'चाहमान' नाम से प्रसिद्ध हुआ। ब्रह्मा की कृपा से उस ने एक महान् साम्राज्य की स्थापना की (१५-२५)। इसी के वंश में दीक्षित वासुदेव हुआ (२७-३१)। उस के बाद क्रम से नरदेव ३२-३६), चन्द्रराज (३७-४०), चक्री जयपाल (४१-५२`, जयराज (५३-५७), सामन्तसिंह (५८-६२), गूयक (६३-६६), नन्दन (६७-७१), वप्रराज (७२-८१), हरिराज (८२-८९) और सिंहराज (९०-१०४) गद्दी पर बैठे। इन में जयपाल ने अजयमेरु दुर्ग की स्थापना की (५२)। वप्रराज ने शाकम्भरी देवी को प्रसन्न कर शाकम्भरी में लवण की झील को प्रकट की (८१)। हरिराज ने शकाधिराज को हरा कर मुग्धपुर पर अधिकार किया (८२)। यह भी सम्भव है कि उस ने वराह, कछवाहा और नागवंशी राजाओं को परास्त किया हो (८७)। सिंहराज के सेना-प्रयाण के पटह को सुनते ही कर्णाट, लाट, चोल, गूर्जर, अंगादि देशों के अधिप भयभोत हो उठते (९७)। इस ने होतिम नामक शकराज को हरा कर उस के चार हाथी छीने (१०४)।

दूसरे सर्ग में भीम, विग्रहराज (प्रथम), गुंददेव, वल्लभराज, राम, चामुण्डराज, दुर्लभराज, दुःशलदेव, विश्वल (प्रथम), पृथ्वीराज (प्रथम), आल्हणदेव, आनल्लदेव, जगदेव, विश्वलदेव (द्वितीय), जयपाल, गंगदेव, सोमेश्वर और पृथ्वीराज द्वितीय का क्रमशः वर्णन है। भीम सिंहराज का भतीजा था (१)। विग्रहराज (प्रथम) ने गूर्जराधिप मूलराज को युद्ध में मारा (९)। चामुण्डराज ने

युद्ध में शकाधिराज हेजमदीन का वध किया (२४)। दुर्लभराज ने महाबदीन को युद्ध में पराजित कर पकड़ा (२८)। दुःशलदेव ने समरांगण में कर्ण को मारा (३१)। विश्वलदेव (प्रथम) ने एकाधिपत्य राज्य किया और म्लेच्छराज सहाबदीन को मार कर मालव देश को म्लेच्छों से स्वतन्त्र किया (३२-३७)। आनल्लदेव ने (अजमेर में) पुष्कर के समान पवित्र एक तालाब खुदवाया (५१)। सोमेश्वर की रानी कर्पूर देवी से पृथ्वीराज (द्वितीय) का जन्म हुआ। पृथ्वीराज को शस्त्र और शास्त्रविद्या में निष्णात देख कर सोमेश्वर ने उसे राज्य दिया (६७-७७)। बाकी के तेरह श्लोकों में पृथ्वीराज के प्रतापयुक्त राज्य का वर्णन है।

तीसरे सर्ग का विषय पृथ्वीराज (द्वितीय) और सहाबदीन का युद्ध है। सहाबदीन से त्रस्त पश्चिम देश के राजाओं ने गोपाचल नगर के स्वामी चन्द्रराज को अग्रणी बनाया और पृथ्वीराज की सभा में जा कर रक्षा के लिये प्रार्थना की। सहाबदीन अनेक क्षत्रिय राजाओं को हरा कर उस समय मूलस्थान (मुल्तान) में अपनी राजधानी स्थापित कर चुका था (१-१३)। पृथ्वीराज ने सहाबदीन को मयूरबन्ध से बांध कर राजाओं के चरणों में डालने की प्रतिज्ञा की (१५)। तुरुष्क सेना हारी, किन्तु सहाबदीन ने क्रुद्ध होकर फिर भी पृथ्वीराज पर हमला किया। पृथ्वीराज ने उसे बांध कर अपनी प्रतिज्ञा पूरी की। इस प्रकार उस ने यवनाधिराज को सात बार हराया (१८-४६)। विजय का और कोई उपाय न देख कर शकेश सहाबदीन खर्प्परेश के पास पहुंचा, और खर्परेश ने उसे काम्बोज, लंगाह, भिल्ल आदि की सेना दी (४७-४९)। इस सेना को सहायता से अकस्मात् दिल्ली पहुंच कर सहाबदीन ने उस पर अधिकार कर लिया (५०)। पृथ्वीराज अपनी थोड़ी सी सेना को लेकर उस के सामने आ डटा। शकेश ने पृथ्वीराज के अश्वपाल और बाजे वालों को अपनी ओर मिला लिया। उषाकाल में शकों ने पृथ्वीराज के शिविर पर आक्रमण किया। अश्वपाल ने पृथ्वीराज को नटारम्भ नाम के अश्व पर चढ़ा दिया। बाजे बजते ही घोड़ा नाचने लगा। शत्रुओं ने राजा को घेर लिया। एक बार पृथ्वीराज किंकर्तव्य-विमूढ़ हुआ। फिर घोड़े से कूद कर उस ने युद्ध करना शुरू किया। किन्तु इतने में ही पीछे की तरफ से राजा के गले में धनुष की प्रत्यंचा डाल कर किसी शक ने उसे गिरा दिया। अन्य मुसलमानी सैनिकों ने राजा को बांध लिया (५१-६४)।

इसी बीच में पृथ्वीराज का सेनानी उदयराज गौड़ वहां आ पहुंचा। उस ने एक महीने तक शकपति की नगरी को रुद्ध किया। क्रुद्ध शकेश ने पृथ्वीराज को किले में चुनवा दिया और वहीं उसकी मृत्यु हुई (६५-७२)। उदयराज ने

भी तदनन्तर युद्ध कर स्वर्ग-यात्रा की (७३)। पृथ्वीराज के बाद हरिराज राजा हुआ। काव्य के श्लोक ७४-८२ में हरिराज का वर्णन है।

चतुर्थ सर्ग का आरम्भ हरिराज के राज्य से है। राजा को प्रसन्न करने के लिए गूर्जरेश ने उस के पास अनेक नवयौवना नर्तकियां भेजी थीं। हरिराज का समय उन्हीं के साथ बीतने लगा। राज्य के प्रवन्ध में शिथिलता आ गई। वेतन ठीक न मिलने से सेवक उसे छोड़ कर जाने लगे और प्रजा उस से विरक्त हो गई। इस स्थिति की सूचना मिलते ही शकेश हरिराज की सीमा पर आ पहुंचा। हरिराज ने पृथ्वीराज की मृत्यु के अनन्तर प्रतिज्ञा की थी कि वह कभी शकों के मुख को न देखेगा। अतः रानियों समेत उसने अग्नि में प्रवेश किया (१-१९)।

स्थिति का विचार कर मंत्रियों ने रणथम्भौर में जाकर पृथ्वीराज के पुत्र गोविंद के यहां शरण ली। अजमेर शकेश के हाथ आया। गोविन्द ने चाचा के और्ध्व दैहिक कार्य किये और सब को समुचित वृत्तिदी (२१-३१)। इस के बाद बाल्लण राजा हुआ। उस के दो पुत्र थे प्रह्लाद और वाग्भट। बाल्लण ने प्रह्लाद को राजा और वाग्भट को प्रधान मंत्री बनाया (३२-४१)। एक बार सिंह का शिकार करता राजा बुरी तरह से जख्मी हुआ। अपने को दुश्चिकित्स्य जान कर उस ने अपने पुत्र वीरनारायण को अभिषिक्त किया। पर वीरनारायण लघु-वयस् था, अतः राजा ने उस का अनुशासन वाग्भट को सौंपा (४२-७७)। वीरनारायण एक बार कछवाहे राजा की पुत्री से विवाह करने आमेर गया। वहां शकराज ने उस पर हमला किया और उसका पीछा करता हुआ रणथम्भौर पहुंचा। जब वह बल से रणथम्भौर को न ले सका तो उसने कपट से काम लिया। राजा उस की बातों में आ गया। उसे यह भी सूझी कि शकराज चाहमानों को वक्षःस्थलपुर के राजा विग्रह के विरुद्ध सहायता देगा। इसलिए वाग्भट की मन्त्रणा के विरुद्ध भी वह दिल्ली गया। इस से अपने को अपमानित समझ कर वाग्भट मालवा चला गया। शकेश ने प्रीति का खूब ढोंग किया; और धोखे से वीर-नारायण को जहर दे कर मरवा डाला। रणथम्भौर शकों के हाथ आया (७८-१०६)।

इधर शकराज के कहने पर मालवे के राजा ने वाग्भट को मारने का प्रयत्न किया। किन्तु वही वाग्भट के हाथों मारा गया और मालवे का राज्य वाग्भट के हाथ आया। जब षर्परों (मुगलों) ने जल्लालदीन पर आक्रमण किया तो वाग्भट ने भी अपनी सेना एकत्रित की और रणथम्भौर को जा घेरा। अन्न-पानादि की कमी से पीड़ित होकर शक वहां से भाग निकले। उस के बाद वाग्भट ने बारह वर्ष तक रणथम्भौर में राज्य किया (१०७-१३०)।

वाग्भट का पुत्र जैत्रसिंह भी प्रतापी राजा था। हम्मीर का जन्म उस की रानी हीरा देवी से हुआ। पिता ने हम्मीर का सात राजकुमारियों से विवाह किया। जैत्रसिंह के दो और पुत्र भी थे। सुरत्राण जो हम्मीर से बड़ा और वीरम जो हम्मीर से छोटा था (१३१–१६०)।

पंचम सर्ग में वसन्त का, छठे में जल-क्रीड़ा का और सातवें में सुरतादि का वर्णन है। आठवें सर्ग की कथा का प्रारम्भ प्रभात के वर्णन से है (१–३५)। तत्कालीन कृत्य को समाप्त कर जब हम्मीर राज-सभा में पहुंचा तो जैत्रसिंह ने उसे राज्य सौंपने का प्रस्ताव किया। हम्मीर को पिता का यह अनुरोध मानना पड़ा। संवत् १३३३ की पौष शुक्ला पौर्णिमा रविवार (१६ दिसम्बर १२८२) मेष लग्न में हम्मीर का राज्याभिषेक हुआ। हम्मीर को उचित उपदेश देकर (३६–१०६) जैत्रसिंह ने आत्महित की साधना के लिए श्री आश्रम नाम के पत्तन के लिए प्रस्थान किया जहां जम्बूमार्ग महादेव का मन्दिर था और सरिद्वरा चम्बल नदी बहती थी। किन्तु वह वहां न पहुंच सका। पल्ली नगरी पहुंचते ही उस का लू-ताप से देहान्त हो गया। विप्र बीजादित्य आदि के समझाने से हम्मीर का शोक कुछ कम हुआ (१०७–१३१)।

नवम सर्ग का आरम्भ हम्मीर की दिग्विजय के वर्णन से है। उस की बहुसंख्यक सेना ने भीमरस के राजा अर्जुन को हराया। उस के बाद मांडलकृत् दुर्ग से कर लेकर वह धारा पहुंचा और परमार राजा भोज को हराया। उज्जयिनी में महाकाल की अर्चना की। वहां से लौट कर उस ने चित्तौड़ को दंडित किया और आबू पहुंच कर अपनी सेना का पड़ाव डाला। उस ने विमल-वसही में ऋषभदेव को प्रणाम किया। वस्तुपाल के मन्दिर को देख कर उसे अत्यन्त आश्चर्य हुआ। उस ने अर्बुदा देवी की अर्चना की और वशिष्ठाश्रम में कुछ समय तक विश्राम कर मन्दाकिनी में स्नान किया। उस ने अचलेश्वर का पूजन किया। आबू के राजा ने उसे खूब धन दिया। वहां से उतर कर उस ने वर्धनपुर को निर्धन और चंगा को रंग रहित बनाया। फिर अजमेर होता हुआ वह पुष्कर पहुंचा। वहां उस ने भगवान वराह का पूजन किया। फिर शाकम्भरी, महाराष्ट्र, खण्डिल्ल, चम्पा आदि को लूटता हुआ वह ककराला पहुंचा जहां त्रिभुवनादि के स्वामी ने उस की अर्चना की। इस प्रकार चारों दिशाओं को विजित कर हम्मीर रणथम्भोर लौटा (१–५१)। पुरोहित विश्वरूप से कोटियज्ञ का फल सुन कर उस ने कोटियज्ञ करने का निश्चय किया। विधिपूर्वक यज्ञ सम्पन्न कर उस ने ब्राह्मणों को प्रभूत हिरण्यमयादि दक्षिणा दी और एक महीने का मुनिव्रत लिया (५२–६०)।

इसी समय दिल्ली में अलाउद्दीन राजा हुआ। उस ने अपने भाई 'उल्लूखान' से कहा, 'पहले रणथम्भौर का स्वामी जैत्रसिंह मुझे कर दिया करता था, हम्मीर तो गर्व-वश मुझ से बात भी नहीं करता। अब वह व्रतस्थ है, इसलिए आसानी से जीता जायेगा। जाओ और रणथम्भौर के आसपास के देश को नष्ट करो।' स्वामी की आज्ञा से उल्लूखां बनास नदी के किनारे पहुचा, किन्तु घाटी के अन्दर वह न घुस सका; वहीं अठारह दिन तक लूट-पाट करता रहा। हम्मीर व्रत के कारण चुप था। इसलिए मन्त्री धर्मसिंह की सलाह से सेनानी भीमसिंह ने शक (मुसलमानी) सैन्य पर आक्रमण किया। शक सेना भाग खड़ी हुई। भीमसिंह वापस लौटा, किन्तु छिपे-छिपे उल्लूखां उस के पीछे लगा रहा। बहुत से राजपूत जीत के उल्लास में आगे बढ़ गये। इधर पहाड़ी घाटी में घुसते समय भीमसिंह ने मुसलमानी फौज से छीने हुए बाजों को बजा डाला। उस की आवाज सुनते ही चारों ओर से मुसलमानी फौज ने उसे आ घेरा। भीमसिंह मारा गया। मुसलमान सेनापति भी दिल्ली वापस लौटा (९१-१५०)।

व्रत के पूर्ण होने पर हम्मीर ने धर्मसिंह को बुला भेजा। 'पीछे आते मुसलमानी सेनापति को न देखना उस की अन्धता थी, और भीमसिंह को छोड़ देना नपुंसकता'। इस तरह धर्मसिंह पर दो दोष लगा कर हम्मीर ने वास्तव में उसे अन्धा और नपुंसक बना दिया। धर्मसिंह का पद उसने खंगग्राही भोजदेव को दिया जिस का उस से वही सम्बन्ध था जो विदुर का पाण्डु से (१५१-१५५)। पर भोजदेव अर्थ-संग्रह में निपुण न था। इसलिए नर्तकी धारा देवी के कहने पर हम्मीर ने फिर धर्मसिंह को पुराने पद पर नियुक्त किया। अनेक प्रकार के अनुचित कर लगा कर धर्मसिंह ने राज-कोश को परिपूर्ण किया। भोजदेव से उस ने हिसाब मांगा, लाचार भोजदेव को अपना सर्वस्व देना पड़ा। राजा को अपने विरुद्ध जान कर भोजदेव काशी-यात्रा के बहाने अपने भाई पीथसिंह को लेकर रणथम्भौर से निकल गया। हम्मीर ने दण्डनायक का पद रतिपाल को दिया (१५६-१८८)।

दसवें सर्ग का नाम 'अलाउद्दीना मर्षणं' है जो उस के विषय के उपयुक्त है। भोज अपमानित हो कर क्रोध से जल उठा और अपमान का बदला लेने के लिए वह दिल्ली पहुंच कर अलाउद्दीन से मिला। प्रसन्न हो कर सुल्तान ने उसे जगरा का स्वामी बना दिया जो किसी समय मुगलों के अधिकार में थी, और कुछ समय के बाद उस से अलाउद्दीन ने भोजदेव से हम्मीर को जीतने का उपाय पूछा। इस पर उस ने हम्मीर के शौर्य की प्रशंसा करते हुए कहा—'जिस से कुन्तल, मध्यप्रदेश, कांची, अंग, वंग, काश्मीर, गूर्जरादि देशों के राजा घबराते

हैं, जिस की सेवा वीरम, महिमासाहि आदि करते हैं, उसे आसानी से किस प्रकार जीता जा सकता है ?' किन्तु उस के नाश का कारण अन्धा धर्मसिंह अब उदित हो चुका है। इस समय नई फ़सल उगी है। उसे जीतना चाहो तो जल्दी सेना भेजो (१-२८)।

उल्लूखान बड़ी सेना के साथ हिन्दूवार पहुँचा। चरों से हम्मीर ने जब यह बात सुनी तो हम्मीर ने उस उल्लूखान के विरुद्ध अपने वीरम आदि आठ योद्धाओं को भेजा। वीरम ने पूर्व से, पश्चिम से महिमासाहि ने, जाजदेव ने दक्षिण से, उत्तर से गर्भसक ने, आग्नेय से रतिपाल ने, तिचर ने वायव्य से, रणमल्ल ने इशान से और नैर्ऋत से वैचर ने खल्जी सैन्य पर आक्रमण किया। खल्जी सेना बुरी तरह हारी। उल्लूखान किसी तरह जीता भाग निकला, किन्तु उस के शिविर को चौहानों ने पूरी तरह लूटा। रतिपाल ने राजा की ख्याति को बढ़ाने के लिए बन्दीकृत मुसलमानी स्त्रियों से गांव-गांव में मठा बिकवाया और राजा ने उस के शौर्य से प्रसन्न होकर यह कहते हुए कि 'यह मेरा मस्त हाथी है' उस के पैरों में सोने की शृंखलाएं डालीं। दूसरों को भी राजा ने प्रचुर पारितोषिक दिया (२९-६४)।

महिमासाहि ने भोज की जागीर जगरा पर आक्रमण करने की अनुमति मांगी। उन के लिए यह असह्य था कि उन के जीते जी कृतघ्न भोजदेव उन की पुरानी सम्पत्ति का उपभोग करे। आज्ञा मिलते ही उन्होंने जगरा को जा लूटा, और सकुटुम्ब भोज के भाई को बन्दी कर रणथम्भौर आ पहुँचे (६५-६८)।

उधर उल्लूखान दिल्ली पहुँच कर जब अपने दुर्भाग्य की कथा कह रहा था, भोजदेव भी वहां पहुँचा। उस के रुदन ने अलाउद्दीन की कोपाग्नि में घृत की आहुति का काम दिया। सुल्तान ने कहा, 'भोज, शोक छोड़ो। हम्मीर ने सोते सिंह को जगाया है। हम्मीर कहीं भी हो, मैं उसे पकड़ और नष्ट किए बिना न छोड़ूंगा (६९-८८)।'

ग्यारहवें सर्ग में मुसलमानी सेना द्वारा रणथम्भौर के विफल रोध और 'निसुरतखान' की मृत्यु का वर्णन है। भारत के सभी भागों से यवन सेना एकत्रित हुई। अलाउद्दीन के छोटे भाई 'उल्लूखान' और 'निसुरतखान' उस के अध्यक्ष बने। पहाड़ी घाटी के पास पहुँच कर उन्होंने अपने दूत माल्हण को सन्धि के लिए हम्मीर के पास भेजा। इसी बहाने अन्दर घुस कर उल्लूखान ने अपनी सेना को मण्डप दुर्ग में, मुण्डी और प्रतोली में निसुरतखान की फौज को और जैत्रसर के पास दूसरों की फौजें रखीं। यह सोच कर कि पहाड़ियों में घुसी सेना सुसाध्य होगी, राजपूतों ने इस की विशेष परवाह न की (१-२४)।

माल्हण ने रणथम्भोर पहुँच कर हम्मीर से कहा, 'जिस अलाउद्दीन ने देवगिरि जैसे दुर्ग्राह्य दुर्गों को लीला मात्र से जीत लिया है, उस के छोटे भाई उल्लूखान और निसुरतखान ने उसी की आज्ञा से कहलाया है, 'हे हम्मीर, यदि तेरी राज्य करने की इच्छा है तो लक्ष स्वर्ण, चार हाथी, तीन सौ घोड़े, और अपनी पुत्री देकर हमारी आज्ञा का पालन कर। यह भी शायद छूट सके। मेरी आज्ञा को प्रलुप्त करने वाले चार मुगलों को देकर तुम राज-लक्ष्मी का आनन्द लो।' क्रोध से आविष्ट हो कर हम्मीर ने उत्तर दिया, 'यदि तुम दूत के रूप में ये बातें न कहते तो मैं तुम्हारी ज़बान निकलवा डालता। चाहमान के जीते उस का धन कोई नहीं छू सकता। मैं तुम्हारे स्वामी को एक विंशोपक मुद्रा का शतांश भी न दूंगा। शरणागत मुगलों को मांगने वाले तुम्हारे स्वामी तो मूर्खराज हैं।' (२५-६९)

दुर्ग में युद्ध की तैयारी हुई। मुसलमानों ने बाण, अग्निबाण, पत्थर आदि चलाए और राजपूतों ने भी। कई ने दीवारों को खोद कर, कई ने सीढ़ियों द्वारा चढ़ कर गढ़ लेने का प्रयत्न किया। परन्तु ये सब प्रयत्न विफल हुए। एक दिन दो गोले परस्पर भिड़ गए और उन के एक टुकड़े की चोट से निसुरतखान मारा गया। उल्लूखान ने उस का शरीर दिल्ली भिजवा दिया। उस के अन्तकृत्य के बाद स्वयं अलाउद्दीन ने रणथम्भोर के लिए प्रस्थान किया (७०-१०३)।

बारहवें सर्ग का मुख्य विषय हम्मीर और अलाउद्दीन का दो दिन का संग्राम है। अलाउद्दीन रणथम्भोर पहुंचा। वीर क्षत्राणियों ने युद्ध के लिए अपने स्वजनों को विदा दी। पहले दिन घनघोर युद्ध हुआ और इसी तरह दूसरे दिन भी। इस युद्ध में ८५००० यवन योद्धा मारे गए।

तेरहवें सर्ग में अवशिष्ट कथा का और हम्मीर के स्वर्ग-गमन का वर्णन है। एक दिन हम्मीर ने दुर्ग पर ऐसे स्थान पर शृंगार-सभा की जो मुसलमानी शिविर से दिखाई पड़ती थी। वहां ताण्डव करती हुई रम्भा ने ताल-समाप्ति के समय अधःस्थ शकेन्द्र को अपना पश्चाद्-भाग दिखाया। इस से खिन्न सुल्तान ने उड्डानसिंह को रम्भा पर बाण चलाने की आज्ञा दी। बाण से बिद्ध हो कर रम्भा तलहटी में जा गिरी। महिमासिंह की इच्छा थी कि इस का बदला अलाउद्दीन को मार कर ले, किन्तु हम्मीर की आज्ञा से उस ने उड्डानसिंह को ही मारा। इससे चकित हो कर शकेश्वर ने तालाब के अग्रिम भाग को छोड़ कर अपना शिविर पीछे की ओर कर लिया (१-३८)।

अलाउद्दीन ने कई धावे किये, सुरंग लगाई और मिट्टी, पत्थर, लकड़ी के टुकड़ों और पूलियों से खाई को भरा। कई महीने में जब ये दो काम सिद्ध हुए

तो मुसलमानों ने फिर धावे किए। हम्मीर ने अग्नि के गोलों से परिखा में एकत्रित लकड़ी आदि को जला डाला और सुरंग में लाक्षा युक्त खौलता तेल डाला जिस से मुसलमानी सैनिक जल-भुन गए (३९–४७)।

वर्षाकाल आ गया। सैनिक थक गए। तब दूतों द्वारा अलाउद्दीन ने रतिपाल को बुला भेजा। हम्मीर ने भी उसे जाने की अनुमति दी। सुल्तान ने रतिपाल का अच्छा सत्कार किया; और रणथम्भौर का राज्य देने का आश्वासन दे कर उसे अपनी ओर कर लिया। रणथम्भौर पहुंच कर विरोध को और भड़काने की इच्छा से उस ने हम्मीर से कहा—'शकेन्द्र आप की पुत्री मांग रहा है। मैं तो उसे धमका कर चला आया हूँ। रणमल्ल कुछ रुष्ट हैं। आप पांच-छः आदमियों के साथ जाकर उसे मना लें।' वीरम को रतिपाल पर सन्देह हुआ। किन्तु राजा ने लोकापवाद के भय से केवल संशय के आधार पर रतिपाल के हर्ष का पूरा दण्ड देना उचित नहीं समझा। अन्तःपुर में जब यह वार्ता पहुंची कि शकेन्द्र पुत्री को मांगता है तो देवल्ल देवी इस आत्मोत्सर्ग के लिए तैयार हो गई। किन्तु मनस्वी हम्मीर ने कन्या के प्रस्ताव को ठुकरा दिया (४८–१२९)।

उधर रतिपाल ने रणमल्ल से जा कर कहा, 'तुम क्या सुख से बैठे हो? राजा कई आदमियों को लेकर तुम्हें पकड़ने आ रहा है।' राजा को उसी तरह आता देख वह डर के मारे किले से उतर गया और शत्रु से जा मिला। इसी तरह रतिपाल भी अलाउद्दीन के पास जा पहुँचा (१३०–१३५)।

इसी बीच में हम्मीर ने कोशाधिकारी जाहड़ से पूछा, 'हमारे कोश में कितना अन्न है?' जाहड़ ने यह सोच कर कि झूठमूठ अन्नाभाव की सूचना देने से राजा शत्रु से सन्धि कर लेगा, उत्तर दिया कि अन्न सर्वथा समाप्त है (१३६–१३८)।

अब हम्मीर को सब पर सन्देह होने लगा। प्रातःकाल सभा में उस ने महिमासाहि से कहा, 'हम तो अपनी भूमि के लिए प्राणों का भी त्याग करते हैं। यह क्षत्रियों का सनातन धर्म है। किन्तु तुम विदेशी हो। आपत्ति के समय तुम्हारा यहां रहना ठीक नहीं है। जहां जाना उचित समझो, चले जाओ। राजा के वचनों से महिमासाहि ने कहा, 'ऐसा ही होगा', और घर जा कर अपने कुटुम्बियों को तलवार की धार उतार दिया। फिर आकर उसने हम्मीर से कहा, 'तुम्हारी भाभी जाने से पूर्व एक बार तुम से मिलना चाहती है। बिना मिले जाने से उस के हृदय में सदा पश्चाताप रहेगा।' हम्मीर ने महिमासाहि के भवन में जब स्त्रियों और बच्चों के सिरों को खून में तैरते देखा तो वह मूर्च्छित हो

कर गिर पड़ा। विमूर्च्छित होने पर उस ने महिमासाहि के गले लग कर बहुत विलाप किया (१३६–१६८)। किन्तु अब क्या बन सकता था?

वहां से लौटने पर हम्मीर ने देखा कि कोष्ठ अन्न से परिपूर्ण हैं। जाहड़ से पूछने पर उसे सब बात मालूम हुई। उस ने नागरिकों को निकल जाने के लिए धर्मद्वार खोल दिया और रानियों को अग्नि-प्रवेश की आज्ञा दी। स्वयं सब विषाद छोड़ कर वह पद्मसर के किनारे जा बैठा (१६८–१७२)।

रंगदेवी आदि रानियों ने सुन्दर-सुन्दर वस्त्र और आभूषण धारण किए। राजा ने अपनी वेणी काट कर उन्हें दी। राजकुमारी देवल्ल देवी ने भी उन के साथ चिता में प्रवेश किया (१७३–१८६)।

वीर राजा ने रानियों को अन्त्याञ्जलि दी—इस आशय से कि शत्रु के हाथ में कुछ न पड़ सके, उसने नौ हाथियों के मस्तक भी काट डाले। जब वीरम ने राज-पद स्वीकार न किया, तो राजा ने चाहमान जाजा को राज्य दिया और सब द्रव्य पद्मसर में फेंक कर कोष्ठाधिकारी जाहड़ को प्राण-दण्ड दिया। श्रावण शुक्ल पक्ष की षष्ठी, रविवार के दिन, रात्रि के समय, नौ वीर—वीरम, सिंह, टाक गंगाधर, राजद, चारों मुगल भाई, और क्षेत्रसिंह परमार हम्मीर के साथ युद्ध में उतरे। सब से पहले वीरम ने वीर-गति प्राप्त की। महिमासाहि के मूर्च्छित होने पर स्वयं हम्मीर ने युद्ध किया और शत्रु के हाथ में न पड़ने का निश्चय कर अपने हाथ ही गला काट कर प्राण-त्याग किया।

चतुर्दश सर्ग में हम्मीर के गुणों की स्तुति और कथा का उपसंहार है। जाजा धन्य है जिस ने हम्मीर की मृत्यु के बाद भी दो दिन तक दुर्ग का त्राण किया। स्वामी के बार-बार कहने पर भी जाजा ने वहीं जम कर युद्ध किया। महिमासाहि भी धन्य है जिस ने हम्मीर की मृत्यु के बाद भी सुल्तान के यह पूछने पर कि उसे जीवित रहने दिया जाए तो वह क्या करेगा, यही उत्तर दिया कि वही जो सुल्तान ने हम्मीर के लिये किया था। यह भी उचित हुआ कि सुल्तान ने युद्ध में हम्मीर के सिर को पैर से दिखाने वाले रतिपाल की खाल खिंचवा डाली।

प्रशस्तिभाग में कवि का परिचय है। कृष्णगच्छ में जयसिंह सूरि हुए जिन्होंने षड्भाषा कवि चक्रवर्ती प्रामाणिकाग्रेसर सारंग को विवाद में हराया। जयसिंह ने न्यायसार की टीका, नवीन व्याकरण और कुमारपाल के चरित का प्रणयन किया। इन के शिष्य प्रसन्नचन्द्र, और प्रसन्नचन्द्र के शिष्य नयचन्द्र सूरि थे जिन्होंने इस काव्य की रचना की। ये जयसिंह के पौत्र होते हुए भी काव्य-कला में उन के पुत्र थे। तोमर राजा वीरम के सभासदों के यह कहने पर कि अब

पूर्व कवियों के समान कोई रचना नहीं कर सकता, नयचन्द्र कवि ने इस काव्य की रचना की।

इतिहास की दृष्टि से विवेचन

काव्य की दृष्टि से यह सफल कृति है। श्री नयचन्द्र के एक शिष्य के शब्दों में इस में 'अमर का-सा लालित्य और हर्ष की-सी वक्रिमा है।' यह व्यर्थ के शब्दाडम्बर से शून्य और अर्थालंकारों से परिपूर्ण है। इस का काव्य-सौष्ठव स्वतः अच्छा विवेच्य विषय है, किन्तु अभी हम इस का केवल इतिहास की दृष्टि से विवेचन कर रहे हैं। नयचन्द्र ने कई शब्दों का ऐसे अर्थों में प्रयोग किया है जिन्हें वर्तमान इतिहासविद् शायद ठीक न समझें। मुसलमानों के लिए उस ने शक, तुरुष्क और यवन शब्दों का प्रयोग किया है। मुगलों को वह घटैकदेशीय या षर्प्पर पद से अभिहित करते हैं। मुसलमानी नाम अशुद्ध रूप में हैं, चाहे उन्हें पहिचानना कठिन न हो। सहाबदीन या शहाबदीन, जल्लालदीन, अल्लाव-दीन, उल्लूखान, महिमासाहि, गर्भरूक, तिचरु, वैचर, निसुरतखान आदि शब्द क्रमशः शिहाबुद्दीन, जलालुद्दीन, अलाउद्दीन, उलुग़खान, मुहम्मदशाह, कामरू, यलचक, बर्क और नुसरतखान हैं। दिल्ली और योगिनीपुर दिल्ली के पुराने नाम हैं। हम्मीरमहाकाव्य को पढ़ते समय पाठक शुद्ध नामों को ध्यान में रख सकते हैं। हमने प्रायशः नयचन्द्र सूरि द्वारा प्रयुक्त नामों को ही दिया है।

प्रथम और द्वितीय वर्ग की कथा कुछ अंश में पृथ्वीराज-विजय की कथा से मेल खाती है। पृथ्वीराज-विजय में भी चाहमान के सूर्यमण्डल से अवतरण की कथा है। उस में भी वर्णित चाहमान राजा वासुदेव है। किन्तु उस के बाद का हम्मीरमहाकाव्य का वंशक्रम कुछ अस्तव्यस्त है। हर्षनाथ का शिलालेख (वि० सं० १०३०), बिजोल्या का शिलालेख (सं० १२२६) और पृथ्वीराज-विजय (लगभग सं० १२४८) के आधार पर ठीक वंशावली निम्नलिखित रूप में की जा सकती है—

चाहमान
|
वासुदेव
|
सामन्त, जो अनन्त देश का सामन्त था
|
नरदेव, जिस ने पूर्णतल्ल में राज्य किया

जयराज
|
विग्रहराज (प्रथम)
|
चन्द्रराज (प्रथम)
|
गोपेन्द्रराज
|
दुर्लभराज (प्रथम) जिस की सेना गंगासागर तक पहुँची
|
गूवक (प्रथम) यह नागभट्ट द्वितीय का ख्याति-
| प्राप्त सामन्त था। हर्षनाथ का मन्दिर प्रथमतः
| इसी ने बनवाया था।
चन्द्रराज (द्वितीय)
|
गूवक (द्वितीय) जिस ने अपनी बहिन कलावती का
| विवाह कान्यकुब्ज के सम्राट (भोज प्रथम) से
| किया।
(महाराज) वाक्पतिराज (वप्पराज) जिस ने १८८
| युद्धों में विजय प्राप्त की।[1]
(महाराजाधिराज) सिंहराज (जिस का वि० सं०
| १०१३ का थांवले का लेख प्राप्त है) इस ने
| तंवर राजा सलवण का वध किया। हर्षनाथ का
| जीर्णोद्धार इसके समय हुआ।
|
परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर विग्रहराज
| (द्वितीय) जिस ने गूर्जरराज मूलराज को हराया।[2]
दुर्लभराज (द्वितीय) जो दुर्लंघ्यमेरु के नाम से प्रसिद्ध
| था और जिस ने नाडोल के राजा महेन्द्र को
| अभिभूत किया।

---

[1]. इस के बाद बिजोल्या के शिलालेख में विन्ध्य नृपति का नाम है।

[2] हर्षनाथ का वि० सं० १०३० का शिलालेख इसी के समय का है।

गोविन्दराज – इस की पदवी बैरिघरट्ट थी ।

(१) वाक्पतिराज (द्वितीय) जिस ने आघाट के स्वामी अम्बाप्रसाद को युद्ध में मारा ।

(२) वीर्यराम जो परमार राजा भोज के हाथों मारा गया ।

(३) चामुण्डराय

दुर्लभराज (तृतीय)[1] जो मातंगों से युद्ध करता काम आया (यह मातंगाधिराज सम्भवत: गज़नी का शासक इब्राहीम था)

विग्रहराज (तृतीय) जिस की सहायता से उदयादित्य परमार ने कर्ण चौलुक्य को पराजित किया (बीसलदेव रासा का बीसल शायद यही हो ।)

परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर पृथ्वीराज (प्रथम) जिस के राज्य का वि० सं० ११६२ का एक अभिलेख प्राप्त है । इस ने ग़ज़नी के अमीर की सेना को हराया ।

अजयराज–जिस ने मालवराज नरवर्मा को हराया, गज़नी के मातंगों को पराजित किया, अजयमेरु (अजमेर) नगर बसाया और अपनी तथा अपनी रानी सोमल्लदेवी के नाम से मुद्राएं चलाईं ।

अर्णोराज – जिस ने मुसलमानों को अजमेर के निकट परास्त कर उस युद्ध के मैदान में आनासागर झील खुदवाई । मालवे के राजा नरवर्मा को हराया । सिन्धु और सरस्वती तक धावा किया और हरियाने के तंवरों को हराया । द्वयाश्रय काव्य से हमें ज्ञात है कि वह गुजरात के राजा कुमारपाल से हारा ।

---

[1] बिजोल्या के शिलालेख में चामुण्डराय और दुर्लभराज के बीच में सिंहट का नाम है जो शायद दुर्लभराज का बड़ा भाई हो ।

अर्णोराज

(१) जगदेव–यह पिता को मार कर गद्दी पर बैठा।

(२) विग्रहराज (चतुर्थ), बीसलदेव, जिस ने कुमारपाल के राज्य के अनेक भागों को लूटा, चित्तौड़ पर अधिकार जमाया, भादाणकों को पराजित किया, दिल्ली के तंवरों को अधीन कर हांसी पर अधिकार किया और मुसलमानी आक्रमणकारी (गज़नी के अमीर खुसरो शाह) को हराया। उस ने अनेक दुर्ग बनवाए। वह साहित्य का परम अनुरागी, स्वयं संस्कृत का अच्छा कवि, कवि-पण्डित-बन्धु और कला-प्रिय नरेश था। उस की प्रकृष्ट अभिलाषा थी कि आर्यावर्त वास्तव में आर्यावर्त रहे।

(३) अमरगांगेय

(४) पृथ्वीराज द्वितीय यह अमरगांगेय को हरा कर गदी पर बैठा।

(५) सोमेश्वर कर्पूरदेवी जो कलचुरि अचलराज की पुत्री थी।

(सोमेश्वर और कर्पूरदेवी की संतान:)

- पृथ्वीराज (तृतीय)¹
- हरिराज

---

¹ 'हम्मीरमहाकाव्य' का पृथ्वीराज द्वितीय।

इस वंशावली के आधार पर 'हम्मीरमहाकाव्य' की अशुद्धियां और कमियां किसी अंश में पूरी की जा सकती हैं। चक्री जयपाल को अजयमेरु का संस्थापक मानने में नयचन्द्र ने भूल की है। वास्तव में इस नगर के निर्माण का श्रेय अर्णोराज के पिता अजयराज को है जिस का देहान्त वि० सं० ११६० से कुछ पूर्व हुआ। जयराज चक्री नाम के राजा का बिजोल्या अभिलेख और पृथ्वीराज-विजयादि के वर्णन में अभाव है। सांभर से नमक निकालने का भी श्रेय पृथ्वीराज-विजय के आधार पर वासुदेव को मिलना चाहिए, वप्रराज या वप्पराज को नहीं। वप्रराज के पुत्र हरिराज को हम कल्पित न मानें तो यह बिजोल्या के विन्ध्यनृपति का दूसरा नाम हो सकता है। किन्तु उस का शकाधिराज को हरा कर मुग्धपुर पर अधिकार करना निरी कल्पना है। सिंहराज प्रतापी राजा था। किन्तु नयचन्द्र का यह कथन कि उस के प्रयाण-ढक्का के वादन से कर्णाट अंगादि देशों के राजा कांप उठते थे, अतिशयोक्ति मात्र है। हेतिम नाम के शकाधिराज की सत्ता भी जन-मानस की निरी कल्पना ही प्रतीत होती है।

शाकम्भरी में चार विग्रहराज या वीसल हुए हैं। नयचन्द्र ने उन की घटनाएं उल्टी-सीधी कर दी हैं। वास्तव में विग्रहराज द्वितीय ने मूलराज द्वितीय को हराया; मारा किसी ने भी नहीं। विग्रहराज तृतीय या विश्वल का सम्बन्ध शायद मालवे से रहा हो। म्लेच्छों को पराजित करने वाला विग्रहराज चतुर्थ था। चामुण्डराज का विरोधी हजिमदीन इतिहास को अज्ञात है। चामुण्डराज का पुत्र दुर्लभराज तृतीय मुसलमानों के हाथों मारा गया; उस ने स्वयं किसी शिहाबुद्दीन नाम के मुसलमानी शासक को नहीं पकड़ा। इन दो सर्गों के पढ़ने से स्पष्ट है कि पृथ्वीराज से पूर्व के चाहमान राजाओं का नयचन्द्र को कुछ विशेष ज्ञान न था। उन के विषय में जैसा सुना, वैसा उस ने लिख दिया है। इस से उस के वर्णन में सत्य और असत्य, दोनों को ही स्थान मिला है।

तीसरे सर्ग में हम्मीर महाकाव्य ने पृथ्वीराज के बारे में कुछ बातें ऐसी दी हैं जो अन्यत्र नहीं मिलतीं, कुछ ऐसी भी हैं जो नयचन्द्र से छूट गई हैं। पृथ्वीराज के भादानकों, चौलुक्यों, और गुडपुर के नागार्जुन से युद्धों का वर्णन इस में नहीं है। किन्तु मुल्तान के आसपास के राजाओं का पृथ्वीराज से सहायता मांगना असत्य प्रतीत नहीं होता। शकेश के खर्प्परेश के पास सहायता के लिए पहुंचने का मतलब शायद यही हो कि सन् ११९१ में पृथ्वीराज से पराजित हो कर शिहाबुद्दीन ने अपने बड़े भाई गौर नरेश अलाउद्दीन से युद्ध सामग्री की प्रार्थना की हो। मुसलमानी इतिहासों से यह समर्थित है कि पृथ्वीराज के गले में धनुष की प्रत्यंचा डाल कर ही एक मुसलमान सैनिक ने उसे पकड़ा था।

गौड़ सामन्त उदयराज भी ऐतिहासिक व्यक्ति प्रतीत होता है।

चतुर्थ सर्ग में वर्णित घटनाएं प्राय: ठीक हैं। हरिराज का अन्त वास्तव में दयनीय था। उस के बाद चौहान-राज्य रणथम्भौर में चलता रहा। गोविन्द को पृथ्वीराज का पौत्र और हरिराज का पुत्र लिख कर कवि ने कुछ अड़चन पैदा कर दी। गोविन्द सम्भवत: पृथ्वीराज का पुत्र रहा हो। राज्यारूढ़ होने के समय उस की अवस्था भी कुछ अधिक नहीं रही होगी।

गोविन्द से हम्मीर तक 'हम्मीर-महाकाव्य' रणथम्भौर के इतिहास का मुख्य आधार है। इस के लिए नयचन्द्र सूरि के पास पुष्कल सामग्री रही होगी। हम ने काव्य में वर्णित अनेक घटनाओं को मुसलमानी इतिहासकारों के कथन से तुलना करने पर सर्वथा सत्य पाया है।[1] नयचन्द्र ने वाग्भट के प्रतापयुक्त राज्य का वर्णन किया है। मुसलमानी तवारीखों से हमें ज्ञात है कि वह वास्तव में अपने समय का सब से प्रतापी उत्तर भारतीय राजा था।

आठवें सर्ग में वाग्भट के पौत्र हम्मीर के राज्याभिषेक का सम्वत् नयचन्द्र ने सं० १३३९ दिया है जो प्रबन्धकोश के अन्त में दी हुई राज-सूचियों की तिथि सं० १३४२ से भिन्न है। दोनों की संगति तब ही हो सकती है जब हम यह मानें कि हम्मीर को अभिषिक्त करने के बाद जयसिंह तीन वर्ष तक जीवित रहा हो। जम्बूमार्ग महादेव जिस के लिए जैत्रसिंह ने प्रस्थान किया था सम्भवत: पार्वती और चम्बल नदियों के संगम पर स्थित थे। ब्रह्मविद् बीजादित्य का नाम जिस ने जैत्रसिंह की मृत्यु पर हम्मीर को धैर्य बंधाया, हमें बलबन के शिलालेख से भी ज्ञात है।

नवें सर्ग की दिग्विजय की कथा अधिकांश में ठीक है। किन्तु यह सम्भव है कि कवि ने एक से अधिक विजययात्राओं को मिला कर दिग्विजय का स्वरूप दिया हो। अमीर खुसरो ने हम्मीर के एक सेनानी का जिक्र किया है जिस ने मालवा और गुजरात तक धावे किए थे।[2] सम्भवत: वही हम्मीर-महाकाव्य का सेनानी भीमसिंह है जो बनास के निकट वाली घाटी की लड़ाई में काम आया। हम्मीर के वि० सं० १३४५ के शिलालेख में भी विशेष रूप से अर्जुन को पराजित कर मालव देश की लक्ष्मी के ग्रहण का वर्णन है। अन्य विजित स्थानों में से कुछ की पहिचान कठिन है। किन्तु भीमरस शायद मालवे में रहा होगा।

---

[1] देखें, Early Chauhan Dynasties, pp. 100–119

[2] देखें, हम्मीरायण में हमारी भूमिका, पृष्ठ–१११।

उस के राजा अर्जुन से हम्मीर ने चार हाथी छीने थे। मण्डलकृत की पहचान माण्डलगढ़ से हो सकती है और माण्डू से भी। माण्डू शायद ठीक हो। यहीं से बढ़ कर हम्मीर ने धाराधीश भोज पर आक्रमण किया था। नयचन्द्र के वर्णन के अनुसार हम्मीर ने उज्जयिनी में महाकाल का पूजन कर मुड़ते समय चित्तौड़ और आबू से कर वसूल किया। चित्तौड़ का समसामयिक राजा समरसिंह और आबू का प्रतापसिंह परमार था। वर्धनपुर बदनौर है और चंगा इसी नाम का मेरों का दुर्ग है। महाराष्ट्र, मरोठ; चम्पा, चाटसू और खंडिल्ल खंडेला हैं। कर्कराला तहनगढ़ के यादवों का दुर्ग था।

हम्मीर-महाकाव्य में एक ही कोटि-यज्ञ का वर्णन किया है। हम्मीर के वि० सं० १३४५ के शिलालेख में दो कोटि-यज्ञों का उल्लेख है। यज्ञ के साथ ही कवि ने अलाउद्दीन का प्रसंग भी रख दिया है। किन्तु वास्तव में उस समय दिल्ली के सिंहासन पर पहले कैकुबाद और बाद में जलालुद्दीन खल्जी बैठा और इसी जलालुद्दीन के समय से ही रणथम्भौर पर खल्जी-आक्रमण शुरू हुए। जिस खल्जी आक्रमण में भीमसिंह मारा गया वह वास्तव में जलालुद्दीन खल्जी का आक्रमण था और जैसा हम ऊपर कह चुके हैं यही 'सेनानी भीमसिंह' अमीर खुसरो के 'मिफूता' उलफ़ूतूह का 'साहणी' था, जो हिन्दू नहीं अपितु लोहे का पहाड़ था।[1]

मुहम्मद शाह और उस के भाइयों की रणथम्भौर में शरण लेने की कथा नयचन्द्र ने नहीं दी है। कारण शायद यह हो कि उस के समय बच्चा-बच्चा इस बात से परिचित था। बात यह थी कि गुजरात और सौराष्ट्र की विजय के बाद जब उलूग़ख़ां दिल्ली वापस जा रहा था तो जालोर-राज्य के सिराणा गांव के निकट उस ने सैनिकों को लूट का सब माल वापस करने के लिए विवश किया। इस से क्रुद्ध होकर कमीजी (हम्मीर महाकाव्य के काम्बोज कुलीन) मुहम्मदशाह, कामरू, यलचक और बर्क रात को उलुग़ख़ां के तम्बू में जा घुसे। किन्तु भाग्य-वशात् उलुग़ख़ां बच गया। अनेक स्थानों पर शरण लेने का प्रयत्न करने के बाद उन्होंने हम्मीर के दरबार में शरण प्राप्त की।[2] इन्हें अपने दरबार में रखना हम्मीर और अलाउद्दीन के संघर्ष का तात्कालिक कारण बना। वैसे भी इन

---

[1] विशेष विवेचन के लिए देखें हम्मीरायण की भूमिका, पृष्ठ ११६।

[2] हंम्मीरायण की भूमिका में फ़ुतूहुस्सलातीन और तारीख फिरोजशाही आदि के अवतरण। सादूळ राजस्थानी इंस्टीट्यूट द्वारा प्रकाशित हम्मीरायण में हम्मीर सम्बन्धी साहित्य संगृहीत है।

उच्चाभिलाषी और स्वाभिमानी शासकों का संघर्ष अवश्यंभावी था। बिना हम्मीर को पराजित किए कौन ऐसा शासक था जो आर्यावर्त का सम्राट होने का दावा कर सके ?

हम्मीर की पराजय के अनेक कारण थे। नयचन्द्र सूरि ने उस की राजनीतिक भूलों का तो उल्लेख किया ही है, साथ ही जनता को रुष्ट करने वाली उस की आर्थिक नीति का भी उस ने अच्छा वर्णन किया है। धर्मसिंह ने राजा को उल्टे रास्ते डाल कर अपने अपमान का भयंकर वदला लिया। नयचन्द्र के कथनानुसार जैत्रसिंह ने राज्यत्याग करते समय हम्मीर से कहा था, प्रजा से इस तरह कर लेने चाहिए जिस से उन्हें पीड़ा न हो। क्या पुष्प चुनने वाली पुष्पों को इस तरह नहीं चुनती कि उन्हें बाधा न हो ? सर्वस्वनाश होने पर भी मनुष्य कुल में विरोध उत्पन्न न करें। कुल के विरोध ने क्या दुर्योधन को नष्ट न कर दिया ? राजा माता के समान प्रजा का हितकर है। नियोगी वर्ग सपत्नी के तुल्य है। मां उस के हाथ यदि सन्तान को सौंप दे तो उस की कहां से वृद्धि और कहां से जीवन हो सकता है ? जिसका पहले अपकार किया हो उसे कभी प्रधान पद न दो, ऐसा व्यक्ति युगान्तर में भी विरोध-भाव को नहीं छोड़ता।[1]

यह उपदेश जैत्रसिंह ने दिया हो, या न दिया हो, घटनाएं तो वास्तव में इसी रूप में घटित हुई। हम्मीर ने अपकृत धर्मसिंह को फिर प्रधान पद दिया। अपने ही कुल के खड्गधर भोज से उस ने विरोध किया। नियोगी वर्ग ने उस के समय में काफी मनमानी की। प्रजा करों के बोझ से पीड़ित हुई। हम्मीर विषयक अन्य ग्रन्थों को देखने से भी इसी धारणा की परिपुष्टि होती है कि हम्मीर के अन्तिम समय प्रजा बहुत-कुछ उस से विरक्त हो चुकी थी।

दसवें सर्ग में वर्णित खल्जी सेना की हार और मुगल भाइयों द्वारा जगरा की लूट का वर्णन मुसलमानी तवारीखों में नहीं मिलता। किन्तु इसे असत्य या कल्पित मानने के लिए कोई सबल कारण नहीं दिया जा सकता।

ग्यारहवें सर्ग की कथा प्रायशः हिन्दू और अहिन्दू लेखकों द्वारा समर्थित है। इसामी ने लिखा है कि हम्मीर ने उलुग़खां और नुसरतखां के दूत से कहा था जो मेरी शरण में आ चुका है मैं उसे किसी प्रकार हानि नहीं पहुंचा सकता, चाहे प्रत्येक दिशा से इस किले पर अधिकार जमाने के लिए तुर्क एकत्रित क्यों

---

[1] ८–८७–१०२।

न हो जायं ? हम्मीर-महाकाव्य का सा विशद गढ़रोध का वर्णन अन्यत्र प्राप्य नहीं है। किन्तु इस का एक-एक शब्द मुसलमानी तवारीख़ों और हिन्दू-काव्यों के वर्णन से समर्थित है। गढ़ के रोध में संलग्न अपने अनुज नुसरतखां की मृत्यु के बाद मुसलमानी सैन्य का हौंसला बढ़ाने के लिए यह आवश्यक हुआ कि स्वयं अलाउद्दीन यह कार्य अपने हाथ में ले।

बारहवें सर्ग में विवेच्य वस्तु कुछ नहीं है। युद्ध में मारे हुए यवन योद्धाओं की संख्या को ८५००० बताना अत्युक्ति है।

तेरहवें सर्ग में नर्तकी धारा के मरण की कथा है। यह हम्मीरायण आदि काव्यों में भी प्राप्य है। इस कथा की वास्तविकता के बारे में कोई निश्चित मत देना कठिन है। प्रायः ऐंसी ही कथा कान्हड़दे प्रबन्ध में भी है।

जिस वीरता से किले वालों ने मुसलमानी हमलों का उत्तर दिया उस का वर्णन हम्मीर महाकाव्य के अतिरिक्त अनेक अन्य काव्य और मुसलमानी तवारीखों में भी प्राप्त है। फुतूहुस्सलातीन से भी हमें ज्ञात है कि मुसलमानी सैनिकों ने चमड़े और कपड़े के थैले बना कर खाई को पाटने का प्रयत्न किया था। तारीखे-फरिश्ता में भी ऐसा ही वर्णन है। और राजस्थानी कवि भाण्डउ ने तो परिखा को भरने का बड़ा मनोरंजक दृश्य उपस्थित किया है, जिसे स्थानाभाव के कारण यहां नहीं दिया जा रहा है।[1] अमीरखुसरो के कथनानुसार मुसलमानी सेना रजब से जीकाद (मार्च से जुलाई) तक किले को घेरे रही। 'किले से बाणों की वर्षा होने के कारण पक्षी भी न उड़ सकते थे। इस कारण शाही बाज़ भी वहां तक न पहुंच सकते थे।'

अन्ततः अलाउद्दीन सफल हुआ। इस के दो कारण थे, दुर्ग में अन्न की कमी और रतिपालादि का विश्वासघात। नयचन्द्र सूरि ने केवल दूसरे कारण पर बल दिया है। किन्तु हिन्दू और अहिन्दू सभी लेखकों के प्राप्य अवतरणों की तुलना करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि—

१. घेरे से दुर्ग की स्थिति विषम हो चली थी, तो भी हम्मीर ने लगातार युद्ध किया और मुसलमानों को गरगचों तथा पाशेबों के प्रयोग से गढ़ न लेने दिया।

२. दुर्ग में दुर्भिक्ष की स्थिति वास्तव में उत्पन्न हो गई थी। किन्तु बर्नी आदि के कथनानुसार मुस्लिम सेना घेरे से तंग आ चुकी थी। अला-

---

[1] देखें हम्मीरायण की भूमिका, पृष्ठ १२६।

उद्दीन को आन्तरिक स्थिति का पता न चलता तो दुर्गस्थ लोगों को आशा थी कि सुल्तान घेरा उठा लेगा ।

३. इस स्थिति में सुल्तान ने कूटनीति का प्रयोग किया । उस ने रतिपाल, रणमल्ल आदि को फोड़ लिया । उन्हीं से दुर्ग की आन्तरिक स्थिति का उसे ज्ञान हुआ ।

४. दुर्ग का पतन १० जुलाई, सन् १३०१ के दिन हुआ ।

चतुर्दश सर्ग में वर्णित घटनाएं भी तथ्यमयी हैं । इस अन्तिम युद्ध में केवल नौ व्यक्ति हम्मीर के साथ थे । तारीख़े फरिश्ता और तबकाते-अकबरी में मुहम्मद शाह के वीरोचित उत्तर का उल्लेख है । अलाउद्दीन ने क्रुद्ध होकर उसे हाथी से कुचलवा दिया, परन्तु अच्छी तरह दफनाया । स्वामीभक्ति की वह कद्र करता था । रणमल्ल, रतिपाल और उन के साथियों को सुल्तान ने मरवा दिया । फिरिश्ता के शब्दों में अलाउद्दीन का विचार था कि 'जो लोग अपने चिरंतन स्वामी को धोखा देते हैं, वे किसी दूसरे के नहीं हो सकते ।' जाजा का चित्र भी जिन ओजस्वी शब्दों में नयचन्द्र सूरि ने प्रस्तुत किया है वह उन के योग्य था । हम्मीर की तरह जाजा भी जनमानस में अमर है ।[1]

ऊपर के विवेचन से सिद्ध है कि भारतीय ऐतिहासिकों में हम नयचन्द्र सूरि को अच्छा स्थान दे सकते हैं । पहले दो सर्गों में वर्णित घटनाओं में अवश्य अनेक ऐतिहासिक त्रुटियां हैं । इस का कारण यह है कि कवि कई सदियों के बाद हुआ और उसे ऐसे साधन उपलब्ध न थे जिन से ऐतिह्य से प्राप्त (देखें १, १३) सामग्री का वह परीक्षण कर सके । किन्तु रणथम्भोर के लिए तो उस ने सम्वत्सर, मास, पक्ष, तिथि, वार और नक्षत्रादि भी दिए हैं । घटनाओं में कारण और कार्य के सम्बन्ध को प्रदर्शित कर तो कवि ने ऐतिहासिकों के हृदय में और भी अधिक सम्मान का स्थान प्राप्त किया हैं । रणथम्भोर के दुर्ग का भंग उस के लिये मानवी घटना है । उस ने उसे मानवी घटना के रूप में ही प्रदर्शित किया है । देवी-देवताओं और अमानुषी घटनाओं के लिए उस के वर्णन में स्थान नहीं है ।

इस काव्य की रचना के लिए कवि ने दो कारण दिए हैं—

---

[1] हम्मीर महाकाव्य आदि सब इतिहास के साधनों की सहायता से लिखित हम्मीर की जीवनी के लिए पाठकवर्ग 'अर्ली चौहान डिनेस्टीज़' (प्राचीन चौहान राजवंश) या हम्मीरायण की भूमिका के पृष्ठ १०७-१३४ देखें । स्थानाभाव के कारण यह पूरी जीवनी यहां नहीं दी जा सकती ।

१. कवि जनोचित यह अभिलाषा कि सर्वत्र यह प्रसिद्ध हो कि उस समय भी कोई ऐसा कवि है जिस का काव्य प्राचीन महाकाव्यों से टक्कर ले सके

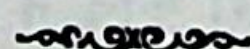
२. राजन्य-पुपूषा

इन दोनों लक्ष्यों में कवि को असामान्य सफलता मिली है। कवि ने तत्कालीन समाज और उस के आदर्शों का भी ऐसा सजीव चित्र प्रस्तुत किया है जो अन्यत्र दुर्लभ है। नयचन्द्र सूरि के कवित्व के लिए हम्मीर उपयुक्ततम नायक था तो हम्मीर के लिए नयचन्द्र भी ऐसा ही उपयुक्ततम कवि था, जिस ने अपनी कृति द्वारा हम्मीर को अमर कर दिया है। वह तो यह मानने के लिए ही तैयार नहीं है कि सामान्य जनों की तरह हम्मीर अपनी इहलीला का संवरण कर चुका है–

लोको मूढतया प्रजल्पतुतमां यच्चाहमानः प्रभुः
श्री-हम्मीर-नरेश्वरः स्वरगमाद् विश्वैकसाधारणः।
तत्वज्ञत्वमुपेत्य किंचन वयं ब्रूमस्तमां स क्षितौ
जीवन्नेव विलोक्यते प्रतिपदं तैस्तैर्निजैर्विक्रमैः।। (सर्ग १४, श्लोक १५)

–दशरथ शर्मा

'नवीन वसन्त'
ई ४।१, कृष्णनगर,
दिल्ली–३१
दिनांक : ७–१०–६३



हम्मीर महाकाव्य में ऐतिह्य सामग्री

[लेखक:— प्रोफेसर, दशरथ शर्मा, एम. ए., डो. लिट्]

दिल्ली विश्वविद्यालय

संस्कृत के इतिहास-साहित्य में हम्मीर-महाकाव्य का स्थान बहुत ऊंचा है। प्रारंभिक भाग में कुछ अशुद्धियां अवश्य हैं, किन्तु ऐसा होना स्वाभाविक ही है। विश्वसनीय ऐतिह्य सामग्री के अभाव में यह असम्भव है कि कोई कवि या इतिहासकार अपने से अधिक पूर्ववर्ती इतिहास का सर्वथा समीचीन रूप से निर्माण कर सके।

हम्मीर-महाकाव्य में पृथ्वीराज तृतीय के पूर्वजों की वंशावली इस प्रकार दी है —

सूर्य मण्डल से उत्पन्न... ... चाहमान
|
दीक्षित वासुदेव
|
नरदेव
|
चंद्रराज
|
चक्री जयपाल
|
जयराज
|
सामन्तसिंह
|
गूयक
|
नन्दन
|
सांभर में शाकम्भरी देवी को प्रकट करने वाला... ... ... वप्रराज
|
शकराज को मार कर मुग्धपुर जीतने वाला... ... ... हरिराज
|
अपने प्रयाण से कर्णाट, लाट, चोल, गुर्जरादि नृपों को त्रस्त करने वाला और शकपति हेतिम

को मार कर चार मस्त हाथी ग्रहण करने वाला... ... ... सिंहराज — सिंहराज का भाई[1]

भीम

मूलराज को हरा कर गुर्जरदेश को लूटने वाला... ... ... विग्रहराज

श्री गुंद देव

वल्लभराज

राम

युद्ध में शकाधिराज हेजमदीन को मारने वाला... ... ... चामुण्डराज

सहाबदीन को हरा कर पकड़ने वाला... ... ... दुर्लभराज

कर्ण को युद्ध में मारने वाला... दुःशल

सहाबदीन को युद्ध में मारने वाला... ... ... विश्वल

पृथ्वीराज

आल्हण

पुष्कर को खुदाने वाला... ... आनल्लदेव

जगदेव

विश्वल

---

[1] इसने राज्य नहीं किया ।

अजयपाल
|
श्री गंगदेव
|
सोमेश्वर=कर्पूर देवी
|
पृथ्वीराज

विझोली के शिलालेख (सं. १२२६) और पृथ्वीराज-विजय से तुलना करने से प्रतीत होता है कि वास्तविक वंशावली और घटनाएं इससे कुछ भिन्न थीं –

(१) चन्द्रराज नरदेव का पुत्र नहीं, पौत्र था ।

(२) जयराज चन्द्रराज का पौत्र नहीं, पितामह था ।

(३) चन्द्रराज के पुत्र का नाम दुर्लभराज था, न कि जयपाल चक्री ।

(४) सामन्तसिंह नरदेव का पिता था ।

(५) गूवक प्रथम दुर्लराज का पुत्र था, न कि सामन्तसिंह का । गूवक के पौत्र का नाम भी गूवक था ।

(६) नन्दन वास्तव में गूवक द्वितीय का पुत्र चन्दन है । सम्भव है कि हम्मीर-महाकाव्य का शुद्ध पाठ चन्दन ही हो ।

(७) वप्पराज वप्पयराज का दूसरा रूप है; किन्तु, शाकम्भरी देवी को प्रकट करने वाला वासुदेव था, न कि वप्पराज ।

(८) हरिराज नाम का कोई राजा वप्पयराज के ठीक बाद सांभर की गद्दी पर नहीं बैठा, किन्तु यह सम्भव है कि विंध्य-नृपति हरिराज का ही नाम हो ।

(९) सिंहराज वप्पयराज का पुत्र था, न कि पौत्र । शिलालेखों के आधार पर नहीं कहा जा सकता कि उसने हेतिम नाम के किस शकाधिराज का वध किया था ।

(१०) सिंहराज का उत्तराधिकारी उसका पुत्र विग्रहराज था, न कि उसका भ्रातृव्य भीम ।

(११) विग्रहराज (द्वितीय) ने गुर्जराधिराज मूलराज को केवल परास्त किया, उसे मारा नहीं ।

(१२) गुन्ददेव या गोविन्दराज विग्रहराज (द्वितीय) के भाई दुर्लभराज (द्वितीय) का पुत्र था ।

(१३) वल्लभ के स्थान में वाक्पति (द्वितीय) होना चाहिये।

(१४) चामुण्डराज वीर्यराम का भाई था, न कि पुत्र। उसने शायद ही किसी शकाधिराज से युद्ध किया हो।

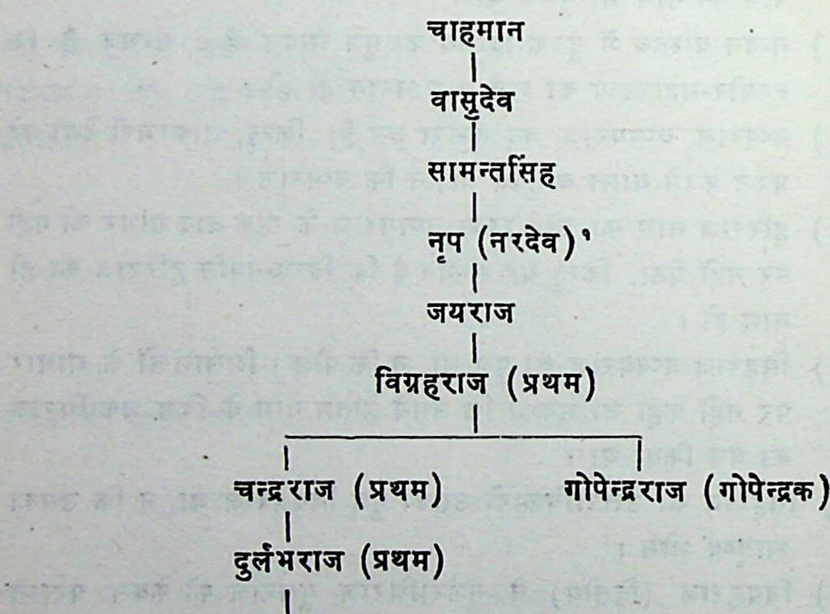
(१५) दुर्लभराज ने किसी सहाबदीन (शहाबुद्दीन) नाम के शासक को नहीं पकड़ा; प्रत्युत वह स्वयं म्लेच्छों से युद्ध करता हुआ मारा गया।

(१६) दुःशल ने कर्ण को न युद्ध में मारा और न परास्त ही किया; गुर्जराधिराज कर्ण को हराने वाला वास्तव में विग्रहराज तृतीय था।

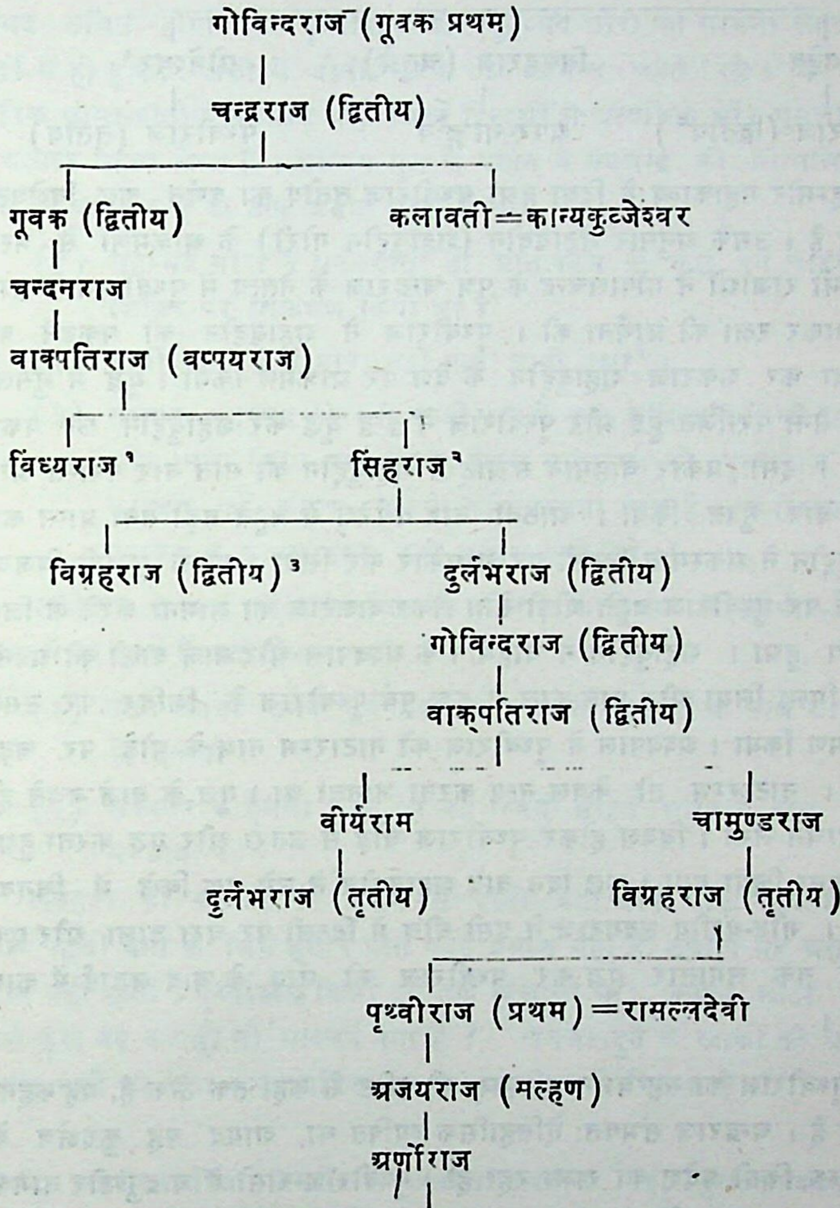
(१७) आनल्लदेव, आनाक या अर्णोराज ने आनासागर खुदवाया था, पुष्कर नहीं।

(१८) अजयराज वीसल का पुत्र नहीं, पितामह था।

हम्मीर के समय के आस-पास रचित प्रबन्धकोश की कई प्रतियों में प्राप्त चाहमान वंशावली हम्मीर-महाकाव्य की वंशावली से अधिकांश में मिलती है। इससे स्पष्ट है कि नयचन्द्र के समय से कुछ पूर्व भी शुद्ध वंशावली प्राप्य नहीं थी। शाकम्भरी के चाहमानों का वास्तविक वंशवृक्ष बिजोली-शिलालेख एवं पृथ्वीराज-विजय के आधार पर निम्नलिखित रूप में दिया जा सकता है—



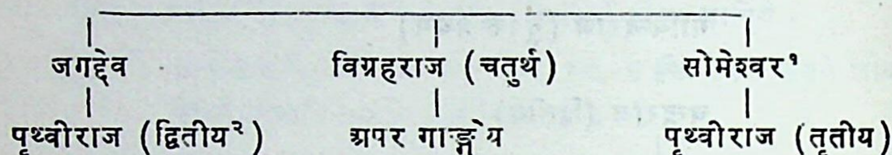
[1] पृथ्वीराज-विजय में यह नाम नहीं है। कई विद्वान् नरदेव के स्थान पर पूर्णतल्ल लिखते हैं, किन्तु ऐसा करना अशुद्ध है।



[1] विंध्य-नृपति नाम केवल बिझोली शिलालेख में है। उसका सिंहराज से ठीक संबंध अनिश्चित है।

[2] हर्ष-शिलालेख में उसके भाई वत्सराज का नाम मिलता है। लक्ष्मण नाम का दूसरा भाई नड्डूल शाखा का पूर्व-पुरुष था।

[3] उसके चन्द्रराज और गोविन्दराज नाम के दो भाई और थे (देखो, हर्ष-शिलालेख)



हम्मीर महाकाव्य में दिया हुआ पृथ्वीराज तृतीय का वर्णन कुछ विशेषता रखता है। उसके अनुसार सहाबदीन (शहाबुद्दीन गोरी) के आक्रमणों से त्रस्त पश्चिमी राजाओं ने गोपालचन्द्र के पुत्र चन्द्रराज के नेतृत्व में पृथ्वीराज के द्वार पर जाकर रक्षा की प्रार्थना की। पृथ्वीराज ने शहाबुद्दीन को पकड़ने की प्रतिज्ञा कर शकराज शहाबुद्दीन के देश पर आक्रमण किया। युद्ध में मुसलमानी सेना पराजित हुई और पृथ्वीराज ने द्वन्द्व युद्ध कर शहाबुद्दीन को पकड़ लिया। इसी प्रकार चाहमान सम्राट् ने शहाबुद्दीन को सात बार परास्त और सात बार मुक्त किया। आठवीं बार घर्परेश से बहुत बड़ी सेना प्राप्त कर शहाबुद्दीन ने अकस्मात् दिल्ली पर अधिकार कर लिया। अपनी पुरानी विजयों के गर्व पर पृथ्वीराज बहुत थोड़ी सेना लेकर शकराज का सामना करने के लिए रवाना हुआ। शहाबुद्दीन ने चाहमान के अश्वपाल और बाजे वालों को अपनी ओर मिला लिया और प्रातःकाल से कुछ पूर्व पृथ्वीराज के शिविर पर उसने आक्रमण किया। अश्वपाल ने पृथ्वीराज को नाटारम्भ नाम के घोड़े पर चढ़ा दिया। नाटारम्भ तो केवल नृत्य करना जानता था। युद्ध के बाजे बजते ही वह नाचने लगा। विवश होकर पृथ्वीराज घोड़े से उतरा और युद्ध करता हुआ बंदी बना लिया गया। कुछ दिन बाद शहाबुद्दीन ने उसे एक किले में चिनवा दिया। गौड़-वंशीय उदयराज ने इसी बीच में दिल्ली पर घेरा डाला और एक महीने तक लगातार युद्ध कर पृथ्वीराज की मृत्यु के बाद लड़ाई में काम आया।

पृथ्वीराज का यह वर्णन इतिहास की दृष्टि से कहां तक ठीक है, यह कहना कठिन है। चन्द्रराज संभवतः ऐतिहासिक व्यक्ति था, शायद वह कुरुक्षेत्र के निकटस्थ किसी प्रदेश का राजा रहा हो। पृथ्वीराज-रासो में चन्द्रपुण्डीर नामक एक सामन्त का वर्णन है। क्या यह गोपालचन्द्र का पुत्र चन्द्रराज हो सकता है ? मुसलमान इतिहासकार केवल दो युद्धों का वर्णन करते हैं, सात का नहीं। रासो आदि पुस्तकों में इक्कीस युद्धों तक का वर्णन है। अतः यह मानना ही

---

[1] यह अपर गाङ्गेय को हरा कर गद्दी पर बैठा।

[2] पृथ्वीराज द्वितीय के मरने पर मन्त्रियों ने इसे गद्दी पर बैठाया।

शायद उचित होगा कि पृथ्वीराज और मुहम्मद गोरी का सामना केवल दो युद्धों में ही हुआ, बाकी में दोनों तरफ के सामन्त लड़ते रहे। ये पारस्परिक सीमा-प्रांतीय छेड़छाड़ थी, जिन्हें हिन्दुओं ने अत्यधिक और मुसलमानों ने अत्यल्प महत्व दिया है। अन्तिम युद्ध के वर्णन में नयचन्द्र की निम्नलिखित बातें सर्वथा ठीक हैं या ठीक प्रतीत होती हैं—

(१) मुहम्मद गोरी ने अकस्मात् ही प्रातःकाल से कुछ पूर्व चाहमान-शिविर पर आक्रमण किया था।[1]

(२) पृथ्वीराज युद्ध में मारा नहीं गया, बन्दी हुआ[2]।

(३) संभवतः मुहम्मद गोरी ने पृथ्वीराज के कुछ अधिकारियों को अपनी ओर मिला लिया था; किन्तु, केवल नाटारम्भ को पृथ्वीराज की पराजय का कारण मानना कवि-कल्पना मात्र है। पृथ्वीराज की पराजय के कारण इससे कहीं अधिक गंभीर थे।[3]

पृथ्वीराज के भाई एवं उत्तराधिकारी हरिराज के विषय में हम्मीर-महाकाव्य में दो बातें मिलती हैं—

(१) उसने अपना समय गुर्जरेश्वर द्वारा प्रदत्त वेश्याओं के साथ आनन्द में बिताया।

(२) शकेश्वर के हमला करने पर वह स्त्रियों सहित अग्नि में जल कर मर गया।

इतिहास की कसौटी पर कसने से दोनों बातें प्रायः ठीक उतरतो हैं। यद्यपि पहली बात के लिये हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है, तथापि यह असंभव प्रतीत नहीं होती। पृथ्वीराज किसी हद तक विलासी था; उसका छोटा भाई उससे कुछ बढ़ कर हो तो आश्चर्य क्या है? अजमेर-दुर्ग के रक्षकों की अग्नि में जल मरने की कथा समसामयिक ग्रंथ ताजुलमासिर में मिलती है।[4]

---

[1] देखो, लक्ष्मीधर-रचित विरुद्धविधिविध्वंसप्रशस्ति-श्लोक २३; पुरातन-प्रबंधसंग्रह-पृथ्वीराज-प्रबन्ध, पृष्ठ ८६ (सिंघी जैन ग्रंथमाला); प्रबन्धचिन्तामणि, पृष्ठ ११७ (सिंघी जैन ग्रंथमाला)

[2] देखो, रैवर्टी-तबकाते नासिरी, पृष्ठ ४६८।

[3] लेखक द्वारा शीघ्र ही प्रकाश्य 'प्राचीन-चाहमान-राजवंश' में इस विषय पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है।

[4] Elliot and Dowson—History of India as told by its own Historians, vol. II, p. 226

हरिराज के बाद रणथम्भोर राज्य की कथा आरम्भ होती है। इसके लिए हम्मीर-महाकाव्य ही मुख्य ऐतिहासिक साधन है। हम्मीर के पूर्वज गोविन्द से लेकर हम्मीर के पिता जैत्रसिंह तक की कथा का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है –

सर्ग	श्लोक	
४	२३-३१	रणस्तम्भपुर में पृथ्वीराज का पुत्र[1] गोविन्द राज्य करता था। पृथ्वीराज ने उसे अजमेर से निकाल दिया था। हरिराज की मृत्यु के बाद मन्त्रियों ने उसका आश्रय लिया।
,,	३२-४१	गोविन्द के उत्तराधिकारी वाल्लण के दो पुत्र थे, प्रह्लादन और वाग्भट। वाल्लण ने प्रह्लादन को गद्दी पर बैठाया और वाग्भट को मन्त्री का पद दिया।
,,	४३-७८	शेर का शिकार करते हुए प्रह्लादन बुरी तरह घायल हुआ। अपने को दुश्चिकित्स्य जान कर उसने अपने पुत्र वीरनारायण को अभिषिक्त किया और वाग्भट को उसका संरक्षक बनाया।
,,	७९-१०६	वीरनारायण जवान होने पर आम्रपुर (आमेर) के कत्सवाह (कछवाह) की पुत्री से विवाह करने के लिए आमेर गया। शकराज जल्लालुद्दीन के आक्रमण करने पर वह रणथम्भोर वापिस चला आया। जब जल्लालुद्दीन बल से रणथम्भोर न ले सका, तब उसने मैत्री का प्रस्ताव किया और वीरनारायण को मिलने के लिए दिल्ली बुलाया। वाग्भट के विरोध करने पर भी, वक्षःस्थलपुर के राजा विग्रह से बदला लेने की इच्छा से वीरनारायण दिल्ली चला गया। शकेश ने उसका अच्छी तरह स्वागत किया किन्तु कुछ दिन बाद उसे विष देकर मार डाला। वाग्भट तिरस्कृत होकर मालवे चला गया था इसलिए रणथम्भोर आसानी से मुसलमानों के हाथ आ गया।

---

१ कीर्तने के संस्करण में उसे गलती से पृथ्वीराज का पौत्र लिखा है; वास्तव में, वह हरिराज का भतीजा अर्थात् पृथ्वीराज का पुत्र था।

४ १०७-१३० मालवा के राजा ने शकेश की प्रेरणा से वाग्भट को मारने का प्रयत्न किया किन्तु वाग्भट ने, मालूम होते ही, मालवेश्वर को मार कर उसके राज्य पर अधिकार कर लिया और शक-राज्य पर षर्परों के आक्रमण का समाचार सुनते ही रणथंभोर को जा घेरा। भूख और प्यास से व्याकुल होकर लगभग तीन महीनों के बाद मुसलमान दुर्ग को छोड़ कर भाग गये। वाग्भट रणथंभोर का स्वामी हुआ और उसने वहाँ १२ वर्ष तक राज्य किया।

,, १३१- वाग्भट के बाद उसका पुत्र जैत्रसिंह गद्दी पर बैठा। हम्मीरदेव उसकी रानी हीरादेवी का पुत्र था। जैत्रसिंह के दो पुत्र और थे, जिनमें एक का नाम सुरत्राण और दूसरे का नाम वीरम था।[1]

८ ३६-१३१ कुमार हम्मीरदेव को सर्वथा राज्य-योग्य देख कर जैत्रसिंह ने उसे अभिषिक्त करने का विचार किया। हम्मीरदेव जैत्रसिंह का ज्येष्ठ पुत्र न था[2] इसलिए उसने राज्य लेने से आना-कानी की किन्तु राजा के यह कहने पर कि यह भगवान् विष्णु की आज्ञा है, उसने पिता की आज्ञा मानी और संवत् १३३९, माघ शुक्ला पूर्णिमा रविवार के दिन वृश्चिक लग्न एवं पुष्य नक्षत्र में हम्मीर का राज्याभिषेक हुआ। रोग के कारण अपना देहावसान निकट जान कर जैत्रसिंह ने हम्मीर को नीतिपूर्ण शिक्षा दी और स्वयं चम्बल-नदी पर स्थित पत्तनतीर्थ के लिए प्रस्थान किया। यहाँ जंबूपथसार्थवाही भगवान् शिव का मंदिर था।[3] रास्ते ही में पल्लीनामक ग्राम में राजा का देहावसान हो गया। हम्मीरदेव को अत्यन्त शोक हुआ, किन्तु वीजादित्यादि विद्वानों के समझाने पर उसने धैर्य धारण किया।

---

[1] सर्ग ५–७ और सर्ग ८ के ३५ वें श्लोक तक ऋतु,जल-क्रीड़ा, प्रभातादि विषयों का वर्णन मात्र है।

[2] सर्ग ८ श्लोक ५३।

[3] सुर्जन-चरित के इसी प्रसंग को देखने से ज्ञात होता है कि तीर्थ का नाम पत्तन था, श्री आश्रम नहीं।

समसामयिक इतिहास-ग्रन्थों और शिलालेखों से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि हम्मीर-महाकाव्य के उपरि-लिखित वर्णन में सत्य की पर्याप्त मात्रा है। गोविन्द ने मुसलमानों की अधीनता स्वीकार कर वास्तव में रणथंभोर में अनेक वर्षों तक राज्य किया। उसका पुत्र वाल्लण शमसुद्दीन अल्तमश के अधीन था। इसी सुलतान ने सन् १२२६ में रणथंभोर पर अधिकार कर लिया। यही नयचन्द्र का शकाधिराज 'जल्लालदीन' है। बहुत संभव है कि सुलतान ने किला लेने में छल का प्रयोग किया हो। वीरनारायण का विरोधी वक्षःस्थलपुर का विग्रह कौन था, यह बतलाना कठिन है।

वाग्भट ने जिस मालवेश का वध किया वह संभवतः देवपाल हो सकता है। संवत् १२९२ के बाद उसका कोई लेख नहीं मिलता, किन्तु यह कहना, कि वाग्भट ने उसके संपूर्ण राज्य पर अधिकार कर लिया, अतिशयोक्तिपूर्ण है। मालवे पर परमार ही राज्य करते रहे यद्यपि उसके कुछ अंश आसपास के राजाओं ने दबा लिये। वाग्भट के पुत्र जैत्रसिंह को मालवराज परमार जयसिंह से युद्ध करना पड़ा था।

रणथंभोर-विजय की कथा प्रायः सत्य है। नयचन्द्र ने षर्पर शब्द का अनेकशः मुगलों के लिए प्रयोग किया है। सं० १२९० के आसपास मुगल-तुर्क, ख्वारिज्मी आदि भारत में अवश्य आ चुके थे, किन्तु इनमें से शायद ही कोई रणथंभोर तक पहुँचा हो। अतः इस दुर्ग की विजय का वास्तविक श्रेय स्वयं वाग्भट को है। मुसलमान इतिहासकार स्वीकार करते हैं कि बुरी तरह से घिर जाने के कारण रजिया के राज्य के आरंभ में मुसलमानों को रणथंभोर छोड़ना पड़ा था।[1]

जैत्रसिंह की कथा में कोई ऐसी बात ही नहीं है जिसे अनैतिहासिक कहा जा सके। हम्मीरदेव के प्रति जैत्रसिंह की शिक्षा अवश्य कुछ कवि-कल्पना-प्रसूत है।

हम्मीर-महाकाव्य के अंतिम ६ सर्गों में हम्मीरदेव की कथा है। इसका कितना भाग ऐतिहासिक है और कितना अनैतिहासिक, यह बतलाने के लिए यहाँ इन सर्गों का विषय-विश्लेषण किया जाता है:—

सर्ग	श्लोक	
९	१-९८	राज्यारोहण के कुछ समय बाद हम्मीरदेव ने चतुरंग सेना सहित दिग्विजय के लिए प्रयाण किया। भीमरस नगर पहुँच

---

१ वाग्भट की पूरी कथा के लिए लेखक का शीघ्र ही प्रकाश्य 'प्राचीन-चाहमान-राजवंश' देखें।

कर उसने अर्जुन राजा को वशीभूत किया। इसके बाद मंडलकृत्[1] (मण्डलगढ़) से कर लेकर वह धारा गया। वहां उसने परमार राजा भोज को हराया और फिर उज्जयिनी होता हुआ वह चित्तौड़ पहुंचा। तदनंतर उसने अर्बुदाचल में निष्पक्ष भाव से अनेक तीर्थों में अवगाहन किया और अनेक देवी देवताओं की पूजा की। अभिमानी अर्बुदेश्वर ने उसे खूब धन दिया। फिर वर्धनपुर और चंगा को लूटता हुआ वह पुष्कर पहुँचा। वहां स्नान कर वह शाकंभरी को गया। उसने महाराष्ट्र, खंडिल्ल और चंपा को लूटा और ककराल में त्रिभुवनाद्रि के अधिपति ने उस की अधीनता स्वीकार की। इस प्रकार दिग्विजय कर वह रणथंभोर वापिस आया और कुछ दिन बाद पुरोहित विश्वरूप के कहने पर उसने कोटि-यज्ञ किया।

९ ९९-१५० कोटि-यज्ञ के बाद हम्मीर ने एक मास का मुनिव्रत स्वीकार किया। इसी समय अलाउद्दीन ने अपने भाई उल्लूखान (उलूग खां) को रणथंभोर देश नष्ट भ्रष्ट करने के लिए भेजा। उसने बनास नदी के किनारे डेरा डाला और देश को लूटना आरंभ किया। राजा मौन था। अतः प्रधान धर्मसिंह की सलाह से सेनापति भीमसिंह ने मुसलमानों पर आक्रमण किया। मुसलमानों को हरा कर भीमसिंह वापिस लौटा। उलूगखां ने छिप कर उसका पीछा किया। धर्मसिंह को यह पता न था। अतः भीमसिंह को अकेला छोड़ और स्वयं लूट का सामान लेकर वह रणथंभोर चला गया। घाटी में घुसते समय भीमसिंह ने खुशी के मारे मुसलमानों से छीने हुए बाजे बजवा दिये। मुसलमान इसे अपनी जय का संकेत समझ कर एकत्र हो गये और भीमसिंह युद्ध में काम आया। उसके बाद उलूग खां दिल्ली वापिस चला गया।

,, १५१-१८८ धर्मसिंह भीमसिंह को पीछे छोड़ कर आगे बढ़ गया था। इससे अप्रसन्न होकर 'तू हिजड़ा है' ऐसा कह कर राजा ने उसे वास्तव में हिजड़ा करवा दिया और उसका पद अपने दासीजात भाई खड्गग्राही भोज को दे दिया, किन्तु भोज अच्छा

---

[1] अनेक इतिहासज्ञों ने इसे गढमण्डल मानने की भूल की है।

अर्थ-मंत्री न था। वह राजा की धन और घोड़ों की मांग को पूर्ण न कर सका। इसलिए धर्मसिंह की शिष्या नर्तकी धारादेवी की सिफारिश से धर्मसिंह फिर राजमंत्री बना दिया गया। उसने प्रजा पर अनेक कर लगा कर कोश भर दिया पर प्रजा इससे अत्यन्त असन्तुष्ट हुई। सिखा बुझा कर उसने राज़ा को भोज के विरुद्ध भी कर दिया। राजा ने उसका प्रायः सब धन ज़ब्त कर लिया। अंत में, राज-तिरस्कार से दुःखी होकर उसने काशीयात्रा के बहाने अपने भाई पीथसिंह सहित रणथंभोर छोड़ दिया। राजा ने प्रसन्नतापूर्वक दण्डनायक पद पर रतिपाल को अभिषिक्त किया।

१० १-८८ तिरस्कृत भोज सिरोह होता हुआ दिल्ली पहुंचा। अलाउद्दीन ने उसका अच्छी तरह स्वागत किया और जगरा नाम के स्थान की जागीर दी। भोज की सलाह से फसल कटने से पूर्व ही उलूग खां बड़ी सेना सहित भेजा गया। मुसलमान सैन्य हिन्दूवाट पहुंच चुका था। चारों ओर अंधकार ही अंधकार था। उस समय वीरम, जाजदेव, रतिपाल, रणमल्ल, महिमासाहि (मुहम्मद शाह) और उसके भाइयों ने मुसलमान-शिविर पर आक्रमण किया। मुसलमान हार कर भाग गये। कुछ समय बाद मुहम्मद शाह और उसके भाइयों ने जगरा पर छापा मारा और भोज के भाई और कुटुम्ब को कैद कर रणथंभोर ले आये। इन बातों से क्रुद्ध होकर अलाउद्दीन ने शीघ्र ही हम्मीर को नष्ट करने की प्रतिज्ञा की।

११ १-१०३ मुसलमान सम्राट् ने चारों तरफ से फौजें इकट्ठी कीं और उन्हें उल्लूखां (उलूग खां) और निसुरतखां (नसरत खां) की अध्यक्षता में हम्मीर को जीतने के लिए भेजीं। घाटियों में प्रवेश करना आसान न था। उलूग खां को अपना पहला अनुभव याद था, इसलिए उसने मोल्हण को संधि के बहाने हम्मीर के पास भेजा। हम्मीर के सैनिकों ने भी यह सोच कर उसकी उपेक्षा की कि घाटी में घुसने पर यह सुख-साध्य होगा। मुसलमान सेनापतियों ने घाटियां पार कर लीं और जैत्रसर आदि पर अपने डेरे डाले। मोल्हण ने हम्मीर के सामने ये शर्तें पेश कीं,

"हे हम्मोर ! यदि तुम्हें राज्य करने की इच्छा हो तो लाख मोहर, चार हाथी, तीन घोड़े और अपनी बेटी देकर हमारी आज्ञा स्वकार करो या चाहो तो केवल मेरी आज्ञा-भंग करने वाले चार मुगलों को मुझे सौंप सकते हो।" हम्मीर ने इन शर्तों का अत्यन्त तिरस्कारपूर्ण उत्तर दिया और किले की रक्षा की तैयारी की। मुसलमान तीन महीनों तक घेरा डाले युद्ध करते रहे। एक दिन एक गोले का टुकड़ा चटक कर नसरतखां के मस्तक में लगा और वह मर गया। उलूग खां ने नसरत खां का मृत शरीर दिल्ली भिजवाया और साथ ही अपनी स्थिति भी कहला भेजी। क्रोध और शोक से झल्ला कर अलाउद्दीन स्वयं हम्मीर से लड़ने के लिए आया।

१२ १-६ अलाउद्दीन को आया हुआ सुन कर हम्मीर ने किले पर शूर्प बंधवा दिये और अलाउद्दीन के पूछने पर उससे कहला दिया कि भरी गाड़ी में शूर्प का भार कुछ विशेष नहीं होता। तुम्हारा आकर सेना में मिलना भी वैसा ही है। अलाउद्दीन ने प्रसन्न होकर हम्मीर से जो इच्छा आये मांगने के लिए कहा, किन्तु वीर हम्मीर ने केवल दो दिन के लिए युद्ध ही मांगा।

१२ ७-५९ दूसरे दिन शाम तक दोनों सेनाओं में अत्यन्त भयंकर युद्ध हुआ।

" ६०-८८ प्रातःकाल फिर युद्ध आरंभ हुआ और इस समर में ८५,००० मुसलमान योद्धा काम आये। इसके बाद दोनों पक्षों ने कुछ दिनों तक युद्ध बन्द किया।

१३ १-३८ एक दिन हम्मीर ने नाच और गान का प्रबंध किया। उसमें सभी सामन्तादि सम्मिलित हुए। धारा देवी नाचने लगी। उसकी तिरस्कार-पूर्ण चेष्टाओं से क्रुद्ध होकर अलाउद्दीन ने अपने आदमियों को उस पर निशाना लगाने की आज्ञा दी और उड्डानसिंह नाम के एक धनुर्धर ने अपने बाण से उसे किले की दीवार से उपत्यका में गिरा दिया। महिमासाहि (मुहम्मद शाह) ने अलाउद्दीन को बाण का निशाना बना कर इसका बदला लेना चाहा, किन्तु हम्मीर ने 'यदि तुम इसे मार दोगे तो मैं किससे लड़ूंगा' ऐसा कह कर उसे रोक दिया। उड्डानसिंह को मार कर ही मुहम्मदशाह को संतोष करना पड़ा।

इस जबरदस्त निशाने बाजी से डर कर मुसलमान तालाब की दूसरी ओर अपना शिविर ले गये।

१३ ३६-६८ इसके बाद मुसलमानों ने सुरंग लगाई और खाई को पूलों से, मिट्टी से और पत्थरों से भरना शुरू किया। जब ये दोनों काम पूरे हो गये तो मुसलमानों ने फिर युद्ध के लिए तैयारी की। हम्मीर ने यह सुनते ही खाई को अग्नि के गोलों से जला डाला और सुरंग में लाख और तेल फिंकवाया। मुसलमान योद्धा बुरी तरह से जल गये। शकाधीश ने जिन शकों से सुरंग खुदवाई थी उन्हीं के कलेवरों से हम्मीर ने उसे भर दिया। अलाउद्दीन के अनेक प्रयत्न विफल हुए। ग्रीष्म ऋतु बीत गई और वर्षा आ गई। यथा तथा संधि करने की इच्छा से अलाउद्दीन ने हम्मीर के दण्डनायक रतिपाल को बुला भेजा और हम्मीर ने भी कौतुकवश उसे जाने की आज्ञा प्रदान की।

,, ६९-८९ अलाउद्दीन ने मान और दान दोनों ही से रतिपाल को वशीभूत किया। सभासदों में से अपने भाई के सिवाय सब को दूर कर सुलतान ने रतिपाल के सामने पल्ला पसार कर केवल जय की याचना की। अन्त:पुर में ले जाकर उसने रतिपाल को भोजन कराया और बहिन के हाथ से मदिरा पिलाई। इस आशा में कि शकेश जय के बाद अपने वचनानुसार उसे किला दे देगा, रतिपाल हम्मीर के पास पहुंचा और उसे झूठ-मूठ कहा, हे देव! शकेश ने कहा है—मूर्ख हम्मीर मुझे अपनी पुत्री नहीं देता है। यदि मैं उसकी रानियों को भी न ले लूं तो मुझे अलाउद्दीन न समझना।" रणमल्ल हम्मीर का अच्छा योद्धा था। वह इस बात से नाराज़ था कि शकेश से संधि की बात हो रही है। हम्मीर को रणमल्ल से लड़ाने के लिए रतिपाल ने कहा, "आज रणमल्ल किसी कारण से अप्रसन्न हो गया है। आप पांच सात आदमियों सहित जाकर उसे मनावें।"

,, ९०-१०४ रतिपाल हम्मीरदेव के भाई वीरम के पास से होकर जब निकला तब शराब की दुर्गन्ध से वीरम समझ गया कि दुष्ट रतिपाल शत्रु से मिल गया है। हम्मीर को भी संशय हुआ

किन्तु उसकी इच्छा न हुई कि रतिपाल के वध के कारण उसे अपयश का भागी बनना पड़े।

१३-१०५-१२९ इधर जब रानियों को मालूम हुआ कि शकेश केवल पुत्री ही मांगता है तो उन्होंने सिखा-बुझा कर देवल्ल देवी को हम्मीर के पास भेजा। उसने पिता से प्रार्थना की कि वह उसे शकेश को देकर कुल की रक्षा करे। अपने कुल और धर्म के विरुद्ध इस बात का क्रोध एवं ओजपूर्ण शब्दों में हम्मीर ने तिरस्कार किया।

,, १३०-१३४ उधर रतिपाल ने रणमल्ल से कहा "भाई! भागने की तैयारी करो। हम्मीर तुम्हें पकड़ने के लिए आ रहा है। जब रणमल्ल ने यह बात न मानी तब उसने कहा, "यदि सायंकाल पांच सात आदमियों सहित हम्मीर इधर आये तो मेरा विश्वास करना।" राजा को उसी तरह आता हुआ देख कर रणमल्ल डर गया और शत्रु से जा मिला।

,, १३५-१६८ रतिपाल भी दुर्ग से उतर कर शत्रु से जा मिला। इन बातों से खिन्न होकर राजा ने जाहड से पूछा, "कोश में अन्न कितना है?" "यदि मैं कहूं कि अन्न नहीं है, तो अवश्य सन्धि हो जायगी" यह सोच कर जाहड ने उत्तर दिया कि अन्न है ही नहीं। हम्मीर अब खिन्न होने लगा था। चारों तरफ की धोखेबाजी से उसे मुगल (मुहम्मद शाह आदि) भाइयों पर सन्देह होने लगा, इसलिये दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही उसने मुहम्मदशाह से कहा, "तुम वैदेशिक हो, आपत्ति के समय तुम्हारा यहां रहना ठीक नहीं। तुम जहां चाहो वहीं मैं तुम्हें पहुँचा दूं।" इन वचनों से मर्मविद्ध होकर मुहम्मद शाह घर पहुँचा और उसने अपने सब कुटुंब को कत्ल कर दिया। फिर आकर वह राजा से कहने लगा, "तुम्हारी भाभी जाने से पूर्व तुम्हारे दर्शन करना चाहती है। जिसकी कृपा से हम इतने दिन आनंद से रहे, उसके दर्शन किये बिना जाने से उसे सदैव दुःख होगा।" राजा मुहम्मदशाह के घर पहुँचा। चारों तरफ खून की नदी में बच्चों और स्त्रियों के शिर तैरते हुए देख कर वह मूर्च्छित हो गया और पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसे अत्यंत पश्चात्ताप हुआ, पर अब हो ही क्या सकता था।

१३-१६९-१८९ वहाँ से वापिस आकर हम्मीर ने कोश को अन्न से परिपूर्ण देखा। उसे जाहड़ की बुद्धि पर अत्यंत क्रोध आया और खजाने को पद्मसर तालाब में डलवाने के बाद वीरम ने जाहड को प्राण-दंड दिया।

स्थिति गंभीर थी। इसलिए नगरवासियों के लिए मुक्ति-द्वार खोल दिया गया। रंगदवी आदि रानियों ने और हम्मीर की परम प्रिय पुत्री देवल्ल देवी ने अग्नि-प्रवेश किया।

,, १९०-२२५ वीरम ने जनापवाद के भय से राज्य-ग्रहण नहीं किया। इस लिए राजा ने जाजदेव को गद्दी दी और नौ वीरों सहित युद्ध में प्रवेश किया। हम्मीर आ गया है, यह सुन कर शकराज भी युद्ध के लिये आ पहुँचा।

राजा से पूर्व वीरम ने स्वर्ग को प्रस्थान किया। मुहम्मद शाह के मूर्छित होने पर स्वयं हम्मीर ने वीरतापूर्वक युद्ध किया और अंत में शत्रुओं के वाणों से जर्जर होकर उसने स्वयं अपने हाथों अपना प्राणांत किया। उसे यह सह्य न था कि वह जीवित ही शत्रु के हाथ आये।

१४ १-२१ राजा की मृत्यु के बाद जाज ने दो दिन तक और युद्ध किया, मुहम्मदशाह अलाउद्दीन की सभा में (सिर झुका कर नहीं, बल्कि) पदतल दिखाता हुआ घुसा। जब अलाउद्दीन ने पूछा, "यदि तुम जीवित रहो तो मेरे से कैसा व्यवहार करोगे?" उसने उत्तर दिया, "वही जो तुमने हम्मीर से किया है।" रतिपाल ने संग्राम-भूमि में अपने पदतल से हम्मीर का शिर दिखाया। पूछने पर उसने हम्मीर की अनेक कृपायें भी स्वीकार कीं। अलाउद्दीन ने उसकी खाल निकलवा कर उचित ही किया, अन्यथा कौन स्वामी से द्रोह न करेगा?

हम्मीर की जीवनी के लिए हमें अनेक अन्य साधन भी प्राप्त हैं। हम्मीर-महाकाव्य की कथा उनसे कहीं-कहीं मिलान खाती है और कहीं-कहीं नहीं। कौन किस स्थान पर ठीक है, हम इस बात का यहां विचार करेंगे।

नयचंद्र ने हम्मीर की दिग्विजय का काफी अच्छा वर्णन किया है, किन्तु इसकी पूर्ण सत्यता में हमें संदेह है। दिग्विजय के अंत में एक कोटि-यज्ञ किया गया था।

इसका जिक्र हम्मीर के पौराणिक एवं मंत्री वैजादित्य द्वारा रचित संवत् १३४५ के एक शिलालेख में भी है। उसमें लिखा है कि हम्मीर ने दो कोटि-होम किये, मालवा के राजा अर्जुन को युद्ध में हराया, अनेक हाथी छीने और रणथंभोर में पुष्पक नाम का महल बनाया। शिलालेख में कोटि-होमों का जिक्र होने से यह निश्चित है कि यह हम्मीर की तथाकथित दिग्विजय के बाद लिखा गया था; किन्तु, इसमें केवल मालवा के राजा अर्जुन पर विजय का वर्णन है, किसी दिग्विजय का नहीं। अतः क्या यह मानना उचित न होगा कि या तो हम्मीर ने कोई दिग्विजय की ही नहीं या संवत् १३४५ के बाद मालव-विजय के अतिरिक्त समय-समय पर अन्य कुछ विजय प्राप्त कीं जिन्हें कवि ने अपनी कल्पना से एक स्थान पर ग्रथित कर दिया है; किन्तु, इस बात का ध्यान देते हुए कि न केवल हम्मीर-महाकाव्य का दिग्विजयान्त कोटि-होम सं० १३४५ से पूर्व हो चुका था, अपि तु नयचंद्र ने मालव-राज के अतिरिक्त किसी राजा का नाम ही नहीं दिया है, हमें दूसरे विकल्प की संभावना अधिक युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होती।

नयचंद्र ने अलाउद्दीन के अनेक आक्रमणों का वर्णन किया है। इनमें पहले दो आक्रमणों का वर्णन मुसलमान इतिहासों में नहीं है; किन्तु, उनका कथा से इतना अधिक संबंध है और उनका सब वर्णन इतना ब्योरेवार है कि उन्हें असत्य मानना संभवतः केवल धृष्टता-मात्र या हिन्दू इतिहासकारों के प्रति व्यर्थ अश्रद्धा का सूचक होगा। हां, यह बहुत संभव है कि भीमसिंह की मृत्यु अकस्मात् या केवल मुसलमानी बाजे बजाने से न हुई हो। मुसलमानी सेनापतियों की अनेक बार यह नीति रही है कि वे शत्रु के आक्रमण करते ही या तो पीछे हटते हैं या बिखर जाते हैं और फिर शत्रु के असावधान होने पर उस पर आक्रमण करते हैं। तरावड़ी के युद्ध में मुहम्मद गोरी ने इस नीति का अनुसरण किया था। बहुत संभव है कि उलूग खां भी इसी नीति द्वारा भीमसिंह का वध करने में समर्थ हुआ हो। दूसरा खिल्जी आक्रमण मुसलमानों के लिए कोई विशेष कीर्त्ति की चीज नहीं थी। संभव है, इसी कारण मुसलमान इतिहासकारों ने उसका जिक्र न किया हो। अमीर खुसरो ने केवल एक आक्रमण का वर्णन किया है और बर्नी ने दो का, यद्यपि वास्तव में आक्रमण चार या उससे भी अधिक हुए थे।[1]

हम्मीर के अंतिम दिनों में प्रजा किस तरह दुःखी हुई और किस प्रकार क्रोध और लोभ एवं प्रतिहिंसा की मूर्ति धर्मसिंह के वशीभूत होकर हम्मीर ने अनेक अनुचित कार्य किये—इन सबके ज्ञान का एकमात्र साधन तो केवल हम्मीर-

---

[1] कुछ आक्रमण जलालुद्दीन के समय में हो चुके थे। नयचंद्र ने भी इनका वर्णन किया है।

महाकाव्य ही है। इसके अभाव में हम्मीर के पतन के वास्तविक एवं आभ्यन्तरिक पतन के कारणों का संभवतः कभी पता न चलता। खड्गधारी भोज की सत्यता या असत्यता जांचने के लिए हमारे पास कोई बाह्य साधन नहीं है, किन्तु उसमें कहीं असत्यता प्रतीत नहीं होती।

अलाउद्दीन के तीसरे और चौथे आक्रमणों के वर्णन का मिलान मुसलमान इतिहासकारों के वर्णन से किया जा सकता है। दोनों में प्रायः एक सा ही वर्णन है। नसरत खां की मृत्यु और मुसलमानों की अस्थायी पराजय का जिक्र फरिश्ता, बर्नी आदि के पृष्ठों में भी उतना ही स्पष्ट है जितना हम्मीर-महाकाव्य में। चौहानों ने सुरंगों में मुसलमानों को किस प्रकार जला दिया यह खजाइन-उल-फुतूह में पढ़ा जा सकता है।

धारादेवी की कथा के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता, यद्यपि यह असंभव प्रतीत नहीं होती। रतिपाल के षड्यंत्र का वर्णन अन्यत्र नहीं मिलता, किन्तु यह असंदिग्ध रूप में कहा जा सकता है कि ऐसा षड्यंत्र अवश्य हुआ था। फरिश्ता को इस बात का ज्ञान था। उसने लिखा है, "राजा का मंत्री रणमल एक मजबूत दल सहित सुल्तान से आ मिला था। सुल्तान ने यह कहते हुए "जिन आदमियों ने अपने सच्चे स्वामी को धोखा दिया है वे किसी के लिए सच्चे नहीं हो सकते' रणमल और उसके आदमियों को मरवा डाले। रतिपाल इन्हीं साथियों के अंतर्गत था। सुल्तान उसे अंतःपुर में ले गया, उसके सामने अंचल पसार कर याचना की आदि कथाएं सर्वथा कल्पित प्रतीत होती हैं। यदि ऐसा हुआ भी हो तोभी नयचंद्र के पास कौन सा साधन था जिससे वह यह मालूम कर सका?

जौहर की कथा भी सर्वथा सत्य है। मुसलमान सिपाहियों तक ने चितांग्नि की ज्वालाओं को दूर से देखा था। अंतिम युद्ध में नयचंद्र के कथनानुसार हम्मीर के साथ जो साथी थे उनके संबंध में अमीर खुसरो ने केवल 'एक या दो काफ़िर' लिखा है।

मुहम्मद शाह की वीर मृत्यु का वर्णन नयचंद्र ने जान कर छोड़ दिया है; केवल उसके वीरतापूर्ण उत्तर का ही वर्णन किया है। हिन्दू और मुसलमान सभी सच्ची वीरता का सम्मान करते हैं और उसको नहीं भुलाते, यह तबकाते अकबरी के निम्नलिखित उद्धरण से सुस्पष्टतया प्रतीत हो सकेगा:—

"मुहम्मद शाह घायल पड़ा था। सुल्तान की दृष्टि उस पर पड़ी और उसने दयार्द्र होकर कहा, 'यदि मैं तुम्हें इस भयंकर ख़तरे से बचा लूं और तुम्हारे जख़्मों की मरहमपट्टी करवा कर तुम्हें ठीक कर दूं तो तुम क्या करोगे और

इसके बाद तुम्हारा व्यवहार कैसा होगा ?' उसने उत्तर दिया, "यदि मैं घावों से ठीक हो जाऊँ तो मैं तुम्हें मार कर हम्मीरदेव के पुत्र को सिंहासन पर बैठाऊंगा। जो स्वभाव से ही दुष्ट होता है वह किसी के लिए सच्चा नहीं होता। जो कुजात है वह सदा बुरा ही करता है।"

सुल्तान ने उसे मस्त हाथी के पैर के नीचे डलवा कर कुचलवा दिया। कुछ समय बाद जब उसे याद आया कि "मुहम्मद शाह अपने शरणदाता के प्रति कितना सच्चा व नमक-हलाल निकला तो उसने मुहम्मद शाह को विधिवत् दफनाने की आज्ञा दी।"[1]

हिन्दू पक्ष से मुहम्मद शाह की स्मृति को सजीव रख कर नयचंद्र ने एक महान् कार्य किया है।

हम्मीर महाकाव्य के अनुसार दुर्ग का पतन श्रावण कृष्णा ६ रविवार, सं० १३५८ को हुआ। अमीर खुसरो की तिथि इस से दो दिन पूर्व है। यह भेद नगण्य है। चाहमान जाज ने हम्मीर की मृत्यु के बाद दो दिन तक युद्ध किया। नयचंद्र ने संभवत: उसकी मृत्यु के दिन दुर्ग का पतन माना है।

साहित्यिक दृष्टि से हम्मीर-महाकाव्य

साहित्यिक दृष्टि से हम्मीर-महाकाव्य का स्थान पर्याप्त ऊँचा है। स्वयं नयचन्द्र इसे पूर्व-कवियों की कृतियों से हीनतर नहीं समझते। हम चाहे इस निर्णय से सर्वथा सहमत न हों, तथापि यह मानने में तो हमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि नयचन्द्र ने इस काव्य में इतिहास और कविता का सुन्दर समन्वय किया है। कथा का स्रोत कभी रुद्ध नहीं होता; केवल दो तीन सर्ग का ऋतु-वर्णन ऐतिहासिक तथ्य मात्र से क्लान्त पाठक के विश्राम के लिए हरे-भरे द्वीप का काम दे सकता है। हम्मीर-महाकाव्य वीररसप्रधान काव्य है। नयचन्द्र चाहते तो इन दो तीन सर्गों को दूर कर सकते थे किन्तु उस समय काव्य-लेखन की परिपाटी ही कुछ ऐसी थी। मुख्य रस चाहे कोई हो, शृङ्गार रस का पुट तो आवश्यक समझा जाता था। काव्य से शृङ्गार को दूर रखना उतना ही आपत्तिजनक था जितना कि भोजन से लवण को।[2]

कृष्णर्षिगच्छीय नयहंस ने लिखा है—

---

[1] दे का अनुवाद, पृष्ठ ६७ (Bibliotheca Indica Series)

[2] रसोऽस्तु यः कोपि परं स किञ्चिन्नास्पृष्टशृङ्गाररसो रसाय।
सत्यप्यहो पाकिमपेशलत्वे न स्वादु भोज्यं लवणेन हीनम्॥
(हम्मीर-महाकाव्य, सर्ग १४, श्लोक ३६)

लालित्यममरस्येव श्रीहर्षस्येव वक्रिमा ।
नयचन्द्रकवेः काव्ये दृष्टं लोकोत्तरं द्वयम् ।।

और यह सम्मति अधिकांश में ठीक है । हम्मीर-महाकाव्य में लालित्य और वक्रिमा दोनों वर्तमान हैं; अलंकारों का सुन्दर समावेश है और कथा हृदयग्राहिणी है । हम्मीर-महाकाव्य रसप्रधान काव्य है, शब्दप्रधान नहीं। केवल शब्दाडम्बर का आश्रय लेना तो सामान्य कवियों का कार्य है । नयचन्द्र ने यथार्थ ही लिखा है—

वदन्ति काव्यं रसमेव यस्मिन्निपीयमाने मुदमेति चेतः ।
किं कर्णतर्णर्णसुपर्णपणभ्यिर्णाहि वर्णार्णवडम्बरेण ।।[1]

हम्मीर-महाकाव्य में चौदह सर्ग हैं । हर एक अपने ढंग से निराला है । हर एक मननयोग्य है; किन्तु, विस्तारभय से हम केवल प्रथम सर्ग के पूर्वार्ध से कुछ अलङ्कार एवं रसमय श्लोकों का उदाहरण देकर संतोष करेंगे । सुविज्ञ पुरुष एक दो पत्तों से भी वृक्ष की पहचान कर सकते हैं ।

(१) गुरुप्रसादाद् यदि वास्मि शक्तस्तदीयवृत्तस्तवनं विधातुम् ।
सुधाकरोत्संगसरंगयोगान्मृगो न खे खेलति किं सखेलम् ।।[2]

यह प्रतिवस्तूपमा का सुन्दर उदाहरण है । हम्मीर की कथा का गान कोई साधारण कार्य नहीं, किन्तु गुरुकृपा से यह भी किया जा सकता है । मृग का आकाश में खेलना प्रायः असंभव है; किन्तु चन्द्रमा की स्नेहपूर्ण गोद को प्राप्त कर क्या वह ऐसा नहीं करता, अर्थात् करता ही है ।

(२) प्रतापवह्निर्ज्वलितो यदीयस्तथा द्विषां कीर्तिवनान्यधाक्षीत् ।
तदुत्थधूमाश्रयतो जहाति वियद्यथाद्यापि न कालिमानम् ।।२१।।

यहां पूर्वार्ध में रूपक एवं उत्तरार्ध में अतिशयोक्ति दर्शनीय है । कवि आकाश की कालिमा का कारण ढूंढने चले हैं । मालूम हुआ कि चाहमान की प्रतापाग्नि ने शत्रुओं के कीर्तिरूपी वनों में आग लगा दी है । आकाश की कालिमा का कारण इसी दावाग्नि से उत्पन्न धूम है ।

(३) जयश्रिया प्राप्तमहावियोगान् संमूर्छयन् वैरिगणान्निकामम् ।
यो युध्यवाचो पवनायितोऽपि चित्रं द्विजिह्वान्न सुखीचकार ।।२३।।

---

[1] सर्ग १४; श्लोक ३५

[2] सर्ग १; श्लोक १२

यह विरोध और श्लेष के संकर का अच्छा नमूना है। राजा और मलयानिल का कार्य एकसा ही था। एक जयश्री से वियुक्त वैरियों को, दूसरा वधूवियुक्त पुरुषों को मूर्च्छित करता है किन्तु, मलयानिल द्वि-जिह्वों (सर्पों) को सुखी और राजी, द्विजिह्वों अर्थात् पिशुनों को दुःखी करता है।

(४) प्रस्पर्धते मद्यशसाऽस्य सूनुः शशीत्यमर्षात् किल योऽम्बुराशेः।
गाम्भीर्यलक्ष्मीं हरति स्म किन्न सुतापराधे जनकस्य दण्डः ॥२४॥

यहां नयचन्द्र ने गूढोपमा और अर्थान्तरन्यास का अच्छा मिश्रण किया है। समुद्र का पुत्र चन्द्रमा अपनी धवलता के कारण उसके यश की बराबरी करता है। यह उसका महान् अपराध है, यही सोच कर उसने चन्द्रमा के पिता समुद्र की गाम्भीर्य-लक्ष्मी का हरण कर लिया। यदि किसी का पुत्र प्रमाद या मदवश राजा की बरावरी करने चले तो उसे दण्ड दिया ही जाता है।

(५) प्रवाद्यमाने रणवाद्यवृंदे संपश्यमानेषु दिवः सुरेषु।
शौर्यश्रियं यो रणरंगभूमावनर्तयद्वेल्लदसिच्छलेन ॥३०॥

इतनी सुन्दर गूढोपमा कितनी मिल सकती हैं ? जब नट नर्तकी को नचाता है तो अनेक प्रकार के वाद्य बजते हैं और प्रेक्षक अपने-अपने स्थान पर बैठ कर नृत्य का आनन्द लेते हैं। राजा ने अपनी चक्कर लगाती हुई तलवार के बहाने जब शौर्यश्रीरूपी नर्तकी को रण-रंगभूमि में नचाया उस समय उसी तरह चारों तरफ जुझाऊ बाजे बज रहे थे और देवता लोग आकाश से इस विचित्र नृत्य का प्रेक्षण कर रहे थे।

(६) यस्य प्रतापज्वलनस्य किंचिदपूर्वमेवाजनि वस्तुरूपं।
जज्वाल शत्रौ सरसे प्रकामं यन्नीरसेस्मिन् प्रशशाम सद्यः ॥३८॥

यहां कवि ने विरोधालङ्कार का प्रयोग किया हैं। चन्द्रराज की प्रतापाग्नि का कुछ विचित्र ही स्वरूप था। अग्नि नीरस को जलाती और सरस को छोड़ती है, किन्तु उसकी प्रतापाग्नि सरस शत्रुओं को जलाती और नीरस अर्थात् दुर्बल शत्रुओं का त्याग करती थी।

(७) चापस्य यः स्वस्य चकार जीवाकृष्टिं रणे क्षेप्तुमनाः शरोघान्
जवेन शत्रून् यमराजवेश्माऽनैषीत्तदेतन्महदेव चित्रम् ॥३९॥

यह श्लेष के आधार पर विरोधालङ्कार का नमूना कहा जा सकता है। राजा युद्ध में बाण चलाने की इच्छा से इधर अपने धनुष की जीवा-

कृष्टि करता और उधर उसके शत्रुओं का जीवाकर्षण अर्थात् जीवान्त होता। यह अत्यन्त ही विचित्र बात थी कि जीवाकर्षण एक का हो और जीवान्त किसी अन्य का। विरोध यह जानते ही दूर हो जाता है कि धनुष के जीवाकर्षण का अर्थ किसी जीव का आकर्षण नहीं, अपितु उसकी जीवा यानि प्रत्यंचा का खींचना मात्र है।

(८) यत्कीर्तिपूरैरभितः परीते विश्वत्रये सूरिभिरित्यतर्कि।
तप्तं प्रतापैर्ध्रुवमेतदीयैर्विलिप्तमेतन्नवचन्दनेन ।।४५।।

यदि कवि समय के अनुसार ही संसार की स्थिति मानी जाय तो अच्छी अतिशयोक्ति है। त्रिलोकी भूपाल की धवल एवं आनन्ददायिनी कीर्ति से परिपूर्ण हो गई। यह देख कर विद्वानों ने सोचा, 'विश्वत्रय राजा के तीव्र प्रताप से निश्चित ही तप्त हो चुका था। कीर्ति का प्रसार सम्भवतः उस ताप को दूर करने के लिए चंदन का लेप है।

(९) यदीयकीर्त्यापहृतां समंतान् निजां श्रियं स्वर्गधुनी विभाव्य।'
पतत्प्रवाहध्वनिकैतवेन कामं किमद्यापि न फूत्करोति ।।४६।।

यह अतिशयोक्ति भी कुछ कम नहीं है। जल-प्रपात की ध्वनि को किसने नहीं सुना है? किन्तु, उससे यह कल्पना करना कि यह गङ्गा का मात्सर्ययुक्त फूत्कार है कवि नयचंद्र का ही कार्य है। गङ्गा को शायद अपनी धवलिमा और स्वच्छता का अत्यंत गर्व था। चक्री जयपाल की धवल कीर्ति ने गङ्गा के इस गर्व को चूर्ण कर दिया; उसने इसकी शोभा का सर्वथा हरण कर लिया। फिर वेचारी स्वर्धुनी फूत्कार न करती तो क्या करती?

(१०) कामं यदोजः सृजि वेधसोऽपि स्वेदोदयः कोऽपि स आविरासीत्।
प्रसर्पता येन नदीवदम्बुराशेरपि क्षारमकारि वारि ।।५१।।

प्रतीत होता है कि नयचन्द्र अतिशयोक्ति में खूब सिद्धहस्त थे। चक्री जयपाल साधारण तेज वाला पुरुष न था। अतः ब्रह्मा ने जब जयपाल की सृष्टि की तो परिश्रम के मारे उसके शरीर से पसीना बहने लगा, और वह भी इतनी मात्रा में कि उसकी नदी ने समुद्र के जल को खारा कर दिया।

(१२) यशोविताने स्फुरिते यदीये व्यक्तो यदालक्षि न शीतरश्मिः।
तदादिशंके विधिना व्यधायि तदीयबिम्बान्तरयं कलंकः ।।५४।।

चन्द्रबिंब में धब्बा दिखाई पड़ता है। इसके विषय में कवियों की एक मे एक बढ़ कर कल्पनाएं हैं। नयचन्द्र की सूझ शायद सबसे अच्छी न हो; किंतु तो भी कवित्वपूर्ण है। "जयराज के धवल यशःसमूह के सर्वत्र प्रसृत होने पर धवल वर्ण वालो वस्तुएं स्वभावतः उसमें विलीन हो गईं। धवल रंग वाला चन्द्रमा भी न दिखाई पड़ने लगा। सम्भवतः उसी समय ब्रह्मा ने चन्द्रमा की पहचान के लिए उसके श्वेत बिंब में यह काला धब्बा लगाया था।

चरित्र-चित्रण में भी नयचन्द्र ने अच्छी सफलता प्राप्त की है। इनकी लेखनी-तूलिका से छोटे-से-छोटे पात्रों की भी चरित्र-रेखाएं अत्यंत स्पष्टता और खूबी से खींची गई हैं। वीर महिमासाहि, अन्धा धर्मसिंह, वेश्या धारा, स्वामिद्रोही रतिपाल, खड्गग्राही भोज, विलासप्रिय हरिराज—ये सब नयचन्द्र की लेखनो से केवल चित्रित ही नहीं हुए, अपितु प्रायः सजीव हो उठे हैं। जहां कवि ने चरित्रनायक हम्मीरदेव के गुणों को प्रशंसा की है, वहां उसके दुर्गुणों का भी दिग्दर्शन कराया है। काव्य को पढ़ कर हम सहज ही समझने लगते हैं कि क्रोध की अत्यधिक मात्रा, प्रजा में अनुचित करों के कारण असन्तोष, आन्तरिक फूट आदि भी हम्मीरदेव के पतन के मुख्य कारण थे। स्त्रियों में देवलदेवी का चरित्र सबसे अधिक स्पष्ट है। नयचन्द्र ने पिता-पुत्री के पारस्परिक प्रेम और कुल-गौरव को वेदो पर इस स्नेहमयी बालिका के बलिदान का अच्छा वर्णन किया है।

नयचन्द्र ने यशःप्राप्ति, हमीर-वृत्तस्तवन एवं राजन्यपुपूषा इन तीन प्रयोजनों से हम्मीर-महाकाव्य की रचना की थी। कवि को इन तीनों लक्ष्यों में पूर्ण सफलता मिली है। नयचन्द्र का यश चिरस्थायी है, उनकी लेखनी ने उन्हें और वीरवर हठीले हम्मीरदेव को अमर कर दिया है। राजन्यपुपूषा के लिए भी ग्रंथ में पर्याप्त सामग्री है। इस वीर-चरित को पढ़ कर किस राजपुत्र के हृदय में यह इच्छा उत्पन्न नहीं होती कि वह इस चाहमान वीर के समान कर्त्तव्य-पालन कर अपने यशः शरीर को चिरस्थायी करे? इसके अतिरिक्त यह काव्य राजनीति का प्रकृष्ट भण्डार है। कान्ता-सम्मित ललित शब्दों में नयचन्द्र ने सुन्दर उपदेश की पर्याप्त योजना की है। पृथ्वीराज तृतीय के छोटे भाई विलासी हरिराज का चरित्र चित्रित करते हुए आप लिखते हैं—

---

[1] देखो हम्मीर महाकाव्य, सर्ग १, श्लोक ९–१०, सर्ग १४ श्लोक ४३

इति तासां स्फुरद्भासां नाटचं पश्यन्नहर्निशम् ।
क्षणमात्रमपि त्यक्तुं नालंभूष्णुरभूदयम् ।।१२।।

ततोसौ गीतनृत्तादिदक्षदानपरायणः ;
मितपचत्वं शिश्राय सेविनां जीविकार्पणे ।।१३।।

वार्तामलभमानास्ते तस्य सेवामहासिषुः ।
स्वार्थसिद्धिं विना कोपि किं स्यात्कस्यापि सेवकः ।।१४।।

राजस्थितिं तथाभूतां दर्शं दर्शं प्रजा अपि ।
विरज्यन्ते स्म तस्मात् स्राक् स्त्रितमा दुर्भगादिव ।।१५।।

एतत्स्वरूपं विज्ञाय प्राग्वैरी शकनायकः ।
स सैन्योऽभ्येत्य दिल्लीतो देशसीमानमानशे ।।१६।।

सांतःपुरपुरंध्रीकस्ततोऽसौ ज्वलनेऽविशत् ।
भाविनी यादृशी कीर्तिर्मतिः स्यात्तादृशी नृणाम् ।।१९।।[1]

जैत्रसिंह का हम्मीर को उपदेश, धर्मसिंह द्वारा रणथम्भोर राज्य में कर-वृद्धि और उसका बुरा फल, खड्गग्राही भोज का विभीषण की तरह रणथम्भोर का त्याग, रतिपाल का स्वामिद्रोह और उसकी कुगति आदि स्थल केवल राजन्यों के लिए ही नहीं अपितु जन-साधारणमात्र के लिए भी उतने ही पठनीय हैं। धर्मसिंह द्वारा अनुचित कर-वृद्धि के विषय में ये दो श्लोक कम-से-कम मुझे तो अच्छे प्रतीत हुए हैं—

द्रव्यैः संपूरयन् कोशं राज्ञोऽभूद् भृशवल्लभः ।
वेश्यानां च नृपाणां च द्रव्यदो हि सदा प्रियः ।।१६९।।
प्रजादण्डेन यत्तेन प्रतेने कोशवर्धनम् ।
तत्किं स्वस्यैव मांसेन न स्वदेहोपबृंहणम् ।।१७०।।[2]

नयचन्द्र के काव्य-विषयक विचार

संभवतः अब पाठकों को नयचन्द्र के कवित्व के विषय में कुछ संदेह न रहा होगा; किंतु, नयचन्द्र केवल कवि ही नहीं काव्य-सिद्धांत के पंडित भी थे।

हम्मीर-महाकाव्य के अंतिम सर्ग में नयचन्द्र ने अपने सिद्धांतों का कुछ आभास दिया है। वे यह मानने के लिए तैयार नहीं कि सरस काव्य का आधार अनुभव मात्र है। वास्तव में कवि का सरस कवित्व इतना ही स्वभावजन्य है

---

[1] सर्ग, ४
[2] ,, ९

जितना कि चपलनयना युवतियों के तारुण्य का लालित्य। कविसम्मत कई बातें तो अनुभव के आधार पर सिद्ध ही नहीं हो सकती; कुन्दोज्ज्वला कौमुदी, श्वेत-कीर्ति और कृष्णवर्णा अकीर्ति का किसने अनुभव नहीं किया है ? वाग्देवी स्वयं कुमारी हैं। काम-शास्त्र के अनेक लेखक जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी और कवि अमर स्वयं महा तपस्वी थे। यदि शृंगार-रस के वर्णन के लिए अनुभव को आवश्यक माना जाय तो यह तो अनेक पुरुषों में है। फिर भी, वे इन महान् कवियों के समान या बढ़ कर कविता क्यों नहीं करते ? सच तो यह है कि शृंगार-रस का ललित शब्दों में वर्णन करने वाले तो और ही होते हैं, और उसका अनुभव करने वाले और ही। हाथी के खाने के दांत और होते हैं और दिखाने के और।

काव्यों में भी उत्तम वही है जो रस-बहुल हो; जिसे पढ़ते ही हृदय आनंद से परिपूर्ण हो जाय; वर्ण, तर्ण, सुपर्ण अभ्यर्णादि के शब्दाडम्बर से क्या लाभ ? काव्य में एक-आध अप-शब्द भी हों तो कोई हानि नहीं, आवश्यकता केवल इतनी ही है कि वे अर्थ देने में समर्थ हों और इसकी परिपुष्टि करें।[1]

नयचन्द्र के ये विचार कहां तक युक्तियुक्त हैं; यह हम यहाँ विचार न करेंगे। कम-से-कम इनकी मौलिकता तो स्पष्ट ही है।

नयचन्द्र

काव्यालोचन के बाद काव्यकर्ता नयचन्द्र के विषय में भी कुछ शब्द आवश्यक हैं। आप कृष्णर्षिगच्छ के श्री जयसिंह सूरि के प्रशिष्य थे। जयसिंह अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान् थे। उन्होंने छः भाषाओं में कविता करने वालों के शिरोमणि सारंग को वाद में पराजित किया था।[2] यह सारंग सुप्रसिद्ध शार्ङ्गधरपद्धति के संकलयिता कवि-श्रेष्ठ शार्ङ्गधर हो सकते हैं। श्री जयसिंह ने न्यायसार पर टीका और एक नवीन व्याकरण की रचना भी की थी। जयसिंहरचित कुमारपाल-चरित प्रसिद्ध हैं। सम्भवतः साहित्य, व्याकरण और दर्शन-शास्त्र, इन तीनों विद्याओं में पूर्ण निष्णात होने के कारण ही इन्हें 'त्रैविद्यवेदिचक्री' की पदवी मिली थी।[3] नयचन्द्र इन्हीं जयसिंह के शिष्य प्रसन्नचन्द्र के शिष्य थे।

कुछ विद्वानों ने इन जयसिंहसूरि को वस्तुपाल के समकालीन जयसिंह-

---

[1] हमीर महाकाव्य, सर्ग १४, श्लोक २९-४०

[2] ,, ,, ,, ,, २३

[3] ,, ,, ,, ,, २४

सूरि मानने की भूल की है। वस्तुपाल का समय विक्रम की तेहरवीं शताब्दी के अन्त में और नयचन्द्र के प्रगुरु जयसिंह का समय पन्द्रहवीं शताब्दी के आरंभ में है। इन्होंने सं० १४२२ में कुमारपाल-चरित की रचना की और नयचन्द्र ने उसका प्रथम आदर्श लिखा।

रम्भामञ्जरी नाटिका के लेखक का नाम भी नयचन्द्र है। ये भी अच्छे कवि होने का दावा करते हैं; किंतु, न उनकी रचना में इतना गाम्भीर्य है और न ऐतिहासिक तथ्य। सम्भवतः वे जैन भी न थे; उन्होंने रम्भामञ्जरी का आरंभ वराहावतार, सरस्वतीकटाक्षादि की स्तुति से किया है। शब्दाडम्बर का भी इन्होंने कुछ अधिक प्रयोग किया है। इसलिये उन्हें हम्मीर-महाकाव्य के रचयिता नयचन्द्र से भिन्न मानना ही सम्भवतः उचित होगा।

ग्वालियर के तोमर नरेश वीरम की सभा में हमारे काव्यकर्ता का अच्छा सम्मान था। उसी के दरबारियों के यह कहने पर कि अब पूर्व-कवियों के समान कोई काव्य रचना नहीं कर सकता और राजा का इशारा पाने पर नयचन्द्र ने शृङ्गारवीराद्भुत रसपूर्ण हम्मीरमहाकाव्य की रचना की थी।[1] वीरम का पौत्र डूंगरसिंह संवत् १४९७ में[2] और वीरम का दादा सुल्तान फिरोज तुग़लक (सन् १३५१-१३८८ ई.) के समय वर्तमान था।[3] इसलिये बहुत सम्भव है कि हम्मीरमहाकाव्य का प्रणयन संवत् १४४० के कुछ बाद हुआ हो। नयचन्द्र ने सं० १४२२ में कुमारपाल-चरित का प्रथम आदर्श लिखा था। संवत् १४४० में उनकी आयु पचास के आसपास रही होगी। वे उस समय तक अपने कवित्व का पूर्ण विकास कर चुके थे; राजाओं को भी यह विश्वास होने लगा था कि वे पूर्व-कवियों के समान प्रतिभायुक्त हैं। अतः यह मानना सम्भवतः अनुचित न होगा कि हम्मीर-महाकाव्य नयचन्द्र की प्रौढ, शायद सब से अधिक प्रौढ़, कृति है।

आचार्य-प्रवर मुनिराज श्री जिनविजयजी की कृपा के लिए मैं अत्यन्त आभारी हूं। यह आप ही का अनुग्रह है कि मैं ये शब्द पाठकों के सम्मुख रख रहा हूं। मुझे खेद केवल इतना ही है कि मैं आचार्य देव की आज्ञा का इतने विलम्ब से और इस अपूर्ण रूप में पालन कर सका हूं।

विक्रम भवन, दशरथ शर्मा
इन्द्रप्रस्थ,
प्रथम चैत्र शुक्ला एकादशी, सं० २००२

---

१ हम्मीर-महाकाव्य, सर्ग १४, श्लोक ४३
२ D. R. Bhandarkar, Inscriptions of Northern India, No. 785
३ श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा—राजपूताने का इतिहास, जिल्द पहली, (द्वितीय संस्करण), पृ० २६७

Introduction to the First edition of

The Hammira Mahakavya

written by

Nilkanth Janardan Kirtane

THE HAMMĪRA MAHĀKĀVYA

OF NAYACHANDRA SŪRI

[By - Nilkanth Janārdan Kīrtane]

Dr. Būlher, in his Introduction to the *Vikramānka Charitra* (p.2), mentions the *Hammīramardana*, or "The destruction of Hammīra", as an historical Sanskṛit poem that was extant some ninety years ago in the Jain library at Jēsalmīr. I have recently obtained a work, written in the Jain character, styled *The Hammīra Mahākāvya*, which, not withstanding the difference of the title, I presume is a copy of the same work as that which was once in the Jēsalmīr Sarasvati Bhāṇḍār, since it ends with the death of H a m m ī r a and a lamentation over the event. Colonel Tod, indeed, mentions in his *Rājasthān* a *Hammīra Kāvya* and a *Hammīra Rāsā*, both composed, he says, by S'ā r a ṅ g a d h a r a, whom he makes the bard of H a m m ī r a C h o h ā n of R a ṇ a t h a ṁ b h ō r. We have the authority of S'āraṅgadhara himself for stating that he was not contemporary with H a m m ī r ā C h o h ā n of Raṇathaṁbhōr, and that his grandfather, R a g h u n ā t h a, was that prince's G u r u or spiritual teacher. S'ā r a ṅ g a d h a r a in his *Paddhati*, and G a d ā d h a r a in his *Rasika Jīvan*, under the head of "anonymous," quote some verses relating to H a m m ī r a that have no place in the present *Kāvya*. Appayyā Dīkshita, also, in his *Kuvalayānaṅda*, cites a verse as an instance of the *Akramātis'ayokti Alaṅkāra* of which the subject is H a m m ī r a, and which is not to be found in the work of our author. This shows that there must be some other poem in Sanskṛit bearing the name of *Hammīra Kāvya*; but it may be doubted whether it has any reference to the history of the hero of our poem. Colonel Tod does not inform us in what language the *Hammīra Kāvya* and the *Hammīra Rāsā* were written, though he says he possessed both, and mostly translated with the assistance of his Jain Guru. He does not attempt anything like a connected narrative of H a m m ī r a.

Indeed, what he says incidentally of Hammira does not at all relate to any one individual of that name, but is a jumble of anecdotes relating to several distinct personages bearing the same name.

I obtained the *Hammīra Mahākāvya* through Mr. Govinda S'ās'tri Nirantar of Nāsik, who got it from a friend of his.

The colophon reads—"The present copy was made for the purpose of reading by N a y a h a ṁ s a, a pupil of Jayasiṁha Sūri, at Firuzpur, in the month of S'rāvaṇa of the Saṁvat year 1542" (A.C. 1496). Possibly this was made from the poet's original copy, and, as such, possesses an interest of its own.

N a y a c h a n d r a S ū r i' s work, as a poetical composition, has considerable merits, and deserves publication as a specimen of the historical poems so rarely met with in the range of Sanskṛit literature. Though the author did not live, like B ā ṇ a and B i l h a ṇ a, in the reign of the hero whose history he celebrates, yet his work is not of less historical importance than theirs. The information that the poems of Bāṇa and Bilhaṇa contain has been made accessible to English readers through the labours of two eminent European Sanskṛitists. The present attempt to place the English reader in possession of the historical information contained in the *Hammīra Kāvya* will, I presume, be acceptable to those who are interested in the advancement of our knowledge of Indian history.

Following the custom of other writers in Sanskṛit, who have attempted historical compositions, our author devotes the greater part of one entire chapter, the fourteenth and last, to an account of his lineage, and the reasons that led to the production of his work. Part of this will bear reproduction here in an English dress:–

"Hail, Kṛishṇa Gachha, who gladdened the whole earth, the beauty of whose person was like that of a blooming bunch of the *Navajāti* flower, and whose praises were celebrated by crowds of learned men, who might well be compared to so many black humming-bees;– he whose feet were ever borne on the crowns of the followers of the Jain religion !

"In the circle of the Sūris, whose actions are the homes of wonders, in time, J a y a s i ṁ h a S ū r i was born, who was the crowning

ornament of the wise; who easily vanquished in disputation S'ā r a ṅ g a, who was the leading poet among those who were able to write poetical compositions in six languages, and who was honest among the most honest; who wrote three works,—(1) *Nyāya Sāratīkā*, (2) A New Grammar, (3) A Poem on K u m ā r a N ṛ i p a ṭ i,–and who hence became known as the chief of those who knew the three sciences of logic, grammar, and poesy.

"To the lotus-like Gādi of J a y a s i ṁ h a. N a y a c h a n d r a is like the life-giving sun; who is the essence of the knowledge of the sciences, who is the exciting moon to the sea of the races of the poets. This poet, his spirits raised to the height of the subject by a revelation imparted to him in a dream by the king H a m m ī r a himself, has composed this poem,[1] which is gratifying to the assembly of the kings, and in which the heroic *(rasa)* is developed.

"The author in lineal descent is the grandson of J a y a s i ṁ h a S ū r i, the great poet, but in that of poesy his son.

"Let not good readers take into much account the faults of expression that I may have fallen into. How can I, who am of mean capacity, escape stepping into that path which even poets like Kālidāsa[2] were not able to avoid? But a poem that is replete with good matter loses none of its value for a few common-places of expression."

The poem begins, as is usual with Sanskṛit authors, with invocations addressed to several deities, and the author has been at the pains of making the invocations seem applicable to both the Hindu gods and some of the Tīrthaṅkaras of the Jainas. This procedure

---

1 Our poet also says that he was incited to the composition of this poem by a rash assertion, which some courtiers of king Tomara Virama had the presumption to make in the presence of our poet, that there existed no one now who could compose a poem that would come up to the excellence of the works of old Sanskṛit poets. King Tomara Virama whoever he was, appears to have lived seventy years before Akbar.

2 Perhaps our author had in view the following lines of *Dhanañjaya* :

अपशब्दशतं माघे भारवौ तु शतत्रयम् ।
कालिदासे न गण्यंते कविरेको धनञ्जयः ॥

calls for remark. N a y a c h a n d r a S ū r i, as his name implies, is a Jain by persuasion, and his seeming to invoke blessings at the hands of the most prominent members of the orthodox Hindu pantheon is to be explained either by the freedom of thought so characteristic of the age in which the author lived, when the narrow and bigoted intolerance even of the Muslim had begun to appreciate the beauties of the allegorical language of the Hindu popular religion, or by the strong desire of writing *dvayartha* ('having two meanings') verses, with which the author seems possessed.[3]

The hero of the poem is H a m m ī r a C h o h ā n of R a ṇ a-s t h a ṁ b h a p u r a (R a ṇ a t h a ṁ b h ō r), a name celebrated in Hindi song. H a m m ī r a is one of those later heroes of India who measured their swords with the Muhammadan conquerors and fell in the defence of their independence. Even the history of the conquered is not without interest. The man who fights against hope,—fights because he thinks it his duty to do so,—who scorns to bow his neck before the oppressor, because he thinks such a course opposed to the ways of his ancient house, deserves our sympathy and our admiration. H a m m ī r a is such a character. The poet places him

3 Probably everybody has heard of the *Rāghava Pāṇḍavīya Kāvya*, every line of which can be so construed as to apply to either Rāma or the Pāṇḍavas, at the option of the reader. I have recently been shown a *Kāvya* called the *Sapta Sandhān Mahākāvya*, by Megha Vijaya Gani, a learned Jain of recent times, every verse of which can be made to apply alike to Rāma, Kṛishṇa, and Jinendra.

In the present *Kāvya* the first *s'loka* of the Nāndi is addressed to the Paranjyotis—'the divine flame,'—a manifestation of the divine being in whom both Hindus and Jainas, especially the Kevali Jainas, believe. The second *s'loka* is addressed to Nābhibhū, which may mean the Brahmā of the Hindus, or the son of Nābhi (Rishabha Deva), the first Tīrthaṅkara of the Jainas. The third is addressed to S'rī Pārs'va, whom the Hindus may take for Vishṇu, the Jainas for S'rī Pārs'vanātha, the 23rd Tīrthaṅkara. The 4th *s'loka* is addressed to S'aṅkara Vīravibhu, which may mean either Mahādeva or Mahāvīra, the 24th Jain Tīrthaṅkara. The fifth verse is addressed to Bhāsvān Sas'ānti, who may either stand for the Sun, or S'ānti, the 16th Jain Tīrthaṅkara. The sixth is addressed to Samudra Janman, which may be either the Moon, or Nemināth, son of Samudra, the 22nd Jain Tīrthaṅkara.

on a par with M ā ṅ d h ā t ā, Y u d h i s h ṭ h i r a, and R ā m a. This is poetical exaggeration, but we have no mean measure of praise in the following verses; and the grounds of eminence mentioned are some of the proudest that a Rājput can cherish, and a rigid maintenance of which singles out the race of the Sisodyās of U d a y a p u r and the H ā r ā s of K o ṭ ā and B ū ṅ d i as the noblest among the chivalry of Rājasthān :

"सत्त्वैकवृत्तेः किल यस्य राज्यश्रियो विलासा अपि जीवितं च ।
शकाय पुत्रीं शरणागतांश्चाऽप्रयच्छतः किं तृणमप्यऽभूवन् ।"

Born in the noble house of the C h o h ā n s, to whom, as Tod observes, "the palm of bravery amongst the Rājput races must be assigned," H a m m i r a tried to uphold the independence of his race and to make its usages respected, and was for a time preeminently successful in his wars against his enemies. Some of these were undertaken to protect those who had sought refuge with him (*saraṇā*) , and so far were disinterested. Indeed, he fell in a war undertaken to protect a Mongol nobleman who had fled to him from the tyranny of A l ā u' d - d ī n. "In the third year of the reign of A l ā u' d - d ī n, a nobleman whom he had disgraced took refuge with Hammira, the Chohān prince of Ranthambhōr, one of the strongest forts in India. A l ā u' d - d ī n demanded the delinquent of the Hindu monarch, who nobly replied that the sun would sooner rise in the west, and Sumeru be levelled with the earth, than he would break his plighted faith to the unfortunate refugee. The siege of R a ṇ a t h a ṁ b h ō r was immediately commenced, and the fort was at length captured, but the heroic Hammira fell in its defence; and the females of his family, determining not to survive him. perished on the funeral pile." This history of Hammira supplies some information which the sentimental and enthusiastic annalist of Rājasthān would have gladly interwoven into the pages of his work, and which sheds fresh light on the eventful period in which the hero lived.

The *Hammīra Mahākāvya* is divided into fourteen cantos, of which the first four are concerned with the hero's ancestors,—the C h o h ā n s, many of whom were paramount lords of India. 'The empire belongs to the Chohān' is an admitted Indian historical fiction,

and the mere mention of the names of the old kings, many of whom were the lords paramount of India, accompanied as it is with much poetical nonsense, carries our knowledge of them a step further than the researches of Colonels Wilford and Tod.

The narrative is, all through, very uneven. The genealogy of the Chohāns, as given in the first three chapters, though with some more names than are to be found in Tod's list, cannot be regarded as satisfactory. The author really knew nothing about the more ancient kings of the race; the names are simply brought into give him opportunities of displaying his power for poetical conceits, and thus the accounts of the princes about whom he had no historical information are filled with fanciful conceptions, in which some of the natural phenomena are explained with admirable contempt of the teachings of the "proud philosophy" of Nature. From Pṛithvirāja Chohān to the death of Hammīra the narrative is fairly historic; but the author now and then, even here, relapses into rhapsody which amounts to a confession of his ignorance of the historical facts of the reign in hand.

Cantos V.—VII. of the poem are taken up, according to the rules of Sanskṛit epic poetry, with descriptions of the seasons, and the sports and festivities in which Hammīra engaged. These cantos, as not possessing any historical value, may be ignored in this precis of the poem. I pass over a long lecture also on *Nītiśāstra* which Jāitrasingh, the father of Hammīra, is made to deliver to Hammīra. Chand gives a similar dissertation on grammar in his *Pṛithvirāja Rāsau*.

With these introductory remarks, I come to the *Pūrvaja Varaṇanam*, i. e., the account of the ancestry of Hammīra; and, in order to give some faint idea of the author's style of writing, I shall, in the following, attempt some sort of translation of the first few reigns. The style throughout is so ornate, inflated, and redundant, and the tendency of the author to punning is so persistent, that a longer translation is as difficult as the task would be tedious:—

"Once upon a time, Brahmā wandered in search of a holy place where to hold a sacrifice. The lotus which he held in his hand fell on the ground as if unable to bear the superior beauty of the lotus-

like palm of the god. The god from this circumstance regarded the spot where the lotus fell as an auspicious one, and there, freed from anxiety, commenced the sacrifice. Anticipating persecution from the Dānavās, the god remembered the thousand-rayed one (*the Sun*), when a being, his face surrounded by a halo of radiance, came down from the orb of the sun. Him, the destroyer, Brahmā appointed to the work of protecting the sacrifice.

I. "From that very day the place where the lotus fell has been called P u s h k a r a, and he who came down from the sun the C h o h ā n.[4] Having obtained the paramount power from the four-faced Creator, he ruled over the heads of the kings, as his ancestor the sun rules over the heads of the mountains. B a l i, mortified at seeing the glory of his charity eclipsed by the greater charity of this king, has hidden himself in the nether world; for what else could a man afflicted with shame do? The moon, taken to task by this prince for attempting to rival his glory, every month hides himself, through fear, in the sun's disk, and comes out as if desirous of propitiating the offended king by presenting him with the brilliant orb. The fire of the king's valour has so burnt the gardens of the fame of his enemies, that the smoke issuing from the conflagration, ascending into the atmosphere, has to this day left its mark in the blue sky. The S'e s h n ā g a, when he heard of the fame of this prince, was tempted to nod approval, but, fearing that the earth resting on his hoods might be thereby convulsed with pain, refrained from giving way to the generous impulse. Angry that his son should rival him in glory, the king deprived the ocean of his wealth of gravity. Are not sometimes fathers made to suffer for the faults of their sons? By the name of Chohān, this prince became the shoot of the family tree, served by the poets; famous in the three worlds; the bearer in abundance of human pearls. In this family rose many a monarch surrounded by a halo of glory, whose lives, beautified with the triple

4 The "Chaturbhuja" Chohān, as described by Tod, issued, like the other three progenitors of the Agnikulas—Paramāra, Parihāra, Chālukya—from the Agni Kuṇḍa, the sacrificial fire fountain. But the genesis is described differently in different books. Perhaps where there is no truth we must not expect to find concord.

acquisition,[5] are able to destroy mountains of sins.

II. Vāsudeva—"In process of time Dikshita Vāsudeva was born, who conquered the world by his valour; who seemed the very incarnation of Vāsudeva come down to this earth for the destruction of the demon S'akās. He whetted his sword, blunt with striking down the heads of his enemies, in the fire of his valour, and then cooled the steel in the water of the tears gushing from the eyes of the wives of his enemies. The goddess of victory, as if enamoured of this prince, shone in his hand in the battle-field in the disguise of his sword red with the blood of the necks of his enemies that he had served. In the field of battle, while the martial bands were playing, and the gods in the heavens viewing the performance, the king caused the goddess of victory to dance in the guise of his quivering sword. Does not the sun, surpassed by this prince in brilliancy, drown himself in the deep, and— alas ! for the pain of dying—come every day above the waters in his struggles ?"

III. Naradeva—"Vāsudeva begat Naradeva, fit to be praised by Brahmā himself; the delight of the eyes of women—his body surpassing in beauty that of Cupid himself. When the king went out into the world, the other chiefs, to protect their possessions, did not take the sword out of its sheath, but only took wealth from their coffers. In the battlefield his arms, bearing the brilliant white sword, bore the beauties of the Eastern Mountain destroying the freshness of the lotuses of the faces of his enemies. It is but natural that the fire of the king's valour should have burnt down the forests of iniquity, but it is strange that the same fire should have filled his enemies with cold shakings. Methinks the sun, with his progeny, in token of submission, had fixed his abode in the toe-nails of this prince."

IV. "Chandrarāja by his fame and the beauty of his countenanance, achieving a double conquest over the moon, vindicated the appropriate significance of his name, which means 'Lord of the moon.' Strange was the power of the fire of his valour, for it burnt

---

5 Acquisition of *artha* (wealth), *kāma* (love), and *moksha* (salvation).

bright in the enemy in whom the stream of bravery flowed, while it was extinguished in that enemy who was destitute of this stream,"&c.

The above paragraphs may suffice to show the style of fulsome eulogy used by the poet in disposing of those princes of whom he had no historical information to give. The same similes occur again and again, and often the language is stiff and artificial.

I subjoin a list of the Chohān princes up to Hammira as given by our author, and below that given by Tod in his *Rājasthān*:—

(1) Chāhaman (Canto. I sh 14–25).
(2) Vāsudeva (ib. 26–30).
(3) Naradeva (ib. 31–36).
(4) Chandrarāja (ib. 37–40)
(5) Jayapāla Chakri (ib. 41–52).
(6) Jayarāja (ib. 53–57)
(7) Sāmanta Siṁha (ib. 58–62)
(8) Guyaka (ib. 63–68)
(9) Nandan (ib. 67–71)
(10) Vapra Rāja (ib. 72–81)
(11) Hari Rāja (ib. 82–87)
(12) Siṁha Rāja (ib. 88–102)–(killed Hetim, the Muhammadan general, and captured four elephants in the battle).
(13) Bhīma (nephew of Siṁha, adopted by him) (Canto II sh. 1–6).
(14) Vigraha Rāja (killed Mūla Rāja of Gujarāt[6], and conquered the country) (ib. 7–9)
(15) Gaṅgadeva (ib. 10–15)
(16) Vallabha Rāja (ib. 16–18)
(17) Rāma (ib. 19–21)

---

6 According to the Gujarāti chroniclers, Mūla Rāja reigned from 998-1053 A.V. i.e. 55 years. Soon after his succession to the throne he was assailed by two armies - that of Sapādalaks'hiya, Rāja of S'akambharī (Sāmbhar), and that of Bārapa the general of Tailapa of Kaliyāṇ see *Ind. Ant.* Vol. VI p. 184. Sapādalakshiya might be a *biruda* of Vigraha Rāja. (Bhagavānlāla Indrajī points out that Sapādalakṣa or Savālakha is the name of the Sivālik hills, and that the early rājās of Kamauṅ called themselves Sapādalakshanṛipatis and that the Sākambharī rājas may have originally come from that country.)

(18) Chāmuṇḍa Rāja (killed Hejama'd-dīn) (22–24)
(19) Durlabha Rāja (conquered Shahābu'd-dīn) (ib. 26–28)
(20) Dus'ala (killed Karṇadeva[7]) (ib. 29–32)
(21) Vis'vala (Visaldeva), killed Shahābu'd-dīn (ib. 33–37)
(22) Pṛithvi Rāja I (ib. 38–40)
(23) Alhaṇa (ib. 41–44)
(24) Anala (dug a tank at Ajmer) (ib. 45–51)
(25) Jagadeva (ib. 52–55)
(26) Vis'ala (ib. 56–59)
(27) Jayapāla (ib. 60–62)
(28) Gaṅgapāla (ib. 63–66)
(29) Somes'vara (married Karpurā Devī, or, according to Tod, Rukādevī, daughter of Anangapāla Tuṅar of Delhi) (ib. 67–74)
(30) Pṛithvi Rāja II (Canto II. sloka 75-Canto III sloka 72)
(31) Hari Rāja (ib. 91) (Canto III. sloka 73 - Canto IV. sloka 19)
(32) Govinda of Raṇathaṁbhōr, father of - (Canto IV. sloka 20–31)
(33) Bālhaṇa — had two sons-Prahlāda and Vāgbhaṭa (Canto IV. S'loka 32–40)
(34) Prahlāda (Son of Bālhaṇa) (41–71)
(35) Viranārāyaṇa (son of Prahlāda) (72–105)
(36) Vāgbhaṭa (son of Bālhaṇa) (106–130)
(37) Jaitrasingh (son of Vāgbhaṭa) (131–142)
(38) Hammira (son of Jaitrasingh) (Canto IV. 143 –Canto XIII. sloka 225)

Genealogy of the Chohāns as given by Tod :—

Anhala or Agnipāla (the first Chohān ; probable period 650 before Vikrama, when an invasion of the Turushkās took place; established Mākāvatī Nagri (Garha Maṇḍla); conquered the Koṅkaṇa Aser, Golkondā.

---

7 Is this Karṇadeva the same with the Karṇadeva of Gujarāt, the fifth in descent from Mūla Rāja I. ? His date, as given by Dr. Būhler, is 1063-1093 A. D. Dus'ala is sixth in descent from Vigraha, the enemy of Mūla Rāja : see *Int. Ant*. Vol. VI. p. 186.

Suvācha

Mallana

Galan Sūr

Ajipāla Chakravartti (universal potentate; founder of Ajmer – some authorities say in 202 of Vikrama; others of the Virataḥ Saṁvat; the latter is the most probable)[8]

Dola Rāya (slain, and lost Ajmer, on the first irruption of the Muhammadans, S. 741, A. D. 685).

Māṇikya Rāya (founded Sāmbhar ; hence the title of Sāmbhari Rāo borne by the Chohān princes : his issue slain by the Mosque invaders under Abdu'l Aās).[9]

Hars'arāja or Harihara Rāi (defeated Nazirud'din (qu. Subaktegin ?), thence styled 'Sultāngraha').

Bir Billaṇdeva, (Balianga Rāi or Dharmagachha ; slain defending Ajmer against Mahmud of Ghazni).

Bis'aldeva (classically Vis'aladeva) ; his period from various inscriptions, S. 1066 to S. 1130.

Sāraṅgadeva, his son (died in nonage).

Āna Deva (constructed the Ānā Sāgara at Ajmer, which still bears his name) his sons –

Jayapāla or Jayasiṁha (A.D. 977) father of –

Hursapāl (Hispāl of Feris'taḥ).

Ajaya Deva or Anandeva, son of Jayapāla (A.D. 1000.) ; Bijayadeva and Udayadeva were his brothers.

Somes'vara, son of Ajaya Deva, married Rukābāi, the daughter of Anaṅgapāla of Dehli. His brothers were Kanharāya and Jaitrasiṁha, Goelwala Kanharāya's son Is'varadāsa turned Muhammadan.

Pṛthvi Rāja (A.D. 1176), son of Somes'vara, obtained Dehli; slain by Shahābu'd-din, S. 1249, A.D. 1193.

---

8. Wilford inserts here Sāmanta Deva, Mahādeva, Ajaysiṁha, Vīrasiṁha, Vindāsura, and Vairi Vihanta.

9. Tod; Raj. vol. II., p. 444. Ten more names are given in *Bombay Government Selections*, vol. III., p. 193; and Prinsep's *Antiquities* by Thomas, vol. II., *Us. Tab.*, p. 247.

Reṇasī (A.D. 1192), son of Pṛthvirāja, slain in the sack of Dehli.

Vijayarāja, son of Chāhaḍadeva, the second son of Someśvara (adopted successor to Pṛthvirāja; his name is on the Pillar at Dehli).

Lākhanasī, son of Vijayarāja, had twenty-one sons; seven of whom were legitimate, the others illegitimate, and founders of mixed tribes. From L khansī there were twenty-six generations to Nonad Siṅha, the chief of Nīmrānā (in Col. Tod's time), the nearest lineal descendant of Ajayapāla and Pṛthvirāja).

As observed before, up to the time of Pṛthvirāja the last great Chohāna, the poem is made up mostly of poetical bombast, in which, at intervals, a grain of historical matter may be found concealed under bushels of poetical chaff. It is therefore useless to give a further analysis of this part of the poem. I begin with Someś-vara, the father of P thvi Rāja.

After the death of Gaṅgadeva, who was brave like Bhīṣma of old, Some vara became king. He was married to Karpurā Devī, who gave birth to a son as the east gives birth to the cold-rayed beautiful disk of the moon. This son was named Pṛthvirāja by the king, his father. Day by day the child throve, and grew up a strong and healthy boy. After he had acquired proficiency in letters and arms, Someśvara installed him on the *gadi*, and himself retiring into the woods died in the practice of the *yoga*. As the eastern mountain shines beautiful by the rays that it receives from the author of day, so did Pṛthvirāja shine in the royal insignia obtained from his father.

While Pṛthvīrāja was ruling over his subjects with justice, and keeping his enemies in terror, Shahābu'd-dīn was vigorously trying to subjugate the earth. The kings of the West, suffering greatly at his hands, chose Śri Chandrarāja, son of Govindarāja, as their spokesman, and in a body came to Pṛthvīrāja. After the customary presents had been offered, the suppliant kings seated themselves in the presence of Pṛthvirāja who, seeing the settled gloom of their countenances asked the reason of their sorrow. Chandrarāja replied to him that a Muhammadan named Shahābu'd-dīn had arisen for the destruction of kings, and that he had

pillaged and burnt most of their cities, defiled their women, and reduced them altogether to a miserable plight. 'Sire' said he, 'there is scarcely a mountain-pent valley in the country but is filld to suffocation with Rājpūts who have fled thither for protection from his tyranny. A Rājpūt has but to appear before him in arms, when at once he is transferred to Yama's gloomy realm. Methinks, S h a h ā- b u' d - d i n is P a r a s' u r ā m a come down to this earth again for the extirpation of the warrior caste. The people are so panic-stricken that they abstain from rest, and, not knowing from what quarter he may appear, circumspectly raise their eyes in every direction. The noblest of the Rājpūt families have disappeared before him, and he has now established his capital at M u l t ā n. The Rājās now come to seek the protection of your Majesty against this unrelenting enemy and his causeless persecution.'

P ṛ t h v i r ā j a was filled with anger when he heard this account of the misdeeds of Shahābu'd-din, his hand was raised to his moustache by the vehemence of his feelings, and he declared to the assembled princes that he would force this Shahābu'd-din to beg their pardon on his knees with his hands and feet heavily manacled and fettered, else he were no true Chohān.

After some days, P ṛ t h v i r ā j a, with an efficient army, set out for M u l t ā n, and after several marches entered into the enemy's country. Shāhabu'd-dīn, when he heard of the king's approach, also advanced to encounter him. In the battle which ensued, P ṛ t h v i- r ā j a took S'hahābu'd-dın captive, and was thus enabled to fulfil his vow : for he obliged the haughty Muhammadan on his knees to ask forgiveness of the princes whom he had despoiled. His vow now fulfilled, P ṛ t h v i r ā j a gave rich presents and gifts to the suppliant princes, and sent them to their respective homes. He also allowed S'ahābu'd-dına, to go to Multān bestowing on him like gifts.

S' a h ā b u'-d d ı n, though thus well treated, felt bitterly mortified at the defeat he had sustained. Seven times after this did he advance on P ṛ t h v i r ā j a to avenge his defeat, each time with greater preparations than before, but each time was signally defeated by the Hindu monarch.

When S'ahābu'd-din saw that he could not conquer Pṛithvirāja either by the force of his arms or by the ingenuity of his strategems and tactics, he communicated an account of his successive defeats to the king of the Ghaṭaika[10] country and solicited his aid. This he obtained in the form of many horses and men from the king's army. Thus reinforced, S'ahābu'd-din rapidly advanced upon Dehli, which he at once captured. The inhabitants were panic-stricken, and fled from the city in every direction. Pṛthvirāja was greatly surprised at this, and said that this S'ahābu'd-din was acting like a naughty child, for he had already been defeated several times by him, and as often allowed to go unmolested to his capital. Pṛthvirāja, elated with his former victories over the enemy, gathered the small force that was about him, and with this handful of men advanced to meet the invader.

Slightly attended as the king was, S'ahābu'd-din was greatly terrified at the news of the approach of the king, for he remembered too well the former defeats and humiliations sustained at his hands. In the night, therefore, he sent some of his confidential servants into the king's camp, and through them, with promises of large sums of money he seduced from their allegiance the king's master of the horse and the royal musicians. He then sent a large number of his Muhammadans secretly to the enemy's camp, who entered it early in the morning, when the moon in the west had scarcely reached the horizon, and the Sun was but beginning to illuminate the east.

All was now uproar and confusion in the king's camp. Some cried out, "Oh, brave comrades ! up and to your arms ! Haste, haste ! the enemy has approached and taken us by surprise. Let us fight and return conquerors to our homes or to heaven !" While the king's followers were thus preparing to meet their assailants, the disloyal master of the king's horse, as advised by his seducers, saddled and brought forth as the king's charger that day a horse styled Nāṭyārambha ('leader of the dance') ; and the musicians, who were waiting their opportunity, when the king had mounted, began to play upon their instruments tunes that were the king's favourites. At this

10. Might not this be a name for the modern Kumbheri ?

the royal steed began to dance proudly, keeping time with the musicians. The king was diverted with this performance for a time, and forgot the all important business of the moment.

The Muhammadans took advantage of the king's indolence and made a vigorous attack The Rājpūts, under the circumstances, could do little. Seeing this; P ṛ t h v i ı ā j a alighted from his horse and sat on the ground. With the sword in his hand he cut down many Muhammadans. Meanwhile, a Muhammadan taking the king unawares from behind, threw his bow round his neck and drew the king prostrate to the ground, while other Muhammadans bound him captive. From this time the royal captive refused all food and rest.

P ṛ t h v i r ā j a, before he set out to encounter S'ahābu'ddin, had commanded U d a y a r ā j a to follow him to attack the enemy. U d a y a r ā j a[11] reached the battlefield just about the time when the Muhammadans had succeeded in taking Pṛthvirāja captive. But S'a h ā b u' d-d i n, fearing the consequences of further fighting with U d a y a r ā j a, retired into the city, taking with him the captive monarch.

When U d a y a r ā j a heard of the captivity of P ṛ t h v i r ā j a, his heart throbbed heavily with pain. He wished himself in the place of P ṛ t h v i r ā j a. He was unwilling to return back leaving the king to his fate. Such a course, he said, would be detrimental to his fair name in his own country of G a u ṛ a d e s' a. He therefore laid seige to the city of the enemy (Y o g i n ī p u r a or D e h l i, which S'a h ā b u' d-d ī n had taken possession of before this battle), and sat before the gates for a whole month, fighting day and night.

One day during the siege, one of S'hahābud-dīn's people went up to him and remarked that it would be becoming on his part for once to release P ṛ t h v i r ā j a, who had several times taken him captive and then dismissed him with honours. S'hahābu'd-dīn was not pleased with this noble speaker, to whom he replied sharply that councillors like him were the sure destroyers of kingdoms. The angry S'ahābu'd-dīn, then ordered that P ṛ t h v i a r ā j a should be taken into the

11. This must be the famous Udayaditya Pawār of Mālwā, mentioned by Canda as the great friend and ally of Pṛthvirāja.

fortress. When this order was given, all the brave people hung their necks with shame; and the righteous, unable to suppress the tears gathering in their eyes, lifted them towards heaven. Pṛthvirāja a few days after this breathed his last and went to heaven.

When Udayarāja learnt of the death of his friend, he thought that the best place of abode for him now was that only whither his late friend had sped. He therefore gathered together all his followers and led them into the thickest of the battle, and there fell with his whole army, securing for himself and them eternal happiness in heaven.

When Harirāja learnt the sad news of the death of Pṛthvir ja, his sorrow knew no bounds. With tears gushing from his eyes, he performed the funeral ceremonies for the deceased monarch and then ascended the throne. He had not ruled long when the king of Gujarāta, in order to secure his favour, sent to him some dancing women from his country as presents.[12] These girls were exceedingly beautiful and highly accomplished, and they drew to themselves the king's heart so much that all his time was usually spent in their company, in listening to their music and seeing their dancing. At last matters came to such a pass that most of his revenues were squandered on musicians and dancers, and nothing was left with which to pay the salaries of the servants of the state, who naturally were disgusted with the king and his manners. His subjects also were dissatisfied.

Apprised of these circumstances, S'ahābu'd-din thought this a favourable opportunity for destroying Harirāja and his power. He therefore marched his army into the country of Harirāja. Ever since the death of Pṛthvirāja, Harirāja had vowed not to see even the face of the hated Muslim, and he passed his time, as described, in the company of women. He was therefore

12. Gujarāta in ancient times was famous for the number and beauty of its dancing girls. One of its kings was forced to give his daughter in marriage to an ancient Pers'ian king, who took with him from the country 1200 dancing girls. The professional dancing girls of Persia are said to have been the descendants of this stock ! *Vide* As. Res. vol. IX, "Bickram and S'ālibāhan."

ill-prepared to meet S'ahābu'd-dīn in the battle-field. As a last resource, H a r i r ā j a determined to perform the *'sak'*. He gathered together all the members of his family, and ascended the funeral pile along with them, and so went to the other world.

H a r i r ā j a had no son, and S'ahābu'd-dīn pressed his followers hard. In the utmost confusion and misery, therefore, they assembled in council to deliberate on the course they had best to adopt. They were now, they said, without a leader, while their army was so disorganized that it could not look the enemy in the face. S'ahābu'd-dīn was a great warrior and they were weak. It was impossible that they should be able to protect themselves and their capital. They therefore resolved to abandon the country to its fate and go and live under the protection of G o v i n d a r ā j a, the grandson of P ṛ t h v i r ā j a, who having been banished from the kingdom by his father, had, by his bravery, acquired a new kingdom and established his capital at R a ṇ a t h a m b h o r a. They accordingly gathered in all the remnants of Harirāja's power and wealth and started for R a ṇ a t h a m b h o r a. A j m e r, vacated by Hariarāja's party, was now pillaged and burnt by S'ahābu'd-dīn, who took possession of the city.

The followers of H a r i r ā j a were well received by G o v i n d a r ā j a, and appointed to suitable offices in the kingdom. G o v i n d a r ā j a was paralyzed at the sad news of the fall of Ajmer, and the death of H a r i r ā j a, to whom he paid the last rites. For some years after this G o v i n d a r ā j a ruled well and justly. At last he died and went to heaven.

After Govindarāja, B ā l h a ṇ a succeeded to the throne. B ā l h a ṇ a had two sons – P r a h l ā d a, the elder, and V ā g b h a ṭ a, the younger. Being brought up and educated together, there was between them very great brotherly affection. When they came of age, their father, who had grown old and feeble, placed his elder son, P r a h l ā d a, upon the *gadi* and appointed the younger, V ā g b h a ṭ a, to the post of prime minister. The old king, did not long survive this arrangement. P r a h l ā d a was a just king, and as he ruled mildly, his subjects were contented.

One day, however, as fate would have it, he went out to the

forest to hunt. The hunting party was a grand one. There were many dogs with them, and the party was dressed in blue clothes. Merrily they went that day over hill and dale, and the prey was unusually heavy. Many a mighty lion was made to bite the dust. While the party was thus engaged, the king saw a big lion lying at his ease in a patch of tall reed grass, and being dexterous with his bow, aimed an arrow at the lion and killed him. The attendants of the king raised a shout of joy at this feat of royal archery, which had the effect of rousing from his slumbers another lion that was hard by, but of whose presence they were not aware. In an instant the brute rushed on the king with the swiftness of lightning, and seizing one of the king's arms in his mouth tore it from the body. This sad accident put a stop to the sport, and the party borne the wounded monarch home, where the effects of the poision of the animal's bite terminated his life.

The death-bed of the king was an affecting scene. He placed on the *gadi* his son Vīranārāyaṇa, and called to his presence Vāgbhaṭa, his brother and minister, and said to him that the three qualities of bravery, penetration, and circumspection were the main stays of a monarch ; but that these were acquisitions to which people attained in their majority. Rarely were they possessed by inexperienced youths. 'My son', said he, 'Is yet a child, and he knows only how to sleep and rise again to play. Be thou, therefore, such a guide to him that he may not come to ruin.'

Vīranārāyaṇa from his very childhood was a naughty and unmanageable boy, and Vāgbhaṭa, convinced of this, could not find it in his heart to hold out the language of decided hope to his dying and beloved brother. 'My dear brother', said he, as the tears rushed down his cheeks, 'You know that no one is able to avert what is to happen. As for myself, I will serve the prince as faithfully and as diligently as ever I have served you.' Scarcely had Vāgbhaṭa finished his speech when the king breathed his last.

When Vīranārāyaṇa came of age, a marriage was arranged between him and the daughter of the Ka chhavāha prince of Jayapura and he set out for Amarapura (Āmera), the capital of the Kachhavāha. On the way Vīranārāyaṇa and

his party were pursued by Jelālud-dīn, and had to turn back to Raṇathaṁbhōr without being able to marry the Jayapurāṇī. Here a great battle ensued, but neither party obtained the advantage. Jelālud-dīn saw that it would be difficult to conquer Vīranārāyaṇa in the field, and therefore determined to entrap him into his power by stratagem. For the present, therefore, he returned to his country; but after some days he sent a very flattering message to Vīranārāyaṇa through one of his most trusted servants. The messenger represented to Vīranārāyaṇa that he and Jelālud-dīn were the sun and moon in the surrounding starry heaven of kings, and that his master, extremely pleased with the gallantry displayed by the prince in the late war, sought his friendship. He also represented how good it would be if they both lived in harmony and saw each other frequently; how strong they both would be by this alliance, which would be like the union of wind with fire, and which would enable them to bear down all their many enemies. Jelālud-dīn, said the envoy, now looked upon Vīranārāyaṇa as his brother, and called upon the Almighty to witness if there was aught of deceit in his heart. The envoy concluded by inviting the prince, in the name of his master, to be the guest of the latter in his capital. "Should your Majesty have any objection," added the wily man, "to accept of Jelālud-dīn's hospitality, Jelālud-dīn himself will come to Raṇathaṁbhōr and pass a few days with you."

At this time there was pending some feud between Vīranārāyaṇa and Vigraha, king of Vakshasthalapura. Bent upon chastising Vigraha, Vīranārāyaṇa gave a willing ear to the ambassador, and resolved upon an alliance with Jelālud-dīn. Vāgbhaṭa disapproved of this alliance with the wicked Muhammadans, sought an interview with Vīranārāyaṇa and spoke against it. 'An enemy', said he, 'is never changed to a friend, do what service you may to him; and if you have any wish to live and govern the kingdom, you must listen to the advice of your teachers and elders, and avoid having aught to do with Jelālud-dīn and the Muslims".

Vīranārāyaṇa was incensed at his uncle's advice, and contemptuously asked him not to think of the cares of the state, as they were now ill-suited to his old and weak mind; that he himself was

equal to the task of government, and henceforth would do an act as best pleased him.

Vāgbhaṭa, stung to quick by this answer, left the palace and departed for Mālwā. Other courtiers too, after Vāgbhaṭa had left, tried to dissuade the king from going to his enemy, but all failed. Vīranārāyaṇa at length went to Yoginīpura. The wily Muslim came out to receive him and treated his guest apparently with the greatest respect. The prince was delighted with his reception, and became much attached to Jelālud-din. After a few days' hospitality, however, the prince was poisoned and died.

The joy of the Muhammadans at this event was excessive. They exclaimed that now the whole tree was prostrate at their feet, and they could help themselves to any part of it.

As the king was no more, and Vāgbhaṭa had left for Mālwā, Raṇathaṁbhōr was without defenders, and easily fell into the hands of the enemy. Once in possession of Raṇathaṁbhōr, Jelālud-dīn sent a message to the king of Mālwā to say that Vāgbhaṭa should be put to death.

The king of Mālwā, it appears, lent a willing ear to this nefarious proposal, but Vāgbhaṭa discovered the secret. He murdered the king of Mālwā, and possessing himself of his throne, soon gathered round him many of the distressed Rājputs. Possessed thus at once of a country and an army, he made a league with the Kharpūrās,[13] who were already in arms against the Muhammadans. Vāgbhaṭa conducted the combined army to Raṇathambhor and reduced its Muslim garrison to such a plight that they vacated the fort. Thus Vāgbhaṭa and the Rājputs once more became masters of Raṇathaṁbhōr.

It was Vāgbhaṭa's policy to station large forces at different posts along the frontier and thus to keep off his enemies. He died after a happy reign of twelve years.

Vāgbhaṭa was succeeded by his son Jaitrasiṁh. His queen was named Hīrā Dēvī, who was very beautiful, and in

---

13. Ferishta says 'Khakars', a Mongol tribe, who also seem to have invaded India at this time.

every way qualified for her high position. In course of time, Hirā Devi was found to be with child. Her cravings in this condition presaged the proclivities and greatness of the burden she bore. At times she was possessed with a desire to bathe herself in the blood of the Muslims. Her husband satisfied her wishes, and at last, in an auspicious hour, she was delivered of a son. The four quarters of the earth assumed a beautiful appearance ; balmy winds began to blow ; the sky became clear ; the sun shone graciously; the king testified his joy by showering gold on the Brāhmaṇs, and by making thank-offerings. The astrologers predicted, from the very favourable conjunction of the stars that presided over the child's nativity, that the prince would make the whole earth wet with the blood of the enemies of his country, the Muhammadans. Hammīra (for that was the name bestowed on the child) throve and grew up a strong and handsome boy. He easily mastered the sciences, and soon grew an expert in the art of war. When he attained a proper age, his father had him married to seven beautiful wives.

Jaitrasiṁha had two other sons also, Surattrāṇa and Vīrama, who were great warriors. Finding that his sons were now able to relieve him of the burden of government, Jaitrasiṁha one day talked over the matter with Hammīra, and, after giving him excellent advice as to how he was to behave, he gave over the charge of the state to him, and himself went to live in the forest. This happened in Saṁvat 1330 (A.D. 1283).[14]

Being endowed with the six *guṇas* and the three *śaktis*, Hammīra now resolved to set out on a series of warlike expeditions. The first place which he visited was Sarasapūra, the capital of Rāja Arjuna. Here a battle was fought, in which Arjuna was defeated and reduced to submission. Next the prince marched on Gaḍhamaṇḍala, which saved itself by paying tribute. From Gaḍhamaṇḍala Hammīra advanced upon Dhāra. Here was reigning a Rājā Bhoja, who, like his famous namesake, was the

14. The text runs as follows :—

ततश्च संवन्नव वह्निवन्हिभूहायने माघवलक्षपक्षे ।
पौष्यां तिथौ हेलिदिने सपुष्ये ज्योतिर्विदादिष्टबले विलग्ने ॥

friend of poets. After defeating Bhoja, the army arrived at Ujjain, where the elephants, horses, and men bathed in the clear waters of the Kshiprā. The prince also performed his ablutions in the river and paid his devotions at the shrine of Mahākāla. In a grand procession he then passed through the principal streets of the old city. From Ujjain, Hammira marched to Chitrakoṭa (Chitoḍ), and ravaging Medapāṭa (Mewāḍ), went on to Mount Ābū.

Though a follower of the *Vedas*, Hammira here worshipped at the temple of Ṛishabha Dēva, - for the great do not make invidious distinctions. The king was also present at a recitation in honour of Vastupāl. He stayed for some days at the hermitage of Vasishṭha, and, bathing in the Mandākini, paid his devotions to Achalēsvara. Here he was much astonished at seeing the works which Arjuna had executed.

The king of Abu was a famous warrior, but his prowess little availed him at this juncture, and he was obliged to submit to Hammira.

Leaving Ābū, the king arrived at Varddhanapura, which city he plundered and despoiled. Changā met with the same fate. Hence, by way of Ajmer, Hammira went to Puṣkara, where he paid his devotions to Ādivarāha (the primeval boar). From Pushkara the prince repaired to S'ākambhari. On the way the towns of Marhatā;[15] Khaṇḍilla, Chamdā, and Kāṅkroli were plundered. Tribhuvanēndra came to see him at Kāṅkroli, and presented to him many rich gifts.

After having accomplished these brilliant exploits, Hammira returned to his capital. The advent of the king caused a great commotion there. All the great officers of state, headed by Dharma Simha, came out in procession to receive their victorious monarch. The streets were lined by loving subjects eager to get a glimpse of their king.

---

15. There is no town of this name that Hammira could have ravaged on his way to Ṣ'ākambhari. There is such a town as Meḍatā, on the borders of Mewāḍ.

Some days after this H a m m ı r a inquired of spiritual guide, V i s' v a r ū p a , as to the efficacy of the merits arising from the performance of a sacrifice called the *Koṭī-yajña*, and being answered by the high priest that admittance into Svarga-loka was secured by the performance of the sacrifice, the king ordered that preparations should be made for the *Koṭīyajña*. Accordingly, learned Brāhmaṇs from all parts of the country were convened, and the sacrifice was completed according to the ordinances laid down for its performance in the holy *S'āstrās*. The Brāhmaṇs were sumptuously feasted, and handsome *dakshiṇas* were given to them. To crown all, the king now entered on the *Munivrata*, which he was to observe for an entire month.

While these things were taking place at R a ṇ a t h a ṁ b h ō r, many changes had occurred at D e h l i , where A l ā u d-d i n was now reigning. Apprised of what was passing at R a ṇ a t h a ṁ-b h ō r, he commanded his younger brother U l u g h K h ā n[16] to take an army with him into the C h o h ā n country and to lay it waste. "J a i t r a s i ṁ h a', he said, 'paid us tribute, but this son of his not only does not pay the tribute, but takes every opportunity of showing the contempt in which he holds us. Here is an opportunity to annihilate his power." Thus commanded, U l u g h K h ā n invaded the R a ṇ a t h ṁ b h ō r country with an army of 80,000 horse. When this army reached the V a r ṇ a n ā s' ā river, it was found that the roads which led into the enemy's country were not practicable for cavalry. Ulugh Khān, therefore, encamped here for some days, burning and destroying the villages in the neighbourhood.

The king at R a ṇ a t h a ṁ b h o r , not having yet completed the *Munivrata*, was unable to take the field in person. He therefore despatched his generals, B h ı m a s i ṁ h a and D h a r m a s i ṁ h a, to drive away the invaders. The king's army came upon the invaders at a place on the V a r ṇ a n ā s' ā, and gained a decisive advantage over the enemy, great numbers of whom were killed. Contenting himself with the advantage thus gained, B h ı m a s i ṁ h a began to retrace his steps towards R a ṇ a t h a ṁ b h ō r , Ulugh Khān

---

16. Malik Mūizzu'd-dın Ulugh Khān, called 'Aluf Khan' by Briggs in his translation of Firishtah.

secretly following him with the main body of his army. Now it so happened that the soldiers of Bhīmasiṁha, who had obtained immense booty, were anxious to carry it home safely, and, in their anxiety to do this, they outstripped their chief, who had around him only a small band of his personal followers. When Bhīmasiṁha had thus gained the middle of the Hindavāt pass, in the pride of victory he ordered the kettledrums and other musical instruments he had captured from the enemy to be vigorously sounded. This act had an unforeseen and disastrous consequence. Ulugh Khān had ordered his army to follow Bhīmasiṁha in small detachments, and had commanded them to fall on him wherever he should sound his martial instruments, which they were to understand as the signal of some great advantage gained over the enemy. When the detached parties, therefore, of the Muhammadans heard the sound of the *nagāras*, they poured into the pass from all sides, and Ulūgh Khān also coming up began to fight with Bhīmasiṁha. The Hindu general for a time nobly sustained the unequal combat, but was at last wounded and killed. After gaining this signal advantage over the enemy, Ulugh Khān returned to Delhi.

Hammīra, after the completion of the sacrifice, learnt the details of the battle and of the death of his general Bhīmasiṁha. He upbraided Dharmasiṁha for deserting Bhīmasiṁha, and called him blind, as he could not see that Ulugh Khān was on the track of the army. He also called him impotent as he did not rush to the rescue of Bhīmasīṁha. Not content with thus upbraiding Dharamsiṁha, the king ordered the offending general to be blinded and castrated. Dharmasiṁha was also superseded in the command of the army by Bhoja Deva, a natural brother of the Rāja, and a sentence of banishment was passed upon him, but, at Bhoja's intercession, it was not carried out.

Dharmasiṁha, thus mutilated and disgraced, was bitterly mortified at the treatment he had received at the king's hands, and resolved to be avenged. In pursuance of his determination, he contracted an intimate friendship with one Rādhā Dēvī, a courtesan, who was a great favourite at court. Rādhā Dēvī kept her

blind friend well acquainted every day as to what was passing at court. One day it so happened that Rādhā Dēvī returned home quite cross and dejected, and when her blind friend asked her the cause of her low spirits, she answered that the king had lost that day many horses of the *vedha* disease, and consequently paid little attention to her dancing and singing, and that this state of things, in all probability, was likely to continue long. The blind man bade her be of good cheer as he would see ere long that all was right again. She was only to take the opportunity of insinuating to the king that Dharmasiṁha, if restored to his former post, would present the king with twice the number of horses that had lately died. Rādhā Dēvī played her part well, and the king, yielding to avarice, restored Dharmasiṁha to his former post.

Dharmasiṁha thus restored, only thought of revenge. He pandered to the king's avarice, and by his oppression and exactions reduced the rayats to a miserable condition and made them detest their monarch. He spared no one from whom anything could be got—horses, money, anything worth having. The king, whose treasury he thus replenished, was much pleased with his blind minister, who, flushed with success, now called on Bhoja to render an account of his department. Bhoja knew the blind man grudged him his office, and going to the king he informed him of all Dharmasiṁha's schemes, and applied to him for protection from the minister's tyranny. But Hammīra paid no attention to the representations of Bhoja, telling him that as Dharmasiṁha was entrusted with full powers, and could do whatever he thought proper, it was necessary others should obey his orders. Bhoja, when he saw that the king's mind was turned from him, submitted to his property being confiscated and brought into the king's coffers as ordered by Dharmasiṁha. As in duty bound, however, he still followed his chief wherever he went. One day the king went to pay his devotions at the temple of Vaijanāth, and seeing Bhoja in his train, scornfully remarked to a courtier, who stood by, that the earth was full of vile beings; but the vilest creature on earth was the crow, who, though deprived of his last feather by the angry owl, still clung to his habitation on the old tree. Bhoja

understood the intent of the remark, and that it was levelled at him. Deeply mortified, he returned home and communicated his disgrace to his younger brother Pitama. The two brothers now resolved to leave the country, and the next day Bhoja went to Hammira and humbly prayed to be allowed leave to undertake a pilgrimage to Banāras. The king granted his request, adding that he might go to Banāras or further if he chose—that there was no danger of the town being deserted on his account. To this insolent speech Bhoja made no reply. He bowed and withdrew, and soon after started for Banāras. The king was delighted at Bhoja Deva's departure, and he conferred the Kotwālship vacated by him on Ratipāla.

When Bhoja reached Shirs'a, he reflected on the sad turn his affairs had taken, and resolved that the wanton insults heaped upon him should not go unavenged. In this mind, with his brother Pitama, he went to Yoginipura, and there waited upon 'Alāu'd-dīn. The Muhammadan chief was much pleased with Bhoja's arrival at his court. He treated him with distinguished honour, and betowed upon him the town and territory of Jagarā as a jahāgir. Henceforth Pitama lived here, and the other members of Bhoja's family, while he himself stayed at court. 'Alāu'-d-din's object was to learn Hammira's affairs, and he therefore lavished presents and honours on Bhoja, who gradually became entirely devoted to the interests of his new master.

Convinced of Bhoja's devotion to his cause, 'Alāu'dd-in one day asked him, in private, if there were any easy and practicable means of subduing Hammira. Bhoja answered that it was no easy matter to conquer Hammira, a king who was the terror of the kings of Kuntala, Madhyades'a (Central India), Aṅgades'a and the far Kāñchi,—a king who was master of the six *guṇās* and the three *s'aktis*, and who commanded a vast and powerful army—a king whom all other kings feared and obeyed, and who had most valiant brother in Vīrama, the conqueror of many princes—a king who was served by the fearless Mongol chiefs Mahimās'āhi and others, who, after defeating his brother, had defied 'Alāu'd-dīn himself. Not only had Hammira able

generals, said Bhoja, but they were all attached to him. Seduction was impossible save in one quarter. One man only had his price in the court of Hammīra. What a blast of wind was to a lamp, what the cloud was to the lotuses, what night was to the sun, what the company of women was to an ascetic, what avarice was to all other qualities, that was this one man to Hammīra – the sure cause of disgrace and destruction. The present time, too, said Bhoja, was not ill-suited for an expedition against Hammīra. There was a bumper harvest this year in the Chohān country and if 'Alāu'd-dīn could but snatch if from the peasantry before it could be stored away he would induce them, as they already suffered from the blind man's tyranny, to forsake the cause of Hammīra.

'Alāu'd-dīn liked Bhoja's idea, and forthwith commanded Ulugh Khān to invade Hammīra's country with an army of 100,000 horse. Ulugh Khān's army now poured over the land like an irresistible torrent,-the chiefs through whose territories it passed bending like reeds before it. The army thus reached Hindavāt, when the news of its approach and intention was carried to Hammīra. Thereupon the Hindu king convened a council, and deliberated on the course they had best adopt. It was resolved that Vīrama and the rest of the eight great officers of state should go and do battle with the enemy. Accordingly, the king's generals divided the army into eight divisions, and fell on the Muhammadans from all the eight points of the compass at once. Virama came from the east, and Mahimāśāhi from the west. From the south advanced Jājadēva, while Garbharūka advanced from the north. From the south-east came Ratipāla, while Tichar Mongol directed the attack from the north-west. Raṇamalla came from the north-east, while Vaichara chose the south-west for his direction of attack. The Rājputs set to their work with vigour. Some of them filled the enemy's entrenchments with earth and rubbish, while others set on fire the wooden fortification raised by the Muhammadans. Others, again, cut the ropes of their tents. The Muhammadans stood to their arms and vauntingly said they would mow down the Rājputs like grass. Both sides fought with desperate courage; but the Muhammadans at last gave way before the

repeated attacks of the Rājputs. Many of them, therefore, left the field and fled for their lives. After a time their example was followed by the whole of the Muhammadan army, which fled ignominiously from the battlefield, leaving the Rājputs complete masters of it.

When the battle was over, the modest Rājputs went over the field to gather their dead and wounded. In this search they obtained much booty and arms, elephants and horses. Some of the enemy's women also fell into their hands. Ratipāla forced them to sell buttermilk in every town they passed through.

Hammīra was exceedingly delighted at the signal victory over the enemy gained by his generals. He held a grand darbār in honour of the event. In the darbār the king invested Ratipāla with a golden chain-comparing him, in his speech, to the war-elephant that had richly deserved the golden band. All the other nobles and soldiers were also rewarded according to their deserts, and graciously ordered back to their respective homes.

All but the Mongol chiefs left the presence. Hammīra observed this, and kindly asked them the reason of their lagging behind. They answered that they were loth to sheathe their swords and retire to their houses before they had chastised the ungrateful Bhoja, who was enjoying himself in his jahāgir at Jagarā. On account of the relation in which he stood to the king, said they, they had up to this time allowed Bhoja to live ; but he now no longer deserved this forbearance, as it was at his instigation that the enemy had invaded the Ṛaṇathaṁbhōr territory. They therefore asked permission of the king to march on Jagarā and attack Bhoja. The king granted the request, and at once the Mongols left the palace for Jagarā. They took the town by storm, and taking Pītama captive, with many others, brought him back to Raṇthaṁbhōr.

Ulugh Khān after hit discomfiture hastily retired to Dehli and apprised his brother of what had happened. His brother taxed him with cowardice ; but Ulugh Khān excused his flight by representing that it was the only course open to him, under the circumstances, which could enable him to have the pleasure of once more seeing his

brother in this world, and have another opportunity of fighting with the Chohān. Scarcely had Ulugh Khān done with his excuses, when in came Bhoja, red with anger. He spread the cloths which he had worn as an upper garment on the ground, and began to roll upon it as one possessed with an evil spirit, muttering incoherently all the while. 'Alāu'd-dīn was not a little annoyed at this strange conduct, and inquired the reason of it. Bhoja replied that it would be difficult for him ever to forget the misfortune that had overtaken him that day; for Mahimāsāhi having paid a visit to Jagarā, had carried it by assault and dragged his brother Pītama into captivity before Hammīra. Well might people now, said Bhoja, point the finger of scorn at him, and say, Here is the man who has lost his all in the hope of getting more. Helpless and forlorn, he could not now trust himself to lie on the earth, as it all belonged now to Hammīra; and he had therefore spread his garment, on which to roll in grief which had deprived him of the power of standing.

Already the fire of anger was kindled in the breast of 'Alāu'd-dīn at the tale of the defeat his brother had sustained, and Bhoja's speach added fuel to the fire. Throwing to the ground, in the vehemence of his feelings, the turban he had on, he said Hammīra's folly was like that of one who thought he could tread upon the lion's mane with impunity, and vowed he would exterminate the whole race of the Chohāns. Then at once he despatched letters to the kings of various countries calling upon them to join him in a war against Hammīra. The kings of Aṅga, Telaṅga, Magadha, Maisūr, Kaliṅga, Baṅga, Bhot, Medapāt, Panchāl, Bāngāl[17], Thamim, Bhilla, Nepāl, Dāhal, and some Himālayan chiefs, who also obeyed the summons, brought their respective quotas to swell the invading army. Amongst this miscellaneous host there were some who came on account of the love they bore to the goddess of war, while others were there who had been drawn into the ranks of the invaders by the love of plunder. Others, again, only came to be spectators of the desperate fighting that was expected to take place. There was such a thronging of

17. I spell these names as they are in the original.

elephants, horses, chariots, and men that there was scarcely room for one to thrust a grain of *tila* amidst the crowd. With this mighty concourse, the two brothers, Nusrat Khān and Ulugh Khān, started for the Raṇthaṁbhōr country.

'Alāu'd-dīn with a small retinue stayad behind with the object of inspiring the Rājputs with a dread of the reserves that must have necessarily remained with him, their king.

The numbers in the army were so great that they drank up all the water of the rivers on the line of march. It was therefore found necessary not to halt the army longer than a few hours in any one place. By forced marches, the two generals soon reached the borders of the Raṇathaṁbhōr territory-an event which gave rise to conflicting sentiments in the minds of the invaders. Those that had taken no part in the late war said victory was now *certain*, as it was impossible the Rājputs should be able to withstand such troops as they were. The veterans of the last campaign, however, took a different view of the matter, and asked their more hopeful comrades to remember that they were about to encounter Hammira's army, and that, therefore, they should reserve their vaunting until the end of the campaign.

When the pass was gained which was the scene of Ulugh-Khān's discomfiture and disgrace, he advised his brother not to place too much confidence in their power alone, but, as the place was a difficult one, and Hammīra's army both strong and efficient, to try stratagem by sending some one on to the court of Hammīra, there to try to while away some days in negotiations about peace, while the army should safely cross the mountains and take up a strategical position. Nusrat Khān yielded to the superior experience of his brother, and S'ri Molhaṇa Deva was sent to propose the terms on which the Muhammadans would conclude a peace with Hammīra. Pending negotiations, Hammīra's people allowed the invading army to cross the dangerous pass unmolested. The Khān now posted his brother on one side of the road known as the Maṇḍi Road, and he himself occupied the fort of S'rī Maṇḍapa. The forces of the allied princes were stationed all round the tank of Jaitra Sāgara.

Neither party was sincere. The Muhammadans thought they had artfully secured an advantageous position from whence to commence their operations ; whilst the Rājputs were of opinion that the enemy had so far advanced into the interior that he could not now possibly escape them.

The Khān's ambassador at Raṇathaṁbhōr, admitted into the fort by the king's order, from what he saw there, was inspired with a dread of Hammira's power. However, he attended the darbār held to receive him, and, after the exchange of the usual courtesies, boldly delivered himself of the message with which he was charged. He said that he was deputed to the king's court as the envoy of Ulugh Khān and Nusrat Khān, the two brothers of the celebrated 'Alāu'd-dīn; that he had come there to impress on the king's mind, if possible, the futility of any resistance that he could offer to so mighty a conqueror as 'Alāu'd-dīn, and to advise him to conclude a peace with his chief. He offered to Hammira, as the conditions of peace, the choice between paying down to his chief a contribution of one hundred thousand gold *mohors*, presenting him with four elephants and three hundred horses, and giving his daughter in marriage to 'Alāu'd-dīn ; or the giving up to him the four insubordinate Moṅgol chiefs, who, having excited the displeasure of his master, were now living under the protection of the king. The envoy added that if the king desired the enjoyment of his power and kingdom in peace, he had the opportunity at hand of securing his object by the adoption of either of these conditions, which would equally secure to him the good graces and assistance of Alāu'd-dīn, a monarch who had destroyed all his enemies, who possessed numerous strong forts and well-furnished arsenals and magazines, who had put to shame Mahādeva himself by capturing numerous impregnable forts, like Dēvagaḍha, whereas the fame of the god rests on the successful capture of the fort of Tripura alone.

Hammira, who had listened with impatience to the ambassador's speech, was incensed at the insulting message delivered to him, and said to Śrī Molhaṇa Deva that if he had not been there in the capacity of an accredited envoy, the tongue with which

he uttered those vaunting insults should ere this have been cut out. Not only did Hammīra refuse to entertain either of the conditions submitted by the envoy, but on his part he proposed the acceptance by 'Alāu'd-dīn of as many sword-cuts as the number of the gold *mohors*, elephants, and horses he had the impudence to ask for, and told the envoy he would look upon the refusal of this martial offer by the Muhammadan chief as tantamount to his ('Alāu'd-dīn's) feasting on pork. Without any further ceremony, the envoy was driven from the presence.

The garrison of Raṇathaṁbhōr now prepared for resistance. Officers of approved ability and bravery were told off to defend various posts. Tents were pitched here and there on the ramparts to protect the defenders from the rays of the sun. Oil and resin were kept boiling in many places, ready to be poured on the bodies of any of the assailants to scald them if they dared come too near, and guns were mounted on suitable places. The Muhammadan army, too, at last appeared before Raṇathaṁbhōr. A desperate struggle was carried on for some days. Nusrat Khān was killed by a random shot in one of the engagements[18], and, the monsoon having set in, Ulugh-Khān was obliged to stop all further operations. He retired to some distance from the fort, and sent a despatch to 'Alāu'd-dīn, informing him of the critical situation he was in. He also sent him in a box Nusrat Khān's body for burial. Upon this intelligence reaching 'Alāu'd-dīn, he started at once for Raṇathaṁbhōr. Arrived there, he immediately marched his army to the gates of the fort and invested it.

Hammīra, to mark his contempt of these proceedings, had caused to be raised, on many places over the walls, flags of light wickerwork. This was as much as to say that 'Alāu'd-dīn's advent before the fort was not felt to be a burden to, or an aggrevation of, the sufferings of the Rājputs. The Muhammadan chief at once saw that he had to deal with men of no ordinary resolution and courage, and he sent a message to Hammīra saying he was greatly pleased with his bravery, and would be glad to grant any request such a

18. Elliot and Dowson's *History*, vol. III, p. 172. —ED.

gallant enemy might wish to make. Of course this was bidding in some way for peace. Hammīra, however, replied that as 'Alāu'd-dīn was pleased to grant anything he might set his heart upon, nothing would gratify him so much as fighting with him for two days, and this request he hoped would be complied with. The Muhammadan chief praised very much this demand, saying it did justice to his adversary's courage, and agreed to give him battle the next day. The contest that ensued was furious and desperate in the last degree. During these two days the Muhammadans lost no less than 85,000 men. A truce of some few days being now agreed upon by both the belligerents, fighting ceased for a time.

On one of these days the king had Rādhā Dēvī dancing before him on the wall of the fort, while there was much company round him. This woman, at stated and regular intervals, well understood by those who understand music, purposely turned her back towards 'Alāu'd-dīn, who was sitting below in his tent not far from the fort, and who could well see what was passing on the fort wall. No wonder that he was incensed at this conduct, and indignantly asked those who were about him if there was any among his numerous followers who could, from that distance, kill that woman with one arrow. One of the chiefs present answered that he knew one man only who could do this, and that man was Uddānasingh, whom the king had in captivity. The captivie was at once released and brought before 'Alāu'd-dīn, who commanded him to show his skill is in archery against the fair target. Uddānasingh did as he was bid, and in an instant the fair form of the courtesan, being struck, fell down headlong from the fort wall.

This incident roused the ire of Mahimāśāhi, who requested permission of the king to be allowed to do the same service to 'Alāu'd-dīn that he had done to poor Rādhā Dēvī. The king replied that he well knew the extraordinary skill in archery possessed by his friend, but that he was loth 'Alāu'd-dīn should be so killed, as his death would deprive him of a valiant enemy with whom he could at pleasure hold passages of arms. Mahimāśāhi then dropped the arrow he had adjusted on his bowstring on Uddānasingh, and killed him. This feat of

M a h i m ā s' ā h i so intimidated 'A l ā u' d-d ī n that he at once removed his camp from the eastern side of the lake to its western side, where there was greater protection from such attacks. When the camp was removed, the Rājputs were able to perceive that the enemy, by working underground, had prepared mines, and had attempted to throw over a part of the ditch a temporary bridge of wood and grass carefully covered over with earth. The Rājputs destroyed this bridge with their cannon, and, pouring burning oil into the mines, destroyed those that were working underground. In this manner all 'A l ā u' d-d ī n's efforts to take the fort were frustrated. At the same time he was greatly harassed by the rain, which now fell in torrents. He therefore sent a message to H a m m ī r a, asking him kindly to send over to his camp R a t i p ā l a, as he desired very much to speak with him, with a view to an amicable settlement of the differences subsisting between them.

The king ordered R a t i p ā l a to go and hear what 'Alau'd-dīn had to say. R a n a m a l l a was jealous of R a t i p ā l a's influence, and did not at all like that he should have been chosen for this service.

'A l ā u' d-d ī n received R a t i p ā l a with extraordinary marks of honour. Upon his entering the darbār tent, the Muhammadan chief rose from his seat, and, embracing him, made him sit on his own *gadi*, while he himself sat by his side. He caused valuable presents to be placed before R a t i p ā l a, and also made promises of further rewards. R a t i p ā l a was delighted with such kind treatment. The wily Muhammadan, observing it, ordered the rest of the company to leave them alone. When they had all left, he began to address R a t i p ā l a. "I am", said he, " 'A l ā u' d-d ī n, the king of the Muhammadans, and I have up to this time stormed and carried hundreds of fortresses. But it is impossible for me to carry R a ṇ t h a m b h ō r by force of arms. My object in investing this fort is simply to get the fame of its capture. I hope now (as you have condescended to see me) I shall gain my object, and I may trust you for a little help in the fulfilment of my desire. I do not wish for any more kingdoms and forts for myself. When I take this fort, what better can I do than bestow it on a friend like you? My

only happiness will be the fame of its capture." With blandishments such as these, R a t i p ā l a was won over, and he gave 'A l ā u' d-d ī n to understand so. Thereupon 'Alāu'd-dīn, to make his game doubly sure, took R a t i p ā l a into his *harem*, and there left him to eat and drink in private with his youngest sister.[19] This done, Ratipāla left the Muhammadan camp and came back into the fort.

R a t i p ā l a was thus gained over by 'A l ā u' d d ī n Therefore, when he saw the king, he did not give him a true account of what he had seen in the Muhammadan camp, and of what 'Alāu'd-dīn had said to him. Instead of representing 'A l ā u'd-d ī n's power as fairly broken by the the repeated and vigorous attacks of the Rājputs, and he himself as willing to retire upon a nominal surrender of the fort, he represented him as not only bent upon exacting the most humiliating marks of submission on the part of the king, but as having it in his power to make good his threats. 'A l ā u' d-d ī n confessed, said R a t i p ā l a, that the Rājputs had succeeded in killing some of his soldiers ; but that mattered little, for no one could look upon the centipede as lame for the loss of a foot or two. Under these circumstances he advised H a m m i r a to call upon R a ṇ a m a l l a in person that night , and persuade him to do his best in repelling the assailants ; for R a ṇ a m a l l a , said the traitor R a t i p ā l a , was an uncommon warrior, but that he did not, it appeared, use his utmost endeavours in chastising the enemy as he was offended with the king for something or other. The king's visit, alleged R a t i p ā l a, would make matters all right again.

After this interview with the king. R a t i p ā l a hastened to see R a ṇ a m a l l a , and there, as if to oblige and save from utter destruction an old comrade and associate, informed him that, for some unknown reason, the king's mind was greatly prejudiced against him, and he advised him to go over to the enemy on the first alarm ; for

---

19. At first sight this statement might seem to be a fancy of the author intended to blacken the character of the victor. But we read that such things were quite possible in the tribe to which the conqueror belonged. A slipper at the door of his wife's room is a sign well understood by a husband in this tribe, at sight of which he immediately takes care to retire from the house. —See Tod, vol I p. 56.

he said Hammīra had resolved to make him a prisoner that very night. He also told him that the hour at which he might expect to be visited by the king for this purpose. Having done this, Ratipāla quietly waited to see the issue of the mischief he had so industriously sown.

Vīrama, the brother of Hammīra, was with him when Ratipāla paid him the visit, and he expressed his belief to his brother that Ratipāla had not spoken the truth, but had been seduced from his allegiance by the enemy. He said he could smell liquor when Ratipāla was speaking, and a drunken man was not to be believed. Pride of birth, generosity, discernment, shame, loyalty, love of truth and cleanliness, were qualities, said Vīrama, that were not to be expected to be the possessions of those that drink. In order to stop the further progress of sedition among his people, he advised his brother to put Ratipāla to death. But the king objected to this proposal, saying that his fort was strong enough to resist the enemy under any circumtances ; and if by any unforeseen accident, it should fall into the hands of the enemy after he had killed Ratipāla, people would moralize on the event, and attribute their fall to their wickedness in putting to death an innocent man.

In the meantime, Ratipāla caused a rumour to be spread in the king's Ranawās that 'Alāu'd-dīn only asked for the hand of the king's daughter, and that he was ready to conclude a peace if his desires in this respect were granted, as he wanted nothing else. Hereupon the king's wives induced his daughter to go to her father and express her willingness to bestow her hand on 'Alāu'd-dīn. The girl went where her father was sitting, and implored him to give her to the Muhammadan, to save himself and his kingdom. She said she was as a piece of worthless glass, whilst her father's life and kingdom were like the *chintāmaṇi*, or the wish-granting philosopher's stone ; and she solicited him to cast her away to retain them.

The king's feelings quite ovecame him as the innocent girl, with clasped hands, thus spoke to him. He told her she was a mere child, and was not to be blamed for what she had been taught to speak. But he knew not what punishment they deserved who had the imprudence to put such ideas into her innocent head. It did not, said he,

become a Rājput to mutilate females; else he shoud have cut out the tongues of those that uttered such blasphemy in his fair daughter's ears. "Child", said Hammira, "you are yet too young to understand these matters, and there is not much use in my explaining them to you. But to give you away to the unclean Muhammadan, to enjoy life, is to me as loathsome as prolonging existence by living on my own flesh. Such a connection would bring disgrace on the fair name of our house, would destroy all hopes of salvation, and embitter our last days in this world. I will rather die ten thousand deaths than live a life of such infamy." He ceased, and ordered his daughter, kindly but firmly, to her chamber.

The unsuspecting king then prepared to go, in the dusk of the evening, to Ra amalla's quarters, in order to remove his doubts, as advised by Ratipāla. The king was but slightly attended. When, however, he approached Raṇamalla's quarters, the latter remembered what Ratipāla had said to him, and, thinking his imprisonment was inevitable if he stopped there any longer, precipitately left the fort with his party and went over to 'Alāu'd-dīn. Seeing this, Ratipāla also did the same.

The king, thus deceived and bewildered, came back to the palace, and sending for the Koṭhāri (the officer incharge of the royal granaries) inquired of him as to the state of the stores, and how long they would hold out. The Koṭhāri, fearing the loss of his influence, if he were to tell the truth to the king at that time, falsely answered that the stores would suffice to hold out for a considerable time. But scarcely had this officer turned his back when it became generally known that there was no more corn in the state granaries. Upon the news reaching the king's ears, he ordered Virama to put the false Koṭhāri to death, and to/ throw all the wealth he possessed into the lake of Padma Sāgar.

Harassed with the numerous trials of that day, the king in utter exhaustion threw himself on his bed. But his eyes were strangers to sleep that dreadful night. It was too much for him to bear the sight of those whom he had treated with more than a brother's affection, one by one, adjure themselves and leave him alone to his fate. When the morning came, he performed his devotions, and came and sat in

the darbār hall, sadly musing on the critical situation. He thought that, as his own Rājputs had left him, no faith could be placed in M a h i m a s' ā h i, at once a Muhammadan and an alien. While in this mood, he sent for M a h i m a s' ā h i, and said to him that, as a true Rājput, it was his duty to die in the defence of his kingdom; but he was of opinion it was improper that people who were not of his race should also lose their lives for him in this struggle, and therefore now it was his wish that M a h i m a s' ā h i should name to him some place of safety where he could retire with his family, and thither he would see him escorted safely.

Struck by the king's generosity, M a h i m a s' ā h i, without giving any reply, went back to his house, and there put to the sword all the inmates of his zanāna, and returning to H a m m ī r a said that his wife and children were ready to start off, but that the former insisted on once more looking upon the face of the king, to whose favour and kindness the family had owed so long their protection and happiness. The king acceded to this request, and, acommpanied by his brother V ī r a m a, went to M a h i m a s' ā h i's house. But what was his sorrow and surprise when he saw the slaughter in the house! The king embraced M a h i m ā s' ā h i and began to weep like a child. He blamed himself for having asked him to go away, and knew not how to repay such extraordinary devotion. Slowly, therefore, he came back to the palace, and giving up everytihng for lost, told his people that they were free to act as they should think proper. As for himself, he was prepared to die charging the enemy. In preparation for this, the females of his family, headed by R a ṅ g a D ē v ī, perished on the funeral pire. When the king's daughter prepared to ascend the pile, her father was overcome with grief. He embraced her and refused to separate. She, however, extricated herself from the paternal embrace, and passed through the fiery ordeal. When there remained nothing but a heap of ashes, the sole remains of the fair and faithful Chohānis, H a m m ī r a performed the funeral ceremonies for the dead, and cooled their manes with a last ovation of the *tilānjalī*. He then, with the remains of his faithful army, sallied out of the fort and fell upon the enemy. A deadly hand-to-hand struggle ensued. V ī r a m a fell first in the thickest of the battle;

then Mahimāśāhi was shot through the heart. Jāja, Gaṅgādhar Tāk, and Kshetrasingh Paramāra followed them. Lastly fell the mighty Hammira, pierced with a hundred shafts. Disdaining to fall with anything like life into the enemy's hands, he severed, with one last effort, his head from his body with his own hands, and so terminated, his existence. Thus fell Hammira, the last of the Chohāns! This sad event happened in the 18th year of his reign, in the month of Śrāvaṇa.[20]*

20. The *Tārīkh-i-'Alāī* of Amīr Khusrū gives the date as 3rd Zi-l Ka'da A.H. 730 (July 1301 A.D.); the siege began in Rajab, four months previously.—Elliot and Dowson's *History*, vol. III. pp. 75,179,549.

*Reproduced from 'The Hammira Mahākāvya of Nayachandra Suri' Ed. by Nilkanth Janārdan Kirtane, Bombay, 1879.

प्रथम सर्ग

हम उस परमात्मतत्व के चित् स्वरूप आनन्द की परमानन्द घन के शुभवर्षण द्वारा महती उन्नति के एक मात्र कारण स्वरूप की, परम ज्योति की उपासना करते हैं, जिसमें इस समस्त प्रपञ्च को विशुद्धिमय करने वाली शंकर भगवान् की लक्ष्मी सरोवर के जल में हंसिनी की भांति पुनः-पुनः विहार करती है ॥१ ॥

उस परम ज्योति के ज्ञान तथा विज्ञान के प्रति दत्तचित्त सज्जन जिसे पर-ब्रह्ममय कहते हैं वह निज जन्म का अवसान या अन्त करते हुए पद्मासन पर विराजमान नाभि भू-ब्रह्माजी आपको कल्याण की ओर त्वरित गति से अग्रसर करें ॥२ ॥

श्री यशोदा माता के माध्यम से शुभ प्रवृत्ति का संचय करने वाले, गोप ग्वालों के समूह के द्वारा निज चरण कमलों की अर्चना प्राप्त तथा स्ववक्षः स्थल पर श्री वत्स चिह्नांकित श्री कृष्ण भगवान्, जो लक्ष्मी जी को स्वपार्श्व भाग में धारण करते हैं तथा वे पुरुषोत्तम कृष्ण तुम्हारी लक्ष्मी की महती वृद्धि करें। श्री पार्श्वनाथ भी (श्लेष में) यश और दया की शुभ प्रवृत्ति युक्त होकर स्वर्ग सुरगणों से पूजित (गौः-स्वर्ग) महाकाय (श्री वत्स-महापुरुष) तथा पुरुष श्रेष्ठ (पार्श्वनाथ भी) आपकी श्रीवृद्धि करें ॥३ ॥

उन्नत ककुद् वाले नन्दी पर शोभित कामदेव के मद को नष्ट करने वाले, पार्वती के द्वारा अनुसृत, वैभवयुक्त, शुभ्रचेता, अज्ञानांधकार विनाशक श्री शंकर भगवान् आपकी विभूति वर्द्धन करें। (श्लेष मे) तथैव सद्धर्मों (वृष), जितेन्द्रिय कल्याणकारी, विभूतियुक्त, स्वज्ञान प्रकाश से अंधकार से अज्ञान को नष्ट करने वाले श्री वर्धमान भी आपकी विभूति के लिए अग्रसर हों ॥४ ॥

सार्वभौम चिह्न चक्र को हृदय पर धारण करने वाले प्रमोद दाता प्रभावयुक्त विशेष प्रभा से युक्त, सौभाग्यदायी, सम्यक् प्रकारेण ज्ञानदान में सक्षम सोलहवें तीर्थङ्कर श्री

शान्ति महाराज पापों का शमन करें ॥५॥

समुद्र से जन्म लेने वाले नेमीश्वर भगवान् हमारी श्रीवृद्धि के लिए हों जो महान् नरेश्वरों द्वारा पूजित, सुदृढ़-ज्ञानवान्, शुभ-ज्ञान के प्रचारक तथा स्वप्रचण्डज्ञान प्रकाश से अन्धकार रूपी अज्ञान को नष्ट करने वाले थे ॥६॥

त्रिलोकी को पवित्र करने वाली, महाकवियों द्वारा स्तुत, सत्य सम्पदा से युक्त, शुभ्रप्रदा सरस्वती नाम्नी सरिता हमारी बुद्धि को निर्मल करे ॥७॥

कृतयुग के मान्धाता, त्रेता के श्रीराम एवं द्वापर के युधिष्ठिर जैसे राजा पृथिवी तल पर कितने नहीं हुए? अर्थात् अनेक प्रसिद्ध राजा उत्पन्न हुए। उनमें से एक हम्मीर नामक महीपति (कलियुग में) हुए जो कि सत्त्वगुणों से युक्त होने के कारण प्रातः स्मरणीय हैं ॥८॥

सत्त्ववृत्ति वाला होने के कारण जिसकी राज्य लक्ष्मी, राजा के आनन्द और उसका जीवन तृणवत् हो गये, क्योंकि उसने शकराज को न तो अपनी पुत्री दी और न शरण में आये हुए व्यक्तियों को ही समर्पित किया ॥९॥

अतः मैं राजाओं को पावन करने की दृष्टि से श्री हम्मीर राज के चरित का कुछ वर्णन करना चाहता हूँ। उनके सत्त्वगुण गौरव को पौनःपुन्येन श्रवण करके मुझे इस वर्णन के लिए प्रेरित किया गया है ॥१०॥

कहाँ इन हम्मीर राज का महान् चरित्र और कहाँ मेरी अणुस्वरूप लघु बुद्धि? फिर भी वर्णन का लोभ संवरण न करने वाला मैं एक ही भुजा से महासमुद्र को (हम्मीरराज के चरित्र को) तैर कर पार करना चाहता हूँ ॥११॥

गुरु कृपा से मैं उन (हम्मीर राज) के वृत्तान्त का वर्णन करने में असमर्थ हूँ क्योंकि चन्द्रमा के उत्सङ्ग के सम्पर्क के कारण भूमि निवासी मृग भी आकाश में क्रीडा कर सकता है। (चन्द्रमा को 'मृगाङ्क' कहा जाता है।) ॥१२॥

श्री 'चाहमान' नामक नरपति के कुल शिरोमणि हम्मीरराज हुए अंतः मैं इतिहासोक्त उस राजा की हर्षदायिनी उत्पत्ति का वर्णन करता हूँ ॥१३॥

सृष्टि के प्रारंभ में यज्ञ के लिए पवित्र स्थान को देखने के लिए घूमने वाले ब्रह्माजी

के कर-कमलों में से, कहते हैं कि, एक कमल कहीं पर गिर पड़ा, मानो कि वह विधाता की कान्ति से पराभूत हो गया हो ॥१४॥

तब इस स्थान को मङ्गलमय जानकर दीनता से रहित तथा यज्ञ प्रारंभ कर देने वाले इन ब्रह्माजी ने दनुजों के समूहों से डर की शंका करके प्रकाश से जाज्वल्यमान सूर्य का स्मरण किया ॥१५॥

इसके पश्चात् सूर्य के बिम्ब से तलवार उठाये हुए एक पुरुष अवतीर्ण हुआ और उसे इस यज्ञ की रक्षार्थ नियुक्त करके ब्रह्माजी ने सुखपूर्वक यज्ञ किया ॥१६॥

क्योंकि यहाँ पर ब्रह्माजी के हाथ से कमल गिरा था अतः यह स्थान 'पुष्कर तीर्थ' नाम से प्रसिद्ध हो गया। इसी प्रकार इच्छा करता हुआ यह जो पुरुष (चाहमान) यहाँ आया, वह चाहमान (चौहान) नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥१७॥

उस चाहमान (चौहान) नायक राजा ने ब्रह्माजी की कृपा से साम्राज्य प्राप्त करके बड़े-बड़े भूपतियों को तुरन्त सूर्य की भांति (जैसे सूर्य बड़े-बड़े पहाड़ों को भी किरणों से आक्रान्त कर देता है-वैसे ही) परास्त कर दिया क्योंकि सूर्य ही इस राजा का पिता था ॥१८॥

राजा बलि भी अपने दान की महत्ता से महान् यश प्राप्त कर सका था किन्तु चौहान राजा के दान के आगे उसके दान की शोभा लुप्त हो गई और उसने पाताल जाना ही श्रेयस्कर समझा। लज्जायुक्त मनुष्य के लिए दूसरी गति क्या हो सकती है? उसे नीचे ही जाना (लज्जित होना ही) पड़ता है ॥१९॥

"हे पापी! तुम मेरी कीर्त्ति की कामना करते हो" (तुम मेरी कीर्त्ति रूपी पत्नी के प्रति प्रणय भावना रखते हो।) ऐसा कहकर चन्द्रमा को क्रोध करके चौहान राजा के द्वारा रोका गया और वह चन्द्रमा इसी कलंक को धोने के लिए मानो सूर्य बिम्ब के अन्दर प्रतिमास प्रवेश करता है और बाहर आता है ॥२०॥

जिस चौहान राजा की प्रताप की अग्नि ने शत्रु रूपी वनों को उस प्रकार जला दिया जिससे कि आज तक भी वनदाह से उठे धुएँ के कारण आकाश अपनी कालिमा नहीं छोड़ता है ॥२१॥

जिसकी विचित्र तथा अति सुन्दर चरित्र वाली कीर्त्ति का श्रवण करके भी प्रसन्न होते

हुए शेषनाग ने पृथ्वी के ध्वंस के डर से मस्तक नहीं हिलाने के कारण क्लेश प्राप्त किया ॥२२ ॥

विजयश्री को वरण नहीं करने वाले शत्रुओं को चौहान राजा ने अत्यधिक व्याकुल कर दिया। उसी तरह चुगलखोर लोगों को भी उसकी विजय से महान् क्लेश प्राप्त हुआ ॥२३ ॥

यह प्रसिद्धि रही कि चौहान राजा ने यह सोचकर क्रोध करके कि मेरे यश से इस समुद्र का पुत्र चन्द्रमा प्रतिस्पर्धा कर रहा है, उसकी (समुद्र की) गंभीरता का हरण कर लिया। क्या पुत्र के अपराध पर राजा पिता को दण्ड नहीं देता है? अर्थात् पिता अवश्य दण्डनीय होता है ॥२४ ॥

उसी चौहान वंशीय राजा हम्मीर की प्रशस्तियों की वजह से "चाहमान" वंश (चौहान) त्रैलोक्य में प्रसिद्ध हो गया और हमेशा देवताओं द्वारा सुपूजित होता हुआ नररत्नों की उत्पत्ति का कारण बना ॥२५ ॥

उसी वंश में वीरता युक्त अनेक राजा हुए जिन्होंने धर्म, अर्थ और काम-त्रिवर्ग के पवित्र संसर्ग में रहने के कारण समस्त पापों का निराकरण कर दिया ॥२६ ॥

अपने पराक्रम से समस्त जगत् को जीतने वाला "दीक्षित वासुदेव" नामक राजा भी इसी वंश में हुआ जो कि मानो वासुदेव-कृष्ण की भाँति शक रूपी राक्षसों को जीतने के लिए पृथ्वी पर अवतरित हुआ ॥२७ ॥

जिसने शत्रु समूह के मस्तकों को काटने के कारण अधिक कुण्ठित हुई अपनी तलवार को अपने प्रताप की आग में तपाने के पश्चात् उनकी रमणियों की आँखों के आंसुओं का पानी पिलाकर बुझाया ॥२८ ॥

रणभूमि में जिसके हाथ में विजयश्री अनुराग प्रकट करने वाली रमणी की भांति ऐसी तलवार के रूप में शोभा देती थी जो कटे हुए शत्रु मस्तकों के रुधिर से सनी हुई हो ॥२९ ॥

जो राजा (दीक्षित वासुदेव) स्वर्ग में सुरों के देखते रहने पर रणवाद्यों के बजाये जाने पर मानो तलवार के रूप में अपनी शौर्य लक्ष्मी को रणभूमि में नचाता था ॥३० ॥

जिसके तेज से पराजित सूर्य भी समुद्र में रोजाना छलांग लगा जाता है और मरण भय से पुनः समुद्र जल से बाहर निकलता है। हाय! निंद्य जीवन भी बड़ी कठिनाई से छोड़ा जाता है ॥३१ ॥

उसी राजा दीक्षित वासुदेव का "श्री नरदेव" नामक पुत्र हुआ जो ब्रह्माजी द्वारा भी पूजित जैसा था और सुन्दरियों को भी आकर्षित करने वाले रूप से संयुक्त था ॥३२ ॥

इस राजा ("श्री नरदेव") के क्रुद्ध होकर पृथ्वी पर घूमने पर शत्रुगण अपने कोशों से खड्ग नहीं निकालते थे बल्कि कोशों से (खजानों से) रत्न निकालकर राजा को कर चुकाते थे ॥३३ ॥

जिसका नई चन्द्रहास (तलवार) लिये हुए हाथ युद्ध में अतिशय शोभा प्राप्त करता था तथा दुश्मन रूपी कमलों की शोभा को म्लान कर देता था ॥३४ ॥

जिसकी प्रतापानल ने अन्याय रूपी वनों को जला दिया था, जो ठीक ही था। साथ ही शत्रुओं को आश्चर्यजनक ढंग से उसने कम्पायमान कर दिया था ॥३५ ॥

जिसके चरणों के नख इतने सुन्दर थे जिनके बहाने सपरिवार चन्द्रमा, मानो यह विचार करके कि "यश के कारण इस राजा ने मुझे जीत लिया है" इस राजा के चरण कमल-युगल में लोट जाता था ॥३६ ॥

इसके पश्चात् राजनीति के सिरमौर "श्री चन्द्रराज" नामक राजा से पृथ्वी शोभित हुई जिसने अपने मुख की छवि से तथा यश से दोनों प्रकार से चन्द्रमा को जीत अपनी प्रसिद्धि का विस्तार किया ॥३७ ॥

जिसकी प्रतापाग्नि विचित्र ही रूप धारण करती थी। धनयुक्त शत्रुओं के मध्य तो वह प्रचुर रूप से जलकर उनसे धन वसूल करती थी किन्तु निर्धन राजाओं के प्रति शान्त रहती थी ॥३८ ॥

अपने धनुष की प्रत्यञ्चा खींचकर वह शर समूह चलाता था और शत्रुओं को यमराज के धाम को तुरन्त भेज देता था ॥३९ ॥

जिस राजा का महान् खड्ग परस्पर विरोधी आचरण करता था क्योंकि शत्रुगणों का विदारण करने में एक ओर वह रुचि रखता था तो दूसरी ओर परदाराओं के

लिए कोई आसक्ति नहीं प्रदर्शित करता था ॥४० ॥

उसके पश्चात् अजयपाल नामक महान् तेजस्वी राजा हुआ जो समस्त शत्रुओं को जीत लेने के कारण एवं समस्त विद्याओं में सिद्ध होने से संसार में 'चक्री' के नाम से भी प्रसिद्ध हुआ ॥४१ ॥

जिसका खड्ग प्रतापरूपी अग्नि की शिखा ज्योति की भाँति जाज्वल्यमान रहता था क्योंकि उसने शत्रुओं के हाथियों के समूहों के मस्तक फोड़ दिये थे और उनसे उछलते हुए शोणित से उसकी तलवार अग्नि जैसी दीप्त हो जाती थी ॥४२ ॥

वह सुवर्ण द्रव्यदान देने में दक्ष था और द्यूत क्रीड़ा में भी अधिक कुशल था। चतुरङ्ग सेना द्वारा युद्ध क्रीड़ा में भी वह दुश्मनों के लिए अजेय था ॥४३ ॥

उसके हाथ में स्थित तलवार जिसने कि शत्रुओं के हाथियों के मस्तक मान करके मुक्ताफलों की चमक धारण की थी, उन मोतियों से मानो विजयश्री की माला जैसी लगती थी ॥४४ ॥

जिसके यशः प्रवाहों से त्रैलोक्य के भर जाने पर विद्वानों ने ऐसा माना जैसे कि मानो उसके प्रताप से तपे हुए इस त्रैलोक्य को नव चन्दन से लीप दिया गया हो ॥४५ ॥

जिसकी कीर्त्ति के द्वारा स्वर्गङ्गा अपनी शोभा का अपहरण मानकर क्या आज भी अपने प्रवाहपात की ध्वनि के बहानों से फूत्कार नहीं करती ? ॥४६ ॥

संग्राम में शत्रुओं के मुख कमलों के रक्त रूपी मधु को तृप्ति के साथ पीकर जिसके बाण मदमत्त भौंरों की भांति पृथ्वी तल पर घूमते थे ॥४७ ॥

जिसके साथ युद्ध करने वाले शत्रुओं के पसीना आ जाता था, वे कम्पित होते थे और बलहीन हो जाते थे- ठीक उसी प्रकार जैसे कि पति से संयुक्त वधुओं के पसीना, प्रकम्पन और शक्तिहीनता आ जाती है ॥४८ ॥

[illegible] [illegible], प्रतिष्ठित, शुद्ध वर्ण वाले और शुद्ध चरित्र वाले राजा ने अपने यश का [illegible] करते हुए सत्कवि की भाँति कहीं पर भी दूसरों के धन हरण करने का विचार नहीं किया ॥४९ ॥

"यदि मैं राजा के विरुद्ध रहूँगा तो मुझे कोई भी नहीं जानेगा" यह सोचकर अग्नि जिसके प्रताप से भयभीत होकर लकड़ी में प्रविष्ट हो गया था अन्यथा लकड़ी के घर्षण से अग्नि का जन्म कैसे हो सकता था? (काष्ठ रगड़ने से अग्नि पैदा होती है, ऐसा प्रसिद्ध है।) ॥५०॥

जिस राजा के तेज का सृजन करने में ब्रह्मा के भी ऐसा स्वेदोद्गम हुआ कि नदी तुल्य बहते हुए उस पसीने के द्वारा समुद्र का समस्त जल क्षारयुक्त कर दिया गया ॥५१॥

जिसने "अजयमेरु" दुर्ग बनवाया जो कि वास्तुकला का नमूना था, धन से पूर्ण और विधाता की सृष्टि को मात करने वाला था तथा अपनी कान्ति से स्वर्ग की शोभा को भी जीतने वाला था ॥५२॥

उसके पश्चात् त्रिलोकी में विख्यात यश वाला "जयराज" नामक राजा हुआ जिसके कीर्त्तिरूपी चन्द्रमा से दिशा रूपी कामिनियों के मुख मण्डल चमक उठे ॥५३॥

जिस (जयराज) के यश के जाल के फैल जाने पर जब चन्द्रमा भी अलक्षित होने लग गया तो पूर्व में ही ऐसी शंका करके विधाता ने चन्द्रमा के बिम्ब के बीच में कलङ्क रख दिया ॥५४॥

जिसके पृथ्वी के शासन करने पर विशाल शराबखानों में ही मार्ग का उल्लंघन दीखता था, मंदिरों में नहीं; अस्त्रों में ही खड्ग दीखते थे निष्करुणता कहीं नजर नहीं आती थी और पाणिग्रहण संस्कारों में ही हाथ पकड़ा जाता था कहीं वर कर नहीं लिया जाता था ॥५५॥

संसार के दीपक रूप जिसके प्रताप के होने पर जब पतङ्ग की तरह सूर्य उसमें गिर पड़ा तब से ही सूर्य का नाम "पतङ्ग" पड़ गया, अन्यथा कविवर कैसे सूर्य को पतङ्ग कह सकते थे ॥५६॥

यह सत्य है कि सगा भाई भी एक ही नक्षत्र में पैदा होने पर भी समान नहीं होता क्योंकि एक ही इस राजा की तलवार से उत्पन्न तेज तो उष्ण होता था और यश शीतल ॥५७॥

इसके बाद "सामन्तसिंह" राजा हुआ जो कि शत्रुमध्य मदमस्त हाथियों के दल में सिंह के समान शोभा देता था और शत्रुसमूह को अपनी शक्ति से पराजित करने

वाले इस राजा की तलवार ही इसके कर का भूषण थी ॥५८ ॥

अहा ! रात दिन महान् उन्नति वाले राजा का यश रूपी चन्द्रमा खूब शोभा देता था। न तो उसे राहु से भय था और न उसे शत्रुरूपी मेघों से ही कांति क्षीण होने का डर था ॥५९ ॥

जिस ("सामन्त सिंह") का प्रताप समस्त नृपगणों के शीशों पर चमकता रहता था और जिसने छत्रधारी राजाओं को क्लेश पहुँचाया अर्थात् उन्हें परास्त कर दिया तथा छत्र छोड़कर शरणागत राजाओं को कभी दुःख नहीं दिया ॥६० ॥

"यह राजा मेरी दोनों बहिनों से स्पर्द्धा कर रहा है" ऐसा सोचकर क्रुद्ध हुई इसकी कीर्त्ति शंकर भगवान् की जटाओं में स्थित मन्दाकिनी के बहाने से उनके सिर पर आरोहण कर गई थी ॥६१ ॥

जिस राजा के साथ युद्ध करते समय दुश्मन राजा अपना विवेक खोकर दाँतों से तृण पकड़कर पशुवत् शरण में आ जाते थे ॥६२ ॥

इसके पश्चात् "गूयक" नामक राजा राज्य लक्ष्मी का स्वामी हुआ जिसके द्वारा निरन्तर अपने त्याग रूपी जल से धर्म रूपी वृक्ष का सिञ्चन किया गया ॥६३ ॥

जिसके हाथ में स्थित प्रचुर जलधारा से पूर्ण तलवार रूपी मेघ को देखकर मानसरोवर से भी शत्रुरूपी हंस उड़कर चले आते थे ॥६४ ॥

जो कि शत्रुरूपी पशुओं को घास डालते हुए हाथ में तलवार रूपी दण्ड धारण करके सुन्दर देह यष्टि वाला होकर सत्य ही अपने ग्वालपन को प्रसारित करता था ॥६५ ॥

रण से पलायन करने वाले राजाओं के यशरूपी दुग्ध का पान करके जिसका खड्ग उनकी स्त्रियोचित सांसों की वायु को पीते हुए मानो पुष्ट सर्प जैसा आचरण करता था ॥६६ ॥

उसके चन्दन की भांति लोगों को आनन्द देने वाले "नन्दन" नामक पुत्र ने समर में समस्त शत्रुओं को जीतकर अपना राज्य समुद्र पर्यन्त फैला लिया था ॥६७ ॥

जिसने (नन्दन ने) शुभ्र चरित्र होकर प्रकाश मात्र देकर प्रजा को पुष्ट करते हुए और ज्ञान से अज्ञानांधकार को नष्ट करके सूर्य की भांति अपनी प्रजा का पालन किया

था ॥६८ ॥

शत्रुओं को परास्त करने वाले इसकी सभी ने प्रशंसा की क्योंकि इस राजा ने युद्ध में कभी पीठ नहीं दिखाई और न किसी राजा ने इसके सामने आने की हिम्मत की ॥६९ ॥

इसकी सभी ने प्रशंसा की क्योंकि इसने अपने कोश (म्यान) से खङ्ग को भी बाहर निकाला और साथ-साथ दुश्मनों के धन को भी खींच लिया ॥७० ॥

जिसकी शक्ति ने समुद्र पार राज्य जमाने से मानो समुद्र का अपमान करके पाप कमाया था और उसका निवारण करने हेतु ही मानो उसने समुद्र पार स्थित तपोवनों में प्रवेश ले लिया था ॥७१ ॥

इसके बाद "वप्रराज" नामक राजा हुआ जिसने सारे अस्त्ररूपी उपनिषदों का अध्ययन किया था, जिसके पराक्रम से भय के कारण स्त्रियाँ ऋतुमती हो जाती थी और जिसने युद्ध लीला से इन्द्र को भी मात कर दिया था ॥७२ ॥

अपने उज्ज्वल प्रताप की आग में तपे हुए राजाओं की विजयश्री जिसकी तलवार की तीक्ष्णधार रूप जल प्रपात में गिरकर स्नान कर लेती थी अर्थात् उसकी तलवार के सामने शत्रु हार जाते थे ॥७३ ॥

इस राजा की खङ्ग यष्टि का आकार सर्प से केवल आकार मात्र से ही साम्य रखता था क्योंकि साँप तो दंशन के द्वारा प्राण हरण करता है, इसका खङ्ग तो देखने मात्र से ही शत्रुओं को मार डालता था ॥७४ ॥

जिसकी ओज और यश की उत्पत्ति करने वाले विधाता के द्वारा तो पहले सूर्य तथा चन्द्रमा की उत्पत्ति अभ्यास मात्र के लिए की गई थी, पश्चात् ओज तथा यश की उत्पत्ति की ॥७५ ॥

मुझे शंका है कि शत्रु राजाओं के नाश के कारण हुए पाप को धोने के लिए ही इस राजा की कीर्त्ति ने बार-बार स्वर्गङ्गा में स्नान नहीं किया हो अन्यथा इसकी कीर्त्ति ऐसी श्वेत कैसे हो सकती थी ॥७६ ॥

दोष रहित इस राजा के दो दोष थे-कामना के अनुसार सबको वश में करना तथा लोभ।

युद्ध में वह अपने सैन्य चक्र का इच्छानुसार उपयोग करता था तथा उसे हमेशा विश्वश्री का ही लोभ होता था। अर्थात् ये गुण ही थे दोष नहीं ॥७७॥

जिस राजा की कीर्त्ति के गीत सुनकर मानता हूँ कि शंकर भगवान् भी प्रसन्नता से नाचने लग जाते थे। इस प्रकार जटाएँ खुल जाने से देव नदी के जल प्रवाह से मानो वे श्वेत वर्ण के हो जाते थे ॥७८॥

प्रचुर संख्या में याचकों को दान देने वाले इस दानी राजा के लिए तो "दा" धातु के पीछे लगने वाला ही "नकार" प्रिय वस्तु था, दूसरा "नकार" नहीं। वह दान देने से कभी मना नहीं करता था ॥७९॥

इस राजा ने प्रचुर संकल्प से पूर्ण, विपक्ष के भाले की भांति बेध देने वाली, त्रैलोक्य की वन्दनीय, "शाकंभरी" नामक स्थान पर निवास करने वाली "शाकंभरी" नामक देवी को प्रसन्न करके जगत्कल्याण के निमित्त शाकंभरी देवी में ही इसने रुमादेवी को प्रकट कर दिया था ॥८०-८१॥

इसके पश्चात् समस्त शत्रु समूह को जीतने वाले "हरिराज" नामक राजा ने पृथ्वी का भार स्वीकार किया जिसने कि शकराज को रण में मारकर "मुग्धपुर" पर अधिकार कर लिया ॥८२॥

रणभूमि में जो एक व्यक्ति होते हुए भी अनेक प्रकार से दुश्मन योद्धाओं को प्रतीत होता था, उसी प्रकार से जैसे कि निर्मल जल से भरे पात्रों में चन्द्रमा लोगों को अनेक प्रकार का दिखाई देता है ॥८३॥

अहो। यह अद्‌भुत बात है कि उदारता आदि सत्कवियों के गुण भी उस "हरिराज" राजा गुणों से साम्य नहीं कर सकते थे क्योंकि उसके नाम के प्रत्येक अक्षर में अमृत सागर भरा हुआ था तथा उसके यश रूपी कपूर की रज से समस्त वाणियों के पथ आकीर्ण हो गये थे ॥८४॥

अनेकों पर्वतों पर घूम-घूम कर भी औदार्य आदि गुणों का स्थान नहीं पा सके अतः वे सब गुण पुरवासियों की भांति रात-दिन उसके नगर में निवास करते थे ॥८५॥

इसके द्वारा प्रचुर अध्ययन किया गया था अथवा हमें भी अध्ययनशील रहने के लिये निषेध कर दिया गया था-यह बात कवियों की वाणी के लिए ही शक्य हो

गई थी ॥८६ ॥

वराह, कूर्म और शेषनाग भी जिस पृथ्वी को अपने सिर पर किसी प्रकार कठिनाई से धारण करते हैं उसी पृथ्वी को इस राजा ने खेल ही खेल में एक ही भुजा से धारण कर रखा था-यह बात किसको विस्मय में नहीं डालती? ॥८७ ॥

इस राजा की तलवार रूपी समुद्र में पाप की भावना अस्त हो गई-यह अद्‌भुत बात थी। ऐसे ही नीर-सहित होने पर भी इसके राज्य में जड़ता नहीं थी-यह भी अति अद्‌भुत बात थी। इसके राज्य में पाप व मूर्खता नहीं थी ॥८८ ॥

कूर्म की पीठ पर हजार फणों से युक्त शेषनाग ने पृथ्वी को धारण किया किन्तु इस राजा ने एक ही भुजा से पृथ्वी का पालन किया यह किसको विस्मयजनक नहीं लगता ॥८९ ॥

इसके बाद "सिंहराज" नामक राजा हुआ जो शेर जैसी चाल से चलता था, जिसने अपने शौर्य से शत्रुओं के हाथियों के समूह को परास्त कर दिया था, पवित्र स्त्रियों के द्वारा सुन्दर चँवरों के जोड़े से जिसकी केश राशि दोलायमान होती थी और जो सर्वत्र स्वामित्व की प्रकृति को धारण करता था ॥९० ॥

इस राजा के द्वारा डराये हुए राजाओं की अपकीर्त्ति बहुत फैली और मानो बादलों के आगमन के कारण उनके सम्मानरूपी हंस उड़ गये तथा उनकी रानियाँ आँसू बहाने लग गई ॥९१ ॥

'समुद्र तो खारा है किन्तु किस प्रकार से शुभ्र किरणों वाला एवं सुधामय चन्द्रमा उससे उत्पन्न हो गया? पुत्र तो पिता के समान ही होता है। किन्तु इसका उत्तर यह है कि इस राजा के प्रसारित यश रूपी अमृत के कारण पूर्ण हुए समुद्र ने सुधाकर चन्द्रमा को जन्म दिया था ॥९२ ॥

यह राजा शत्रुओं की लक्ष्मी को बलपूर्वक खींच लेता था तथा कवियों के द्वारा स्तुति की जाने पर उसे राजा दान स्वरूप दे देता था। इस प्रकार से इस राजा की कीर्त्ति भी शत्रु प्रदेश की ओर प्रसारित हो जाती थी ॥९३ ॥

इस राजा के बाण और कृपाण हाथ में होने पर दो बातें अद्‌भुत होती थी-बाण तो युद्ध में वैरियों को लक्ष्य करके दौड़ते थे और तलवार अपनी म्यान ही छोड़

देती थी। दुश्मन अपने खजानों को समर्पित करके शरण में आ जाते थे ॥९४ ॥

अगाध समुद्र एवं विशाल मेरु पर्वत अलग-अलग बनाकर मेरे मत से, ब्रह्मा कृतार्थ नहीं हुआ। फिर उसने इस राजा के अन्दर समुद्र का गांभीर्य एवं मेरु गिरि सरीखी गरिमा दुबारा उत्पन्न करके बड़ी प्रसन्नता प्राप्त की ॥९५ ॥

इस राजा के सौन्दर्य से वश में की हुई विजय लक्ष्मी रूपी कन्या ने दुर्भाग्यशील समस्त राजपुत्रों को छोड़ दिया और विवाह करने को इसके पास आकर उसने एक साथ तेज रूपी एवं यश रूपी पुत्र को उत्पन्न किया यह बड़ी कौतुक की बात है ॥९६ ॥

इसके सेना प्रयाण के वाद्यों की ध्वनि के दिशाओं में फैलने पर कर्नाटक का राजा खुशामद प्रकट करने आ जाता था, लाटदेश का नृप अपने नगर के कपाट खोलकर स्वागत करता था और अङ्गराज क्षणभर में संग्राम के कारण बुद्धिहीन हो जाता था ॥९७ ॥

"इस राजा के द्वारा मुझे गंभीरता में जीत लिया गया है" ऐसा सोचकर हे समुद्र ! तुम खिन्न मत होओ। देखो इस नृपति ने तो शक्ति एवं उन्नति से मेरु पर्वत भी जीत लिया है ॥९८ ॥

ज्योंही यह राजा संग्राम में धनुष हाथ में लेता था त्योंही बैरी राजा लोग इसके आगे कर देकर शरण में आ जाते थे। साक्षात् यम की भांति क्रुद्ध हुए इस राजा से प्राण बचाने की कोई तरकीब नहीं थी ॥९९ ॥

हे राजाओं ! शत्रुओं को मारकर इस राजा ने क्षमा धारण कर ली है ऐसा सुनकर तुम अपनी भुजाओं पर घमण्ड मत करो क्योंकि इस राजा का चरित तो ब्रह्मा भी नहीं जानता। क्षमा तो बाह्य स्थित है। अन्दर तो वीरता भरी है जो तुम्हारे अभिमान को चूर-चूर कर देगी ॥१०० ॥

महान् दानशील इस राजा ने अपनी दान विधि के द्वारा पाँचों कल्पवृक्ष जीत लिये और अपनी एक-एक अंगुली के समान इस कल्पवृक्ष की कलियों को बलिराजा की भांति दान दिया जिससे यह "पंचांगुलि" नाम से प्रसिद्ध हो गया। यह पूर्व के व्यवहार के कारण ही पूर्व पुरुषों के द्वारा स्वीकार किया गया था ॥१०१ ॥

यह राजा कभी भी स्वहस्त से अपनी तलवार को नीचे नहीं रखता लेकिन गुणवान् व्यक्ति का तिरस्कार भी कभी नहीं करता है किन्तु इसके बाण इसकी कीर्त्ति को साथ लिए हुए समस्त भू-मण्डल में घूमते रहते हैं ॥१०२॥

हाय ! हाय ! यह कैसी अनुचित बात है कि समुद्र अपने पुत्र चन्द्रमा को देखकर प्रसन्न होता है जो कि इस राजा के द्वारा अपने यशः समूह से पराजित कर दिया गया है। वैसे ही अपने तेज से बड़वाग्नि को भी इसने सुखा दिया है। सभी व्यक्ति पर-दोषदर्शन में ही पटु होते हैं, अपने दोषों पर दृष्टि नहीं डालते ॥१०३॥

इस राजा "सिंहराज" ने मूर्तरूप चार उपायों-(साम, दाम, दण्ड, भेद-रूपी) की भांति चार हाथियों को पकड़ लिया था और युद्ध में इस नैसर्गिक वीर्यवान्, अपने दर्प से पूर्ण भुजाओं से शत्रुगणों को पकड़ लेने वाले एवं ऐरावत के समान सघनप्रभा वाले राजा ने "हेतिम" नामक म्लेच्छ राजा को मार डाला था ॥१०४॥



द्वितीय सर्ग

इसके अनन्तर निः सन्तान होने के कारण "सिंहराज" अपने भतीज "भीमराज" को राज्य देकर बैकुण्ठधाम चला गया ॥१ ॥

उसके राज्य को पाकर "भीमदेव" ने तुरन्त ही वैसा प्रताप फैलाया जिससे पृथ्वी पर कोई शत्रु हो, ऐसी प्रवृत्ति ही समाप्त हो गई (उसका पृथ्वी पर कोई शत्रु नहीं रहा।) ॥२ ॥

* * *

अपने खङ्ग के अग्र भाग से उसने शत्रुओं के हाथियों के मस्तक फोड़-फोड़कर मुक्ताफलों की मानों वर्षा कर दी और इसी बहाने उसने शत्रु पर पराक्रम प्रदर्शित करने वाली लता पर विकसित और प्रचुर समयावधि में अर्जित यशः पुष्पों को मानों बिखेर दिया ॥३ ॥

स्वप्न में भी भयभीत हुए शत्रुगण उसके दर्शन मात्र से निद्रा और अपनी रानियों को भी छोड़ देते थे। उस शक्कर से क्या लाभ जो खाने के पश्चात् दाँतों को खोखला कर देती हो ॥४ ॥

हाय ! गुण तथा अवगुणों का यद्यपि परीक्षण अधिक कल्याणकारी नहीं होता, तो भी इस राजा ने (भीमदेव ने) दानार्थियों को इतना दान दिया कि कल्पवृक्षों का भी अभिमान नष्ट हो गया ॥५ ॥

इसके बाद अत्याचार को नष्ट करने के लिए कटिबद्ध "विग्रहराज" नामक राजा हुआ जिसने शत्रु राजाओं का दोनों प्रकार से शरीर से भी-युद्ध से भी-रण भूमि में नाश कर दिया ॥६ ॥

इस राजा का प्रताप मानों नवीन सूर्य था जिसने कि शत्रुओं के मुख कुमुदों को बन्द

कर दिया, समुद्र पर्यन्त प्रजाओं को प्रसन्न कर दिया और अत्याचार के राहुओं को पीड़ित कर दिया था ॥७ ॥

पहले किये हुए अपने शक्तिमय कार्यों से इस क्रुद्ध राजा ने पृथ्वी को सन्तप्त कर दिया था तो बाद में दया से आर्द्र हुए चित्त वाले इस राजा ने अपनी कीर्त्ति रूपी सुधा से इसे सींच भी दिया था ॥८ ॥

इसने "श्रीमूलराज" नामक राजा को युद्ध में मार डाला था जिसके चरण कमलों की सेवा अनेक वीर राजा किया करते थे और इस प्रकार 'गुर्जर' प्रदेश को इसने जर्जर कर दिया था ॥९ ॥

छः प्रकार के शत्रुओं (काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और ईर्ष्या) को जीतने वाले राजनीतिज्ञ "गुन्ददेव" नामक राजा ने इसके बाद राज्य किया जिसकी कि आश्चर्य है कि कवियों द्वारा बाँधी हुई कीर्त्ति भी सारे भू-मण्डल में घूमने लगी ॥ (कवि रचित काव्यों द्वारा कीर्त्ति प्रसार हुआ) ॥१० ॥

इस राजा के तेज से ही मानो विधाता ने आकाश स्वरूप शंकर भगवान् के शीश पर तिलक लगाया था जो कि रूप आज भी शोभा दे रहा है ॥११ ॥

"मैं पृथ्वी का चन्द्रमा हूँ" ऐसा विचार करके इस राजा ने कठोर कर नहीं लगाए और चकोर पक्षी के लिए यह हर्षदायी नहीं हुआ किन्तु कुमुदिनियों की कलियों के लिये तो यह प्रसन्नता देने वाला था ही ॥१२ ॥

बड़ा आश्चर्य है कि इसकी कीर्त्ति रूपी बेल कहीं पर भी इसकी कल्पाग्नि के समान ज्वलनशील प्रताप के चारों ओर फैलने पर भी म्लान नहीं हुई। (प्रताप के कारण यश फैला) ॥१३ ॥

इस राजा के प्रताप से त्रस्त हुई दुश्मनों की दावाग्नि असम्भव जल की शरण में चली गई। जीवन की शरण की आशा के लिये अकृत्य कार्य भी करना पड़ता है ॥१४ ॥

इसके प्रताप की ज्वाला से शत्रुओं के घर जल गये और वहाँ घास का उद्गम हो गया ॥१५ ॥

"तब वल्लभराज" नामक राजा हुआ जो कि उज्ज्वल एवं अमित तेज वाला था। यह राजा इतना तेजवान था कि इसकी रानी "लीलावती" भी इसके रूप को अपने

नेत्रों से निहारती थी ॥१६॥

रणभूमि में मारे हुए शत्रु राजा अपने मनुष्य रूप को छोड़कर जब शीघ्रतापूर्वक स्वर्ग की ओर जाते थे तो इस राजा (वल्लभराज) के प्रताप को स्मरण करके सहस्र किरणों वाले सूर्य को देखकर काँप जाते थे ॥१७॥

इस राजा के यश के समूह संसार में निःशङ्क होकर अपार संख्या में फैल गये थे क्योंकि वे समस्त वैभव को जीतने वाली स्वर्ग की लक्ष्मियों की अनन्तता से स्पर्द्धा करना चाहते थे ॥१८॥

इसके पश्चात् 'राम' नामक राजा हुआ जो क्षत्रियों का सिरमोर था और पृथ्वी का भार वहन करने में समर्थ भुजाओं का स्वामी था तथा जिसने खरदूषण के गर्व नष्ट करने वाले राम की भांति त्रैलोक्य को अपने वश में कर लिया था ॥१९॥

इस ('राम') राजा का कृपाण अपने स्वामी के कर-कमलों के साथ विजयश्री का संयोग कराते हुए शत्रुरूपी अंधकार को नष्ट करते हुए रणभूमि में उज्ज्वल प्रताप की दीप्त कान्तियों का निर्माण करता था ॥२०॥

विशुद्ध धार वाली इस राजा की तलवार शत्रुओं के शीश काटती हुई रक्त का स्पर्श भी नहीं करती थी-कोई अनुराग नहीं दिखाती थी। विशुद्ध आदमी दूसरे आदमी की किसी वस्तु से सम्पर्क नहीं रखते ॥२१॥

तब "चामुण्डराज" जो कि बड़ा प्रचण्ड राजा हुआ, नृपरूप में प्रतिष्ठित हुआ। इसके हाथ में तलवार रूपी लता विजयश्री की वेणी की भांति शोभा देती थी ॥२२॥

इसका विस्तृत प्रताप मैं मानता हूँ कि, पृथ्वी की चट्टानों को भी भेद देता था। अन्यथा आज भी धरती पर पत्थर से आग कैसे उत्पन्न होती? ॥२३॥

इस (चामुण्डराज) ने "हेजमदीन" नामक शक राजा को रणभूमि में तुरन्त ही मृत्यु के मुख में धकेल दिया था ॥२४॥

इसके पश्चात् "दुर्लभराज" नामक राजा ने वसुधा का भार धारण किया जो कि चन्द्रमा की शोभा को भी जीतने वाला था। यह राजा अपनी भौंहों को टेढ़ी करके ही युद्ध क्षेत्र से शत्रुगणों को पलायन का पाठ पढ़ा देता था ॥२५॥

ऐसी मैं शंका करता हूँ कि इस राजा की कीर्त्ति से पराजित शंकर भगवान् भिक्षुक बन गये थे अन्यथा महेश्वर (महान् ईश) होते हुए भी उनका लंगोटी पहनने में क्यों अनुराग होगा? ॥२६ ॥

इसके खड्ग की धार से शत्रुओं के प्रताप की आग सब ओर से बुझा दी गई थी और उनकी रानियाँ प्रचुर रूप से आँसू बहाती थीं ॥२७ ॥

इस मानधन राजा ने सहाबदीन (सहाबुद्दीन) को समर में जीतकर पकड़ लिया था जिसने कि अनेक युद्धों में विजय के कारण चन्द्रमा को भी मात करने वाली कीर्त्ति अर्जित की थी ॥२८ ॥

तब "दुःशलदेव" नामक शत्रुसमूह को जीतने वाला राजा हुआ जिसके मानस (हृदय) में आकर के चर्मरूपी हंस ने कौन-कौन से विलास नहीं किये? ॥२९ ॥

इसके डर से पलायन करते हुए शत्रुगण जो आवाजें करते थे वे ही मानो इस नृपति की विजयश्री के विवाहोत्सव की वेद ध्वनियाँ थीं ॥३० ॥

इसने "श्रीकर्णदेव" नामक राजा को युद्ध में मारकर उसकी राज्य लक्ष्मी से विवाह कर लिया था ॥३१ ॥

इसके कृष्ण वर्ण का खड्ग इसके हाथ में रहकर शत्रुओं के कण्ठ में लग जाता था-उनके सर काट देता था। इस प्रकार खड्ग रूपी लता असती का सा कार्य नहीं करती थी? ॥३२ ॥

इसी (कुशलदेव) से "श्री विश्वल" नामक राजा उत्पन्न हुआ जो संसार में प्रसिद्ध कीर्त्ति वाला होकर पृथ्वी का भूषण बना तथा जिसने शत्रु कुल का मूलोच्छेदन करके पृथ्वी पर एकाधिकार कर लिया ॥३३ ॥

इसके राज्य में इसका शासन अनीति के लिए कुल्हाड़े के तुल्य था। इसके साथ उसकी सेना भी खूब शोभा देती थी ॥३४ ॥

इसके शत्रुओं की रानियाँ पर्वत की गुफाओं में कैद कर दी जाती थीं और वे सूर्य के उदयास्त को भी नहीं जान सकती थीं। इसी प्रकार इसके मित्रों की कामिनियाँ भी रति मन्दिरों में बिलासमग्न रहकर भूषणादि सुसज्जित होकर ऐसी मग्न रहती

थीं कि सूर्योदयास्त का उन्हें पता नहीं चलता था ॥३५ ॥

मारे हुए शत्रुगणों के शरीरों से, निश्चेष्ट शवों से रणभूमि पट जाती थी-मानो सो जाती थी। भूमि-और शत्रु नारियों के आँसुओं से यह राजा पृथ्वी का सेचन करके उसे जगाता था ॥३६ ॥

भयंकर सैन्य बल ले आये 'सहाबदीन' (शहाबुद्दीन) को निस्तेज करके इसने समर में मार डाला था और मालवदेश देश का स्वामी होकर भी इसने इसके स्वामित्व को छोड़ दिया था ॥३७ ॥

तब "पृथ्वीराज" ने पृथ्वी की शोभा बढ़ाई और धवल यशों को फैला करके और इसके खड्ग के चलाने पर दुश्मनों के मुकुट भी रणभूमि में गिर जाते थे ॥३८ ॥

शंकर भगवान् के चरण कमलों की सेवा की भांति इस राजा की आज्ञा कल्याणकारी होती थी क्योंकि प्रजा उसे सहर्ष शिरोधार्य करती थी और वह जनता का समर्थन प्राप्त करती थी ॥३९ ॥

इसकी गन्धर्वों के द्वारा स्वर्ग में गाई हुई कीर्त्ति को सुनकर कौन ऐसी अप्सरा थी जो इस नृपति के संगम की वाञ्छा नहीं करती ॥४० ॥

तब "आल्हणदेव" नामक वीरों का शिरोमणि राजा हुआ जिसके मस्त हाथियों को याद करके जंगल में स्थित शत्रु भी काँपते थे ॥४१ ॥

याचक के द्वारा मांग लेने पर यह राजा कभी भी 'नहीं' शब्द नहीं बोलता था। केवल 'दान' शब्द में ही न होता था। यह तो ईश्वरेच्छा ही थी ॥४२ ॥

इसकी तलवार कटे हुए शत्रु के रक्त से लाल शोभा वाली हो जाती थी तथा जिस शत्रु ने इससे स्पर्द्धा की उसकी लाल-लाल जीभ मानों वह खींच लेता था-वही यह लाल रक्त से दिग्ध तलवार थी ॥४३ ॥

इस नृपति के रूप के वर्णनों को कानों से श्रवण करके स्वप्न में भी उसके साथ संगम करने की इच्छुक कौन स्त्री कामुक नहीं होती थी? (सब स्त्रियाँ उसके रूप पर मुग्ध थीं) ॥४४ ॥

इसके पश्चात् "आनल्लदेव" वीर शिरोमणि राजा ने राज्यलक्ष्मी का वरण किया जो शत्रुओं के विनाश के कारण अपनी कीर्त्ति को स्वर्ग तक ले गई ॥४५ ॥

शेषनाग ने भी सोचा कि मेरी कामिनियों द्वारा भी इस राजा का यश गाया जा रहा है अतः कौन ऐसा है जो मेरी अनुपस्थिति में पृथ्वी धारण कर सके ताकि मैं उन यशोगान करने वाली मेरी स्त्रियों को देखूं? (कीर्त्ति पाताल तक भी फैल गई थी) ॥४६ ॥

इसका खड्ग वणिक् कला में कुशल था जिसने मानो अपनी कालिमा को शत्रुओं को बांट दी उनका प्राण तथा यश दोनों ही ले लिये ॥४७ ॥

क्या विधाता ने-हिमालय, कैलाश के अमृत तथा चन्द्रमा की शोभा को लेकर ही इसके यश का निर्माण किया था जो इसके आगे ये सब श्रीविहीन हो गये थे? ॥४८ ॥

सुवर्णमय-मेरु पर्वत के गर्वस्वरूप अपने हाथ को मानों उठाकर पृथ्वी बोली कि इसके अतिरिक्त कोई भी अन्य दानी, बुद्धिमान्, विनयशील अथवा राजनीतिज्ञ पुत्र मेरे द्वारा उत्पन्न नहीं किया गया ॥४९ ॥

डरे हुए पति के द्वारा छोड़ी गई शत्रु नारी अपने ही देश में रात्रि में चन्द्रमा की शीतलता में विरह की तीव्रता होने के कारण अपने आपको दूसरे द्वीप में स्थित-सी ही मानती थी ॥५० ॥

चारों ओर पर्वतों के प्रतिबिम्ब के कारण मानों दिग्गजं जिसमें क्रीड़ा कर रहे हों-ऐसे निर्मल जल वाले पवित्र पुष्कर नामक तालाब को इस राजा ने खुदाया ॥५१ ॥

इसके पश्चात् "जगदेव" नामक राजा हुआ जिसकी लक्ष्मी विस्मयकारिणी थी और जिसके मान और दान पाकर याचक धनिक बन जाते थे ॥५२ ॥

इस नृपति की ओज रूपी आग शत्रु की रानियों के निःश्वासों तथा शोकयुक्त अश्रुओं से मिलकर बादलों का रूप ले लेती थी और शत्रुओं के लिए दुर्दिन स्वरूप होती थी ॥५३ ॥

विधाता ने जब इस विश्व को त्याग में परास्त करने वाले राजा की अंगुलियाँ, हथेलियाँ और नख बनाये, इससे पूर्व अभ्यास करने के लिए कामधेनु के स्तनों, कल्पवृक्ष

के पत्तों एवं स्वर्ग की मणि-चिन्तामणि का निर्माण किया था (यह इच्छानुसार याचकों को दान देता था) ॥५४॥

इस राजा के गुणों की गणना करते हुए जब विधाता ने जो परिश्रम किया था उसका लेश मात्र भी उसने संसार की सृष्टि करते हुए नहीं किया था ॥५५॥

तब विश्व का स्वामी और समस्त जगत् में प्रसारित तेजवाला "विश्वलदेव" नामक राजा हुआ जिसके हाथ रूपी कमल में इस वसुन्धरा ने बीज कोशरूपी कली की भावना प्राप्त की ॥५६॥

इस राजा की कीर्त्तिरूपी लता के विकसित पुष्पस्वरूप वे मोती हुए जो कि शत्रुओं के हाथियों के मस्तकों से रणभूमि में गिर गये थे ॥५७॥

इस नृपति की कीर्त्ति द्वारा पराजित हिमालय पर्वत क्या आज भी आँसू नहीं बहाता? (अवश्य बहाता है) जो कि तपते हुए सूर्य के ताप के कारण बर्फ की शिलाओं के बहाने से गलता रहता है ॥५८॥

इस नृपति के गुणों को इच्छानुसार अवलोकन करके तृप्त होकर खुश हुआ देवों का समूह मन में यह कष्ट तो धारण करता ही है कि यह राजा क्यों नहीं इन्द्र का आश्रय प्राप्त करता है? ॥५९॥

इससे उत्पन्न "जयपाल" नामक महान् तेजस्वी राजा इसके उपरान्त हुआ जिसका यश रूपी वृक्ष शत्रु स्त्रियों के आँसुओं से सिञ्चित होकर पुष्ट हो गया ॥६०॥

बलवान् शत्रुओं के समूहों को युद्ध में देखकर और सुन्दरियों को अन्तःपुर में अवलोकन करके इस राजा का विश्वविख्यात यश का प्रकाश कामदेव को भी मात करता था ॥६१॥

इस राजा के गुणों की महिमा का गान नाग कन्याएँ जो क्षीरसमुद्र की चञ्चल तरङ्गों की शोभा को भी पराजित करती हैं। वे बजती हुई बांसुरी के सुन्दर रव की भांति करती रहती हैं ॥६२॥

इसके पश्चात् पृथ्वी का चन्द्रमा स्वरूप और भीष्म पितामह जैसे शुभ्र गुण वाला "श्री गङ्गदेव" राजा हुआ जिसके प्रताप की आग शत्रु स्त्रियों की आहों की हवा से

जलती रहती थी ॥६३ ॥

इस राजा के यश के महत्त्व को देखकर ईर्ष्या धारण करता हुआ चन्द्रमा अन्धकार के बहाने कलङ्क को धारण करता था और आज भी उसे नहीं छोड़ता ॥६४ ॥

शताधिक शत्रु समूहों को स्वर्ग में पहुंचाने वाला इस राजा का खड्ग भयंकर संग्रामों में हमेशा रत रहता था, समय की कृपणता उसमें नहीं थी ॥६५ ॥

कर्ण आदि दानियों में श्रेष्ठ राजाओं के चले जाने पर भी यह राजा बुराई का पात्र नहीं था क्योंकि दयालु विधाता ने उन्हीं की पूर्त्ति के लिए दानिश्रेष्ठ इसी राजा की उत्पत्ति की थी ॥६६ ॥

इसके अनन्तर स्थायी राजनीति विशारद "सोमेश्वर" नामक राजा हुआ जिसके गुणों के तेज को त्रैलोक्य के लोग अपने कानों में कर्ण फूलों की भांति धारण करते थे ॥६७ ॥

इसके कर कमल में शोभित खड्ग अन्दर उफनते हुए क्रोध की आग की ज्वाला की भांति खूब चमकता था ॥६८ ॥

इस राजा के नाम से रमण करके बहुत काल तक संभोग के रस से सिक्त अपने चित्त को कौनसी स्त्री प्रसन्न नहीं करती थी? ॥६९ ॥

"आग का शत्रु जल है" ऐसा सोचकर दुश्मन की नारियाँ इस नृप की प्रतापाग्नि को आँसुओं से बुझाती थीं लेकिन फिर भी मानों हविष्यान्न प्राप्त करके इसका प्रतापानल बढ़ता ही जाता था ॥७० ॥

इस राजा से भुजंगराज शेष किस प्रकार साम्य स्थापित कर सकता था जो कि हजार फणों से धरणी को धारण करता है; यह तो एक भुजा मात्र से पृथ्वी पालन करता था ॥७१ ॥

उसकी प्रियतमा "कर्पूरदेवी" थी जो कि अपने प्रिय के आराधन में लीन रहती थी और जिसके मुख के द्वारा पराजित कमल क्या आज भी जल में खड़ा रहकर तपस्या नहीं कर रहा है? ॥७२ ॥

"यहाँ रहते हुए मेरा पति अन्य रमणियों को देखकर आकर्षित हो जायगा" इस बात का अवकाश तो कर्पूरदेवी ने किसी मृगाक्षी को राजा के हृदय में करने के लिए नहीं दिया ॥७३ ॥

पति के साथ पृथ्वी पर विषय विलास का आनन्द लेती हुई कर्पूरदेवी ने जैसे पूर्व दिशा चन्द्रमा के बिम्ब को उत्पन्न करती है, वैसे ही अमित तेजस्वी पुत्र को प्रसव किया ॥७४ ॥

सोमेश्वर नृपति ने प्रचुर वात्सल्य भाव दर्शाते हुए पुत्र जन्मोत्सव को महत्परिमाण में मनाते हुए जगत् को आनन्द देने वाले पुत्र का नाम "पृथ्वीराज" रखा ॥७५ ॥

स्व-शरीर की कान्ति से अन्धकार का नाश करते हुए प्रतिदिन बढ़ता हुआ वह बालक सूर्य की भांति प्रजा के नेत्र रूपी कमलों के लिए कल्याणकारी होता गया ॥७६ ॥

इसके अनन्तर शस्त्रों और शास्त्रों में पारंगत कुमार को देखकर उसे साम्राज्य का भार देकर राजा ने अपने नश्वर शरीर को योग के द्वारा त्याग दिया ॥७७ ॥

पिता द्वारा दिये हुए राज्य को समय पर पाकर वह राजा वैसे ही शोभित हुआ जैसे कि प्रातःकाल अंधकार के नष्ट होने पर शुभ्रकान्ति वाला उदयाचल सूर्य के द्वारा शोभा पाता है ॥७८ ॥

धनुष की प्रत्यञ्चा पर ही (गुण) वह राजा आघात करता था किन्तु गुणों का अपमान कभी नहीं करता था। वैसे ही शत्रुओं के लिए वह विघ्नकारी था किन्तु पापाचार द्वारा अपने परलोक की रोक उसने कभी नहीं लगाई ॥७९ ॥

तलवार के द्वारा अर्जित वृत्ति का सेवन करने वाले इस राजा ने कभी पापमय वृत्ति को धारण नहीं किया। ऐसे ही शत्रु-पीड़ा को करने वाले इसने कभी भी अपने परलोक का हनन नहीं किया ॥८० ॥

युद्ध भूमि में इस राजा का खड्ग खिले हुए पुष्प समूह बिखेरता हुआ शोभा देता था क्योंकि दुश्मनों के हाथियों के कुम्भस्थल विदीर्ण करने पर उसमें से निकले मोती खड्ग में लगकर छिटकते रहते थे ॥८१ ॥

इस राजा की कीर्त्ति पतिव्रता होते हुए भी ऐसा विश्वास नहीं देती थी जो कि अपना

प्रभाव दूसरों के मन पर भी कल्पान्त तक डालती थी। दूसरों की तो तीव्रता वाली कीर्त्ति वेश्या की भांति उन्हें छोड़ देती थी ॥८२ ॥

शत्रुओं के कुयश ने तो इसकी वाणी को केशो में, चन्द्रमा को पेट में, शंकर को गले में, नन्दी को नासाग्र में, बलराम को नीले वस्त्र में और ऐरावत को अपने गण्डस्थलों में ही धारण किया अर्थात् यश को भ्रान्ति से अनुचित माना क्योंकि वैर, सन्तान के द्वारा अनवरत पाला जाता है ॥८३ ॥

लक्ष्मी इस राजा के कर कमल में, स्वयं विष्णु इसके खड्ग में अनुराग के बहाने निवास करते थे। यदि ऐसा नहीं होता तो बली शत्रुओं के ध्वंस करने में इस राजा की शक्ति कैसे संभव होती ॥८४ ॥

मैं (कवि) शंका करता हूँ कि सूर्य की सी कान्ति वाले नृप शिरोमणि इस पृथ्वीराज के सामने लज्जा की कील से कीले हुए दिग्गज, कूर्म एवं शेष नाग काँपते हुए पृथ्वी को छोड़ सकते हैं। इसके गुणों के भार के कारण कांपते हुए भी पृथ्वी को धारण करते ही थे ॥८५ ॥

उन्नति के कारण एवं कीर्त्तिभार के कारण इस राजा ने हिमालय को भी पराजित कर दिया था और इस मूढ़ पर्वतराज ने व्यर्थ ही पार्वती को शंकर भगवान् से ब्याह कर उनकी आराधना की। इस राजा ने तो अकेले यश मात्र से ही पर्वतराज जैसे उच्चता प्राप्त कर ली थी ॥८६ ॥

स्वर्ग की देवियाँ भी इस राजा के दान की महिमा अपने कर कमलों में वीणाएँ लेकर के, मन्दाकिनी के तट पर कामधेनुओं को चराती हुई तथा चिन्तामणि से जड़े हुए, कल्पवृक्ष की छाया से आवृत चबूतरे पर बैठकर गाती रहती थीं ॥८७ ॥

इस राजा ने महामारी स्वरूप अतिवृष्टि को समुद्र पार जाने का आदेश दे दिया था क्योंकि छः महानारियों से अपना राज्य मुक्त कर दिया था। किन्तु शत्रुस्त्रियों ने उस वृष्टि को अपने नेत्रों में धारण कर लिया था। इस प्रकार शत्रुता शत्रु के साथ निबाही गई ॥८८ ॥

यह नृपति अपने खड्ग से कटे शत्रु शीशों से निकले रक्त की धाराओं के समुद्र से सारी पृथ्वी को लाल कर डालता, यदि शुभ्र अमृत कर (चन्द्रमा) की किरण समान

क्षीराब्धि के तुल्य बिखरती हुई इस राजा की कीर्त्ति संसार को श्वेत नहीं कर देती ॥८९ ॥

रण भूमि में बाणवर्षा करने वाले तथा महोत्सवों में याचकों को दान देने वाले इस राजा की दानशीलता कभी नष्ट नहीं हुई और न वीरता ही कभी क्षीण हुई ॥९० ॥



तृतीय सर्ग

इसके अनन्तर अपने प्रसिद्ध वेग से समस्त पृथ्वी को अपने अधिकार में करने वाले "सहाबदीन" शक राजा के द्वारा उत्पीड़ित पश्चिम देशों के राजा इस पृथ्वीराज के प्रासाद के द्वार पर पहुँच गये। इन्होंने गोपांचल निवासी एवं अपने नाम के अनुरूप पृथ्वी को आनन्दित करने वाले श्री चन्द्रराज को अपना अगुआ बना रखा था और अपनी ओर से उपहार हेतु लाये हुए मत्त गजों के मद से प्रासाद के द्वार भाग को आर्द्र कर दिया था ॥१-३ ॥

इसके बाद स्वामी की आज्ञा से द्वारपाल के द्वारा इन राजाओं का प्रवेश दरबार में कराया गया और ये सब राजा के चरण कमलों में प्रणाम करके उचित स्थानों पर बैठ गये ॥४ ॥

तब उदास मुख इन्हें देखकर पृथ्वीराज ने पास में स्थित राजाओं से कहा कि ये राजा लोग गर्मी की ऋतु में जैसे तालाब सूखकर श्रीहीन हो जाते हैं वैसे ही क्यों उदास हो रहे हैं? ॥५ ॥

तब "चन्द्रराज" ने चन्द्रमा की शोभा को परास्त करने वाली दन्त पंक्ति की दीप्ति से मानों समुद्र की लहरों का विस्तार करते हुए कहा— ॥६ ॥

"तप के प्रभाव से (साम्राज्य विस्तार के प्रयास से) शक भूमि निवासी तुर्कराज—शहाबुद्दीन ने बहुत शक्ति प्राप्त कर ली है और वह क्षत्रिय वर्गों के लिए पृथ्वी पर मानो धूमकेतु के समान उपद्रव कर रहा है ॥७ ॥

समस्त देश भागों को उसने अधिकार में कर लिया है, नगर निवासियों की रमणियों का हरण कर लिया है और मन्दिरों को जला दिया है। उसने क्षत्रियों के मण्डलों को युद्ध करके विपत्ति में डाल दिया है ॥८ ॥

हे समस्त राजाओं के तिलकभूत राजन्! पृथ्वी पर ऐसे राजा कोई नहीं हैं जिनकी पर्वत कन्दराएँ भयभीत क्षत्रियों से उसने अपनी शक्ति से नहीं भरी हों ॥९॥

"उसने युद्ध में क्षण भर में समस्त क्षत्रिय समूह को यम सदन में भेज दिया है। वीर क्षत्रिय सोचते हैं कि कहीं यह परशुराम तो पुनः अवतीर्ण नहीं हो गये हैं ॥१०॥

"अरे, यह आ गया, यह आ गया" ऐसा सोचकर दशों दिशाएं आँखें फाड़ फाड़कर मानों देखती हुई डर के मारे त्रस्त हो उठी हैं ॥११॥

शंकर भगवान् की तरह मानो त्रिपुर का नाश करके इसने राजाओं के धान्य क्षेत्रों को उजाड़ दिया है और मूल स्थान (मुल्तान) को अपनी राजधानी बना लिया है ॥१२॥

"बिना कारण ही शत्रुता करने वाले उसके द्वारा परेशान किये गये ये राजा लोग तुम जैसे शरणागत वत्सल राजा की शरण में आये हैं। अब आप ही इसके प्रमाण हैं ॥१३॥

इस प्रकार की मुनियों को भी क्रोधित कर देने वाली इस "चन्द्रराज" की वाणी सुनकर राजा पृथ्वीराज ने कर कमल से तलवार की मूठ को छूकर और अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरकर यह प्रतिज्ञा की कि यदि मोर की तरह बांधकर इस शहाबुद्दीन को तुम्हारे चरणों में मैंने नहीं डाल दिया तो मैं "चाहमान" (चौहान) वंश में पैदा नहीं हुआ ॥१४-१५॥

तब विस्तीर्ण शोभा वाला, व्याकुल मन वाला यह राजा शुभ ग्रहों एवं विजय के योग होने पर भयंकर शत्रु के मंथन करने की इच्छा से सेना सजाकर चल दिया ॥१६॥

पुरस्त्रियों ने उस प्रयाण करते हुए राजा पर जो कटाक्ष फेकें (सुन्दर नेत्रों से देखा) वे ही मानो दूब अक्षत की शोभा वाली मङ्गलकारी वस्तुएं हो गईं ॥१७॥

उस राजा के वीर शिरोमणि योद्धाओं के समूह भी चले जो विशुद्ध बुद्धि वाले थे तथा जिनके हाथों में चंचल तलवारें एवं छुरे चमक रहे थे ॥१८॥

पृथ्वी और आकाश में व्याप्त हो जाने वाले प्रचंड हाथियों के गर्जनों ने दोनों ही राजाओं के प्रजाजनों को एवं पर्वतों के प्राणियों को धैर्यविहीन कर दिया ॥१९॥

इस राजा के प्रताप सूर्य के उदय होने पर इसकी सेना के द्वारा उड़ाई हुई धूल ने मानों सूर्य को आच्छादित कर दिया था ॥२० ॥

घोड़ों के खुरों से उड़ाई हुई धूल के समूहों से घुटनों तक की गहराई तक पहुँची हुई सेना के मस्त हाथियों के मद की नदियाँ दो बांस के प्रमाण की हो गई ॥२१ ॥

इस प्रकार से शत्रुओं के प्राण हरण करने वाले इस राजा के सैन्य प्रमाण से प्रचुर दूरी पार करके (पृथ्वीराज) इसने तच्छकराज के राज्य पर आक्रमण कर दिया ॥२२ । ।

अपने चरों के द्वारा अपने राज्य के पास आई हुई पृथ्वीराज की सेना की बात सुनकर शकरा (शहाबुद्दीन) भी सेना सजाकर शत्रु सैन्य कंपाता हुआ चल पड़ा ॥२३ ॥

उसके यवन वीर (मुसलमान योद्धा) भी बाहर निकल पड़े जो कि चमकदार धनुष धारण किये हुए थे और जिनकी कमर पर विशाल तरकश बंधे हुए थे और जो शत्रुओं पर निशाना लगाने में बड़े कुशल थे ॥२४ ॥

तब दोनों सेनाओं की तीन वस्तुएं एक साथ मिल गई पहली तो धूल के समूह, दूसरी हथिनियों कपाल पर झरते मद पर मँडराते भौरों का गुञ्जन और तीसरी योद्धाओं के भयंकर सिंहनाद ॥२५ ॥

तब योद्धागण युद्ध करने लग गये जिनके कि अंग परस्पर अवलोकन मात्र से ही शत्रुभाव से भर जाते थे और जो चमकते हुए अनेक प्रकार के अस्त्रों को धारण किये हुए थे ॥२६ ॥

वीर योद्धाओं के कर कमलों से छूटे हुए बाणों से उत्पन्न हवा ने वृक्षों के पुष्पों की तरह पलायन करने वाले योद्धाओं के यश को सम्प्राप्त करते हुए चलना शुरू कर दिया ॥२७ ॥

मुद्गल देश के योद्धा तथा हाथियों के समूह दोनों ही समान आँखे होने के कारण क्रोध करते हुए मालूम होते थे और हठपूर्वक युद्ध कर रहे थे ॥२८ ॥

तभी किसी हाथ के ऊपर आघात करने में निपुण योद्धा ने छुरी से तीव्र आघात करके हाथी का पेट चीर डाला और उसे पृथ्वी पर लेटा दिया ॥२९ ॥

और किसी ने हाथ में खड्ग लेकर पृथ्वी से जल्दी से उछल कर उन्नत हाथी के कपाल पर आरोहण कर लिया और जैसे हाथी पर सिंह उछल कर बैठ जाता है वैसी शोभा प्राप्त की ॥३० ॥

उसी प्रकार किसी हाथी ने एक रथ को कौए की भाँति मुख से पकड़ कर घुमा कर उसे संग्राम भूमि में डाल कर तोड़ दिया ॥३१ ॥

इसके पश्चात् दूसरा हाथी भी तीव्र वेग से तोड़े हुए रथ को सूंड में उठाकर मानो स्वयं बर्छी हाथ में उठाये पदाति योद्धाओं से युद्ध कर रहा था ॥३२ ॥

हाथियों के चीत्कार को सुनकर डरे हुए घोड़े के कानों को अपने साफे से बाँधकर कोई अन्य योद्धा हाथियों से युद्ध कर रहा था ॥३३ ॥

भयंकर दांतों से क्रोध से मारने को आते हुए हाथी को एक अन्य हस्तद्वय-विहीन योद्धा दांतों से ही काटकर युद्ध कर रहा था ॥३४ ॥

युद्ध में सुभटों को शत्रुओं के अंग भेदन में कोई कौतुक नहीं था, उन्होंने तो परमाणु स्वरूप मन तक को अपनी युद्ध कुशलता से बेध दिया था ॥३५ ॥

तब पिताओं ने अपने पुत्रों की मरण स्थिति में भी महान् हर्ष प्राप्त किया। निःसन्तान पिता तो जन्म समय में उसका शतांश भी प्राप्त नहीं कर पाये ॥३६ ॥

इसके पश्चात् कौओं के समूहों की भाँति पृथ्वीराज के योद्धाओं की तलवारों से आघात पाये हुए तुर्क लोक वहाँ से लुप्त हो गये ॥३७ ॥

चक्की में चनों की पिसते समय जैसी अवस्था होती है "चाहमान" राजा से युद्ध करने वाले यवन राजाओं की की वैसी ही हालत हो गई ॥३८ ॥

तब 'शकराज' शहाबुद्दीन अपने उजड़े हुए शिविर को देखकर हाथ में तलवार लिये हुए प्रचण्ड क्रोध से भरकर उधर दौड़ा ॥३९ ॥

उसे आते देखकर चौहान राजा भी अन्तर में चमकती क्रोधाग्नि के कारण लाल-लाल आँखों वाला तीव्र वेग से उसकी ओर दौड़ गया ॥४० ॥

वीरों के समूह सोच रहे थे मानों कि दो जंगली हाथी भारी तलवारों के रूप में उछलती

सूंडों से आपस में लड़ने के लिए आ गये हों ॥४१ ॥

अपने अस्त्रों के शब्दों से पृथ्वी को गुंजायमान करते हुए आपस में प्रहार तथा वाक्प्रहार में कुशल दोनों राजाओं ने बहुत देर तक युद्ध किया ॥४२ ॥

इस प्रकार पृथ्वीराज ने युद्ध करते हुए युद्ध कौशल से शकराज शहाबुद्दीन को बाँधकर विधिवत् अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर ली ॥४३ ॥

तब उन शरणागत राजाओं को नीतिपूर्वक अपने-अपने राज्यों पर आरूढ करके वह शत्रुओं को अपमानित करने वाला पृथ्वीराज अपनी राजधानी लौट आया ॥४४ ॥

देवताओं को भी आकर्षित करने वाले सुन्दर वस्त्र शकराज को देकर पृथ्वीराज ने यह सोचकर कि इसके मरने पर कौन मुझसे ऐसा संग्राम दुबारा करेगा उसे छोड़ दिया ॥४५ ॥

इस तरह पृथ्वी के इन्द्र इस पृथ्वीराज ने सात बार संग्राम में विभिन्न प्रकार से इस शकराज को हराया किन्तु फिर भी यह यवनाधीश न तो म्लान हुआ और न ही हीन ॥४६ ॥

अब बल व छल से जीतने में असमर्थ होकर शकराज जैसे चन्द्रमा सूर्य की ओर चलता है उसी प्रकार खर्पर देश के स्वामी की ओर चला ॥४७ ॥ (सहायतार्थ)

तब मुद्गल देश के अधिपति ने इसे अपना वृत्तान्त सुनाने पर वीरों से परिपूर्ण अपनी सेना दे दी जिसमें काम्बोज, लङ्गहथ-भीम-भिल्ल बंग देश के सैनिक थे तथा आठ लक्ष पुष्ट एवं सुन्दर घोड़े थे एवं जो शत्रु की चतुरंगिणी सेना आकुल करने वाली थी ॥४८-४९ ॥

तब तुरन्त ही शहाबुद्दीन ने मुद्गलाधिपति की कृपा से सेना प्राप्त करके अचानक ही दिल्ली को स्वाधिकार में ले लिया ॥५० ॥

तब डर के मारे पलायन करने वाले युद्ध के कारण "मार डाले मार डाले" ऐसे चिल्लाते हुए उदास मुख आदमियों से शत्रु की ऐसी करतूत सुनकर मेरे द्वारा यह (सहाबदीन) सौ बार पराजित होने पर भी बालक की भांति चपलता कर रहा है ऐसा सोचकर अन्य परिवार वाला यह पृथ्वीराज अहंकार के साथ चल पड़ा ॥५१-५२ ॥

पूर्व में किये गये युद्ध के कारण भयभीत "शकराज" ने पृथ्वीराज को देखकर यह सोचा कि जैसे मृगों के द्वारा सिंह नहीं जीता जा सकता वैसे ही यह भी हमारे लिए अजेय है ॥५३ ॥

तब शकराज ने मध्यरात्रि में अपने विश्वस्त व्यक्तियों को भेजकर प्रचुर मात्रा में सुवर्ण मुद्रा देकर पृथ्वीराज के अश्वशाला के प्रधान को एवं तूर्य वाहकों को फोड़ लिया ॥५४ ॥

"हमारे कहने पर हमारे व्यक्ति अपने-अपने घर चले जायेंगे" "हम मार डालेंगे, अपने राज्य को मजबूत करेंगे" ऐसे गद्दारों एवं शत्रुओं के वचन सुनाई पड़े। रात्रि के अन्तिम प्रहर में चन्द्रमा के अल्प शेष रहने पर एवं सूर्य के प्रातः काल के कम प्रकाश में ही शक लोगों ने (साहबदीनं के सैनिक) सोते हुए पृथ्वीराज के सैनिकों पर आक्रमण कर दिया ॥५५-५६ ॥

"अस्त्र ले लो" "शीघ्र रोको" तुम्हारे आगे शकराज (सहाबदीन) आ गया है "इन्हें मार डालेंगे" अरे मार डाला।" आदि विभिन्न वाक्यों से भरे संग्राम के शुरू हो जाने पर अश्वपालक ने "पृथ्वीराज" को "नाटारम्भ" नामक विशिष्ट घोड़ा आरोहणार्थ दिया ॥५७-५८ ॥

उस राजा को अश्वारूढ़ देखकर तूर्यवादकों ने वीरों के उत्साहवर्द्धक, भेरी परह आदि वाद्य बनाने शुरू कर दिये ॥५९ ॥

मस्तक पर छाये हुए बादल के समान तूर्य की आवाज को सुनकर पृथ्वीराज का घोड़ा मोर की भाँति नाचने लगा। इससे राजा हतोत्साह हुआ ॥६० ॥

"ठहर जा" "डर मत" ऐसे कहते हुए यवन तेजी से वैसी अव्यवस्थित हालत में पृथ्वीराज के चारों और छा गये जैसे चिड़ियाँ साँप को चारों ओर से घेर लेती है ॥६१ ॥

तब दाहिने पैर, घुटने पर, तथा अंगूठे की सहायता से पृथ्वी पर उतर कर, बांये पैर को संकुचित कर घोड़े से उछलकर, तलवार हाथ में लिये राजा नीचे आ गया ॥६२ ॥

किन्हीं को भ्रूभंग से, किन्हीं को भयंकर खड्ग फिराने से तथा किन्हीं को सिंहनाद से भयभीत करते हुए पृथ्वीराज ने बहुत देर तक भयंकर युद्ध किया ॥६३ ॥

तभ किसी शक योद्धा ने धनुष को डोरी को उसके गले में डालकर आक्रमण कर दिया तथा सब योद्धाओं ने मिलकर राजा को बाँध लिया ॥६४॥

अब उस सद्गुणी, दुष्ट विनाशक, तेज आभायुक्त, किन्तु विधि वशाद् "साहबदीन" शकपति द्वारा कैद किये हुए राजा ने भोजन में भी तथा स्व-जीवन में भी दोनों में ही रुचि त्याग दी ॥६५॥

स्वामी पृथ्वीराज के द्वारा शकराज के देश में भेजे हुए उदयराज को देखकर भी "सहाबदीन" भयमुक्त मन से दिल्ली में प्रविष्ट हुआ ॥६६॥

उदय राज ने भी स्वामी क़ी दशा को सुनकर सिर पीट लिया। और पुनः पुनः अपने ह्रदय का शूल निकालने के लिये "मैंने भी स्वामी की तरह कष्ट क्यों नहीं पाया, तथा कष्ट में पड़े स्वामी को छोड़कर मैं यदि युद्ध से पलायन कर जाऊं तो मेरे गौड़ कुल में लज्जा का कलंक लग जाएगा" यह सोचकर दिल्ली को घेर कर नित्य महीनें भर तक खूब युद्ध करता रहा ॥६७-६८॥

किसी ने म्लेच्छाधिपति से दुःखी मन से कहा भी कि "तुम्हें इस पृथ्वीराज ने कई बार युद्ध में हरा कर छोड़ दिया था। हाय ! तुम इसे एक बार भी नहीं छोड़ते हो।" ॥६९॥

धर्म युक्त उस वाणी को सुनकर अत्यधिक क्रुद्ध निर्दय "सहाबदीन ने कहा—"ये हिन्दू लोग इसी कारण से राजनीति के रहस्य से हीन कहे जाते हैं।" ॥७०॥

तब वीरों के लाज के मारे पृथ्वी में नजर गड़ाते रहने पर एवं सज्जनों के समूहों के आँसू बहाने एवं शोक करते रहने पर इस "सहाबदीन" म्लेच्छराज ने पृथ्वीराज को दूसरे किले में बन्द कर दिया। हाय ! हाय ! नीच लोग करणीय अथवा अकरणीय कार्य के लिए अंधे व बहरे हो जाते हैं ॥७१॥

जिसे शैव मतानुयायी 'शिव मानते हैं, बौद्ध "सुगत" बतलाते हैं और जैन लोग जिसे "सर्वज्ञ" कहते हैं, उसी अद्‌भुत, चिन्मय ब्रह्मस्वरूप का स्मरण करता हुआ 'पृथ्वीराज' नृपति शिव धाम को प्राप्त हो गया ॥७२॥

पृथ्वीराज की यह विनाश गति श्रवण करके गौड़ कुल सूर्य "उदयराज" भी स्व-सैन्य के साथ युद्ध करके स्वर्ग को चला गया ॥७३॥

उसके पश्चात् अश्रु सिक्त नयन वाले हरिराज नामक राजा ने पृथ्वीराज का अन्तिम क्रिया कर्म किया तथा बाद में समस्त पृथ्वी को अधिकार में कर लिया ।।७४ ।।

विद्वान् लोगों के भी उदारता आदि गुण भी वाणी के पथ के पथिक नहीं बन सकते थे, क्योंकि इस राजा का अमृत समूह की भाँति निर्मल यश था, कर्पूर के सरोवर की भांति श्वेत रस से इसकी कीर्त्ति परिपूर्ण थी ।।७५ ।।

कहते हैं कि लक्ष्मी भी जिसके कर कमल में निवास करती थी और विष्णु स्वयं जिसके प्रताप के लिए अनुराग युक्त रहते थे एवं शंकर भी जिसके प्रताप के कारण इतने तप्त हो जाते थे कि गंगा को अपने से दूर नहीं कर सकते थे ।।७६ ।।

संभवतः इस 'हरिराज' भूप ने अपने यशरूपी उन्नत पर्वत से निकली हुई रश्मियों से अगस्त्य मुनि को देने के लिए स्वर्ग को अर्द्ध भाग में विभक्त कर दिया था क्योंकि इनसे ब्रह्माण्ड के भङ्ग होने का खतरा हो सकता था। यह स्वर्ग इस राजा की विकसित काश के पुष्पों जैसी शुभ्रता की शोभा लिए हुए था ।।७७ ।।

इस राजा की कीर्त्ति के प्रवाह की लहरें प्रसारित होने पर चन्द्रमा दीन हो गया था, गंगा-तरङ्ग विहीन, सुमेरु-कृष्ण वर्ण, शंकर भगवान् गर्वहीन, कुमुद-मदरहित एवं इन्द्र का गजराज ऐरावत भी तेजोविहीन हो गया था ।।७८ ।।

जो जो राजा नत मस्तक होकर सम्मुख आये वे उसके शासन से प्रकाशित हो गये तथा जिन्होंने सामना करने की हिम्मत की वे अस्त हो गये क्योंकि इसकी सेना संचरण करती हुई दीपक की लौ के समान थी और दिग्विजय के समय जिन राजाओं के अनुकूल रही वे प्रकाशित हुए व जिनके प्रतिकूल हुई वे अन्धकार में डूब जाते थे ।।७९ ।।

इस राजा के यश का वर्णन करने में कवियों की वाणियाँ भी रुक सी गई थी (वे भी वर्णन नहीं कर सकते थे) क्योंकि दिग्विजय के लिये तैयार समस्त पृथ्वी को लांघने वाले अश्वों की गति को भी इसके यशः समुद्र में भङ्ग कर दिया था। जैसे गोष्ठी में दुष्टों की वाणी निःस्तेज हो जाती है वैसे ही कवियों की उज्ज्वल वाणियाँ भी इसके यश का वर्णन नहीं कर सकती थीं ।।८० ।।

इस 'हरिराज' भूप के द्वारा शत्रु राजा स्वर्ग में पहुँचा दिये गये और उसकी इस उपकार

वृत्ति को देखकर उन्होंने मानो इसका हाथी घोड़े राज्य कोश आदि देकर के सत्कार किया क्योंकि शत्रु के लिए दिया हुआ धनादि दान से परोपकार जन्य पुण्य कभी भी निष्फल नहीं होता ॥८१ ॥

इस राजा ने अपनी क्रोधाग्नि में शत्रुवीरों की हवि डालकर तथा उनकी रानियों के शोक क्रन्दन तथा आँसुओं के प्रचुर जल से पृथ्वी तल पर ऐसी अतिवृष्टि कर दी कि शीघ्र ही अन्याय रूपी बीज़ों के अंकुर विनष्ट हो गये ॥८२ ॥



चतुर्थ सर्ग

इस हरिराज राजा ने चन्द्रमा की भांति जैसे यह समुद्र का उल्लास पैदा कर देता है—इसी प्रकार प्रजा का हर्ष वर्द्धन किया एवं पृथ्वी (राज्य) का विस्तार भी किया ॥१ ॥

दूसरे ही दिन श्री गुर्जर नरेश ने मैत्रीलता की वृद्धि के लिए राज्य का भोग करने वाले हरिराज नृपति के लिए वर्षा की भांति हर्ष की वर्षा करने वाली, उन्नत स्तनों वाली एवं कामोद्दीपन करने वाली नर्तकियाँ भेजी ॥२-३ ॥

और दूसरे दिन राजा के और अन्य राजाओं के बैठते ही जिन्होंने शस्त्रादि तथा भूषण वस्त्रादि धारण किये हुए थे नर्तकियों ने नृत्य प्रारंभ कर दिया ॥४ ॥

ये नर्तकियाँ वाद्यवृन्दों की ताल के साथ साथ कोकिल कण्ठ से गीत गाने लग गईं और वे ऐसी प्रतीत होती थीं जैसे कि यौवन की सीढ़ियों वाली वापिकाएँ (बावड़ियाँ) हों जिनमें श्रृंगार रूपी पानी शोभित हो, जिनमें उनके केश रूपी सेवार उगे हों, जिनमें विलास की लहरें उठ रही हों, पृथुल स्तन रूपी चक्रवाक भ्रमण कर रहे हों, विकसित मुख रूपी कमल खिल रहे हों और चंचल नेत्र रूपी मछलियाँ तैर रही हों ॥५-६-७ ॥

ये नर्तकियाँ वायु के द्वारा कंपित केले के पत्तों की भांति अपने शरीर को हिला रही थीं तथा कुंभकार के चाक की भांति भ्रमण कर रही थीं ॥८ ॥

कभी बाहुमूलों को, कभी नाभि गह्वरों को तो कभी स्तनों की उत्तुङ्गता को बारंबार प्रदर्शित करती हुई, लोगों को आकर्षित करती हुईं अपने सौन्दर्य के कारण मानो मूर्त्तिमान कामदेव के गर्व-सी वे नृत्य कर रही थीं ॥९-१० ॥

ऐसी स्थिति में इन नर्तकियों के लावण्य-समुद्र में इस राजा के दृग् और मन ऐसे मग्न

हो गये कि उनके निकल जाने पर वह निर्जीव-सा हो सकता था ॥११॥

इस प्रकार यह राजा इनके चित्ताकर्षक नाट्य को दिन रात अवलोकन करते हुए क्षणमात्र भी उन्हें छोड़ नहीं सकता था ॥१२॥

तब यह राजा गीत और नृत्य में मग्न हुआ सेवकों की जीविका देने में भी कृपणता करने लग गया ॥१३॥

जीविका की प्राप्ति न होने से सेवकों ने हरिराज को छोड़ दिया क्योंकि बिना स्वार्थ सिद्धि के कौन किसका क्यों सेवक होगा? ॥१४॥

सत्य की ऐसी खराब स्थिति को देखकर प्रजा भी उससे विरत हो गई जैसे कि निकृष्ट आदमी से उत्तम स्त्रियाँ अलग हो जाती हैं ॥१५॥

ऐसी राज्य की दशा देखकर शत्रु शकराज सेना सहित दिल्ली से हरिराज के राज्य पर चढ़ दौड़ा ॥१६॥

तब शत्रु राजा के आगमन को सुनकर जनता के मुख से दुःखदायी एवं काक मृत्यु जानकर, पृथ्वीराज की भांति इस राजा का भी स्वर्ग गमन समय भाँपते हुए "शकराज" के मुख तक को देखने को विरत अन्तःपुर की रानियों एवं स्त्रियों का समूह अग्नि में प्रवेश कर गया। जैसी भावी कीर्त्ति होती है वैसी ही मनुष्यों की बुद्धि हो जाती है ॥१७-१८-१९॥

इस राजा के स्वर्ग लोक चले जाने पर उसका परिवार म्लान हो गया। सूर्य के अस्त हो जाने पर क्या कमलों का सरोवर मुस्कराता है? अर्थात् नहीं ॥२०॥

राजी की निःसन्तानता के कारण और शत्रु के आगमन के कारण चिन्तायुक्त हृदय वाले मंत्रीगण बहुत मन्त्रणा ग्रस्त थे ॥२१॥

"राजा के पुत्र नहीं है और वीर लोग रण चातुर्य के योग्य नहीं हैं तथा शत्रु बड़ा बलशाली है, नगर की रक्षा कैसे की जायेगी? ॥२२॥

"अतः शाकम्भरी" (साँभर) नगर को छोड़कर रणस्तंभपुर (रणथम्भौर) चलते हैं। संकट-ग्रस्त व्यक्ति निर्बल होने पर क्या दूसरे द्वीप का आश्रय नहीं ले लेता? अर्थात्

अवश्य ले लेता है ॥२३ ॥

वहाँ पर पृथ्वीराज के पिता के द्वारा पूर्व में निष्कासित पोता स्व-सामर्थ्य से विपुल वैभव प्राप्त करके निवास कर रहा है जिसका नाम गोविन्दराज है ॥२४ ॥

वहाँ अपने स्वामी के वंश रूपी सरोवर के हंस स्वरूप "गोविन्दराज" नामक राजा के आश्रय में उसकी कीर्त्ति वृद्धि करते हुए निर्भय होकर हम रहेंगे ॥२५ ॥

ऐसी मन्त्रणा करके राजा का (हरिराज का) समस्त कोश एवं सेना लेकर मंत्री लोक 'रणस्तम्भपुर' (रणथम्भौर) की ओर चल दिये ॥२६ ॥

शकराज ने पीछे से आकर के जैसे दावाग्नि जंगल को जला देती है, वैसे ही इस सूने प्रदेश को जला करके अजयमेरुपुर (अजमेर) को हस्तगत कर दिया ॥२७ ॥

अब वे सब रणथम्भौर पहुँच कर गोविन्दराज से मिले और समस्त वृत्तान्त कहा। ।२८ ॥

उस राजा ने चाचा की उस प्रकार की मृत्यु की बात सुनकर मन में अवर्णनीय कष्ट प्राप्त किया ॥२९ ॥

अपनी स्मृति में निहित शोक का परित्याग करके अपने चाचा की और्ध्वदैहिक क्रिया करके उन मंत्रियों को उसने उचित कार्यों में लगा दिया ॥३० ॥

शत्रु समूह को पराजित करता हुआ और न्याय की वृद्धि करता हुआ तथा सुख का अनुभव करता हुआ यह राजा प्रजा पर कुशलता से शासन करता था ॥३१ ॥

गोविन्द राज नृपति के दिवंगत होने पर श्रीमान "वाल्लण" नामक राजा हुआ जिसने भी शत्रु-समूहों को कम कर दिया ॥३२ ॥

समर भूमि में मेघ की भांति बाण रूपी वर्षा करने पर शत्रुओं के पलायन करने से ही इस राजा की नृप श्रेष्ठता प्रकट हो जाती थी। (वर्षा के होने पर हंस भी चले जाते हैं) ॥३३ ॥

आश्चर्य है कि धनुष रूपी बादल के प्रचुर मात्रा में बाण रूपी वर्षा करने पर भी शत्रुरूपी पहाड़ छाया रहित ही रहते थे (राजा भी शोकाकुल हो जाते थे) ॥३४ ॥

शीघ्रतापूर्वक विजय प्राप्त करने वाले इस राजा को देखकर शत्रु समूह अपने नाश के लिये अन्य राजाओं की सहायता लेने की अभिलाषा नहीं करते थे—वे अधीन हो जाते थे ॥३५ ॥

यह राजा प्रसिद्धि में तथा तेजोबल में विरोधी शत्रुओं को हीन करके उनके नृपत्व को नष्ट करके उन्हें याचकत्व प्रदान करता था। ॥३६ ॥

उस "वाल्लण" नामक राजा के सूर्य और चन्द्रमा की भांति दो पुत्र हुए जो दान सहित पृथ्वी को भोगने वाले, पृथ्वी मण्डल के भूषण और अन्याय का विनाश करने वाले थे ॥३७ ॥

उन दोनों में श्रेष्ठ गुण वाला "प्रह्लादन" नामक पुत्र और "वाग्भट" नामक पुत्र विद्वत्ता से पूर्ण था ॥३८ ॥

साथ साथ क्रीड़ा करने वाले और साथ साथ कलाओं की शिक्षा लेने वाले दोनों पुत्रों का प्रेम राम-लक्ष्मण की भांति बढ़ता था ॥३९ ॥

राजा "वाल्लण" अपने सिर को सफेद करने वाली जरा को देखकर भोगों की निन्दा करता था और योग की ओर वह प्रशंसा की दृष्टि से देखता था ॥४० ॥

तब विधि के अनुसार राजा ने दोनों पुत्रों को अनुशासित करके "प्रह्लादन" को राजा बनाया और "वाग्भंट" को प्रधानामात्य का पद दिया ॥४१ ॥

तब दोनों पुत्रों की प्रीति का अवलोकन करने के लिए कुछ समय तक राज्य में रहकर बाद में पर ब्रह्म का स्मरण करते हुए देवत्व को प्राप्त हो गया—दिवंगत हो गया ॥४२ ॥

पश्चात्, राजा के क्रिया कर्म करके "प्रह्लादन" राजा ने जैसे नाटक के रहस्य को जानने वाला जैसे प्रजा का मनोरंजन करता था वैसे ही अपनी प्रजा को प्रसन्न कर दिया ॥४३ ॥

इस राजा "प्रह्लादन" ने राज्याभिषेक होने पर अश्विनी कुमार की उत्पत्ति करने वाले सूर्य की भांति उसके उदित होने पर समक्ष अपने समर्थक राजाओं ने तथा शत्रु राजाओं ने कौशिक की भांति आचरण किया—स्वपक्ष के राजा इन्द्र की भांति

रहे और शत्रुराजा सूर्य के सामने उल्लू की भांति मुँह छिपा कर रहे ॥४४॥

दसों दिशाओं को जीतने के लिए उद्यम करने वाले इस राजा के सामने शत्रु नृप अपने प्राण बचाने के लिए युद्ध को भी तथा धन को भी छोड़ देते थे ॥४५॥

बलिष्ठ राजाओं का विनाशक अमित तेज वाला सुदर्शन, सुन्दर शरीर वाला, चारों ओर सैन्य बल से संरक्षित यह राजा आश्चर्य है कि दान वारि से हीन था अर्थात् सेना में मदमत्त हाथियों का मद नहीं झरता था—(वह प्रभूत दान देने वाला राजा था) ॥४६॥

उसके घोड़े ऐसे थे, जो अपने खुरों से भूमि को खोद खोद कर धूल उडा देते थे और अपनी गति से वायु के वेग को भी परास्त कर देते थे ॥४७॥

अन्य दिनों में वह प्रसन्नतापूर्वक दावाग्नि की भांति प्रताप वाला निष्णात धनुर्धारी राजा आखेट को नगर के बाहर निकल जाता था ॥४८॥

और उसके पीछे प्रत्यक्ष भयानक रस की भांति घुटनों तक लम्बे मोटे नीले वस्त्र पहने हुए पैदल सैनिक चलते थे ॥४९॥

ऊंचे-ऊंचे कानों वाले-सुन्दर वर्ण वाले एवं गले में सोने की कण्ठियों वाले हवा की भांति कुत्ते भी आगे आगे चलते थे ॥५०॥

सैकड़ों सैन्य टुकड़ियों के कारण विस्तृत सेनाओं से कम्पायमान समुद्र की भांति पृथ्वी को व्याकुल करता हुआ यह राजा "प्रह्लादन" खिले हुए पुष्प रूपी बाणों से आकर्षक लगने वाले वन भूमि को निरख कर कामिनियों की भांति उनसे रमण करने को उत्सुक हो गया। वन विहार करने चला गया ॥५१-५२॥

इस राजा के शिकार में कुशल योद्धागण वन के अन्दर प्रविष्ट हो गये जिनमें कोई बलवान् योद्धा तो शेर के पद चिह्नों के अनुसार चले गये जो सिंह की भांति पराक्रमी थे। अन्य योद्धा शिव की भांति रूद्र रूप धारण करके शिकार के लिये वन में प्रवेश कर गये ॥५३-५४॥

कोई कोई शूरवीर तो दो सिंहों के मध्य में स्थित होकर उनका मुकाबला कर रहा था और मानो शूकर का सा अनुकरण करता हुआ दोनों के मध्य में रहकर यश

रूपी अमृत का पान कर रहा था। ॥५५॥

किसी कुपित योद्धा ने तो शूकर को मध्य भाग में से काटकर दो टुकड़े कर दिये-यह सोच कर कि यह मेरे स्वामी की प्राण प्रिया वसुन्धरा को बार-बार खोद रहा है ॥५६॥

और किसी योद्धा ने अपनी प्रिया की प्रीति के लिये यह बताने के लिये हिरन को बाँधकर साथ ले लिया कि हे प्रिये! यह तुम्हारे नेत्रों की शोभा को चुराने वाला चोर है। तुम इच्छानुसार इसके साथ व्यवहार करो ॥५७॥

एक ही हाथ से सामने आये सिंह को मारकर पुनः उसी से पीछे आते हुए शेर का वध करने वाले योद्धा का हाथ मानों ऐसा प्रतीत होता था जैसे की कौए की एक ही आँख चारों ओर घूम रही हो ॥५८॥

कोई योद्धा तो सिंह की पतली कमर देखकर अपनी प्रिया की कटि का स्मरण करता हुआ क्षण भर के लिए न तो शेर को छोड़ ही सका और न मार ही सका ॥५९॥

कोई भट मुँह फाड़े हुए शेर के मुँह में हाथ डाल और फिर उसका सिर काटकर अपनी भुजा को ऊपर उठा देता था तो वह हस्तत्राण की भांति (दस्ताने की तरह) मालूम होती थी ॥६०॥

कोई मृग मृगी को मारने वाले किसी योद्धा को देखकर अत्यधिक कष्ट पाता हुआ दोनों के मध्य में आ जाता था। स्नेह का कटाक्ष में परिणत होना आश्चर्यजनक ही है ॥६१॥

कोई योद्धा सिंह की दृष्टि बचाकर चातुर्य से उसकी पीठ पर चढ़ जाता था और सिंह की सवारी की क्रीडा का आनन्द लेता था ॥६२॥

सर्वप्रथम सिंह को भी परास्त करने वाली शक्ति दिखाकर शूकर शस्त्र के द्वारा किसी योद्धा द्वारा गिरा दिया जाता था और वह पुनः पुनः घुरघुराहट करता था। वास्तव में स्वभाव कठिनाई से ही छूटता है ॥६३॥

राजा "प्रल्हादन" भी हर्ष से तेज बाणों की वर्षा करता हुआ, इच्छानुसार घूमता हुआ, पशुओं को संकट में डालता हुआ, कहीं पर पर्वत की नदी के किनारे पहुँच

गया और वहाँ उसने नरकुलों के वन (सरकण्डेका जंगल) में निद्रा से नेत्र बन्द किये हुए एक सिंह को देखा ॥६४-६५ ॥

राजा ने जोश में आकर के शरसंधान व उसे चलाने में कौशल्य दिखाते हुए सिंह के दक्षिण भाग को बेधकर उसे जगा दिया ॥६६ ॥

तब उत्साह से गर्जन करते हुए क्रुद्ध शक्तिशाली सिंह ने अपने बलको आहत जानकर तीक्ष्ण दाढ़ से राजा के कंधे को पकड़ लिया और राजा के द्वारा भी छुरी से सिंह का वक्ष चीर कर उसका वध कर दिया गया ॥६७-६८ ॥

अब सिंह की दाढ़ के घांव से बहते हुए रक्त की धाराओं से रंजित होते हुए राजा ने पर्वत की मैनसिल धातु के लाल द्रव से युक्त शैल की शोभा धारण कर ली ॥६९ ॥

तब दाढ़ के विष के कारण मूर्च्छित व व्याकुल राजा मुनि की भांति समृद्धि की तरह मृगया को छोड़कर अपने महलों में चला गया ॥७० ॥

शताधिक मान्त्रिकों एवं चिकित्सकों के समूहों के द्वारा खूब चिकित्सा किये जाने पर भी राजा स्वस्थ: नहीं हुआ ॥७१ ॥

अब सर्वथा अपने आपको चिकित्सा द्वारा स्वास्थ्य लाभ में अयोग्य मानकर राजा ने अपने पुत्र "वीर नारायण" को राजा के पद पर अभिषिक्त कर दिया ॥७२ ॥

गिरते हुए "चौहान" राज्य की लता के निमित्त वृक्ष के समान अपने भ्राता "वाग्भट" को बुलाकर राजा प्रह्लादन ने इस प्रकार कहा ॥७३ ॥

वीरता, बुद्धिमत्ता एवं अविश्वास—ये तीनों राज्य की श्रीवृद्धि के कारण कहे गये हैं। बुढ़ापे में तो ये तीनों सुलभ हैं किन्तु बालपन में मुश्किल से ही इनकी प्राप्ति होती है ॥७४ ॥

तो चंचल बचपन की अवस्था में यह (वीर नारायण) है अतः इसे उसी भांति शिक्षा देते रहना जिससे कोई अहित न हो ॥७५ ॥

"वाग्भट" ने भी "वीर नारायण" के दुश्चरित्र के कारण मन में शूल सा लिए हुए क्रोध

से युक्त वाणी से किन्तु धीरे-धीरे कहा— ॥७६ ॥

हे स्वामी ! भवितव्यता को तो कोई भी रोक नहीं सकता किन्तु तुम्हारी तरह मैं सदैव सावधान होकर इसकी सेवा में रहूंगा ॥७७ ॥

इस प्रकार वाग्भट के कहकर चुप हो जाने पर आत्म कल्याण की कामना के लिए इच्छा करते हुए भूपशिरोमणि प्रह्लादन में परमात्मा का स्मरण किया ॥७८ ॥

राजा के दिवंगत होने पर "वीर नारायण" नृप ने कमलों को सूर्य की भांति विकसित करने का कार्य प्रजा के साथ किया ॥७९ ॥

अपनी शक्ति से शीघ्र ही शत्रुओं को पीस देने वाले इस राजा की तलवार "व्यर्थ ही यह मेरा विरोधी कर्म करने वाला है" ऐसी जलन लिए हुए ही क्या काली हो गई थी ? ॥८० ॥

फड़कती हुई भुजाओं रूपी सर्पों से डसे हुए दुश्मनों के लिए इस राजा की तलवार सर्पदमन की दवा के रूप में शोभा देती थी ॥८१ ॥

वह राजा "वीर नारायण" नारियों के नेत्र को पावन करने वाले यौवन को प्राप्त होकर के "कत्सवाह" नामक राजा की पुत्री को ब्याह लाने के लिए "आम्रपुरी" नामक नगरी में गया ॥८२ ॥

वहाँ पर "जल्लालदीन" नामक शक राजा ने उस पर आक्रमण कर दिया और यह मानकर रणथम्भौर आ गया तथा पीछे से शकराज भी सैन्य सहित आ गया ॥८३ ॥

वहाँ बहुत काल तक युद्ध करके बलवान् जल्लालदीन ने जान लिया कि वीर नारायण धोखे से ही जीतने योग्य है यह सोच कर वह अपनी नगरी को (दिल्ली) लौट गया ॥८४ ॥

कुछ समय बीतने पर उस शक राजा ने छल से इसे जीतने की इच्छा करते हुए दूत के द्वारा यह कहलवाया ॥८५ ॥

जिस प्रकार सब ग्रहों के मध्य सूर्य और चन्द्रमा हैं वैसे ही हम दोनों सार्वभौम राजा हैं—सर्व राजाओं के ऊपर ॥८६ ॥

अतः हम दोनों की परिपक्व फल की भांति परस्पर प्रीति उचित है न कि आगे आने वाले समय में युद्ध लड़कर फूट डालने वाली नीति ॥८७॥

आग के लिए हवा की भांति तुमको मित्र पाकर मजबूत शक्तिशाली शत्रुवंशों को मैं क्षणभर में जला दूंगा ॥८८॥

एक बार तुम्हें हमसे मिलने के लिए आना चाहिए अन्यथा तुम्हारी आज्ञा के सिर्फ अनुवर्ती मुझे तुम्हारे द्वारा बुलाया जाना चाहिये ॥८९॥

एक बार तुम्हें हमसे मिलने के लिए आना चाहिये अन्यथा तुम्हारी आज्ञा के गुलाम मुझे तुम्हारे द्वारा बुलाया जाना चाहिये ॥९०॥

"वक्षःस्थलपुर" के "विग्रह" नामक राजा के साथ वार्ता द्वारा अच्छी प्रकार से भटकाये हुए चौहान राजा "वीर नारायण" का हृदय दूतों के वचनों से उस प्रकार से विश्वस्त हो गया जैसे कि भ्रमरियों के द्वारा चुंबित कमल उनके वश में हो जाता है॥ ९१-९२॥

तब राजा को शकराज से मिलने को उत्सुक देखकर प्रतिभा-सम्पन्न—"वाग्भट" ने एकान्त में "वीरनारायण" नृप से बातचीत की ॥९३॥

नीतिशास्त्र में पारंगत आपके लिए क्या यह उचित है कि जो दुष्ट हृदय वाले शकराज से मिलने को उद्योग किया जा रहा है ॥९४॥

शत्रु सैकड़ों बार सेवा करने पर भी मित्रता नहीं कर सकता क्योंकि तैल से सींचा हुआ दीपक भी कभी क्या शीतलता धारण करता है? ॥९५॥

यदि राज्य करना चाहते हो और चिरकाल तक जीवित रहना चाहते हो तो मेरी वचन रूपी भ्रमरियों को अपने हृदय रूपी कमल के समीप ले जाओ ॥९६॥

"यदि गुरुजन एवं सज्जन कल्याणकारी वाक्यों का उपदेश देते हैं तो वे अशुभ कार्य को त्याग देने की और शुभ कार्य को सम्पन्न करने की सलाह देते हैं ॥९७॥

ऐसा कहकर वाग्भट के चुप हो जाने पर क्रोध से अंधा राजा भयंकर भृकुटी चढाकर बोला— ॥९८॥

"अकरणीय अथवा करणीय—जो भी कार्य मुझे सबसे अच्छा. लगेगा, मैं उसे स्वच्छन्द रूप से करूंगा।यहाँ तुम्हें चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है॥९९॥

उस वाक्य से मानो हृदय में बर्छी से छिदा हुआ वाग्भट सपरिवार उस राज्य को छोड़कर मालवदेश को चला गया॥१००॥

परम प्रीति प्रदर्शित करने वाले पुरवासियों के वचनों की उपेक्षा करके घमंड से राजा वीर नारायण "योगिनीपुर" को चला गया॥१०१॥

हृदय में दुष्टता धारण किये हुए और मुख में मधुरता वाला शकराज सामने आकर के महान् उत्सव पूर्वक राजा को अन्तःपुर में ले गया॥१०२॥

जिस प्रकार वन में प्रियाल, पनस के विभिन्न वृक्ष एवं चीते जैसे पशुओं के समूह रहते हैं उसी प्रकार वन की भांति प्रिय बात-चीत के माध्यम से चित्र विचित्र वचनों के सहारे उसने उसके मन को प्रसन्न कर दिया॥१०३॥

दूसरे दिन जहर देकर शकराज ने राजा "वीर नारायण" को मरवा दिया। हाय! अकृत्य करने वाले पापी लोग क्या कहीं पर भी मोह प्राप्त करते हैं। ॥१०४॥

इसके मारे जाने के पश्चात् शक ने सोचा कि अब शीघ्र ही अन्य नृप समूह जीत लिया जायेगा। ऊँचे वृक्ष की भी जड़ के कट जाने पर उसके फल आदि सरलता से प्राप्त किये जा सकते हैं॥१०५॥

तब "वाग्भट" रूपी नृप सूर्य से रहित रणथम्भौर रूपी आकाश शक रूपी तारों से व्याप्त हो गया॥१०६॥

अब शकों की प्रेरणा से मारने की इच्छा वाले मालवाधिपति को जानकर "वाग्भट" ने उसे भी यमधाम पहुँचा कर उसका राज्य हस्तगत कर लिया॥१०७॥

शकों के आतंक से त्रस्त, शरण में आये हुए शत्रुओं से भरपूर 'वाग्भट' का राज्य दिन प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त होने लग गया॥१०८॥

अब "जल्लालदीन" शक राज के शकों की सेना सहित आक्रमण कर देने पर 'वाग्भट' भी रणथम्भौर के उद्धार की इच्छा से सेनासहित युद्ध के लिए आ डटा॥१०९॥

"पुन्नाग" के वृक्षों की भांति विशालकाय एवं मदवारि झराने वाले उसके हाथी चलते हुए पर्वतों की भांति शोभा धारण कर रहे थे ॥११० ॥

और उसके घोड़े भी अद्वैतवादी की भांति खुरों के द्वारा उड़ाई हुई धूलि से विश्व को एक रूप धूलि-मय करते हुए शोभा दे रहे थे ॥१११ ॥

चलते हुए रथों के पहियों की दिशाओं को पूरने वाली आवाजों से समुद्र की मेखला वाली समस्त पृथ्वी मानों अद्वैत शब्दमयी हो रही थी ॥११२ ॥

धैर्य और शस्त्र के समूह की चमक से समस्त दिशाएं प्रकाशित कर देने वाले पदाति योद्धागण दोनों प्रकार के दुश्मनों के प्राणों को भी एवं श्वासों को भी हरण करने में सक्षम थे ॥११३ ॥

'वाग्भट' ने शेष नाग के द्वारा कठिनाई से धारण की गई पृथ्वी को अपने चलते हुए सैन्य बल से कंपित करते हुए रणथम्भौर के पास में शिविर लगा दिया ॥११४ ॥

अनेक रणबांकुरे वीरों का समूह देखकर किले में रहने वाले शक लोग डरने लग गये ॥११५ ॥

पुरवासी भी शोक युक्त हो गये क्योंकि दुश्मन के आने पर आक्रमण करने पर कौन सुख की सांस ले सकते हैं? कोई नहीं ॥११६ ॥

राजा के आदेश से शूरता से तीव्र ओज वाले योद्धाओं के समूह, दुर्ग पर अधिकार करने का निश्चय करके आक्रमण करने चल दिये ॥११७ ॥

गोलियों से, पत्थरों से एवं सुरंगों से किले को अनेक प्रकार से भेदने को इच्छुक योद्धा गण उसे जरा भी क्षति पहुँचाने को समर्थ नहीं हुए ॥११८ ॥

योद्धाओं के शौर्य को, चतुरता को एवं दुर्ग की दुर्गमस्थिति को देख देखकर राजा आश्चर्य से एवं दुःख से परिपूर्ण हो रहा था ॥११९ ॥

अब नीतिज्ञ 'वाग्भट' ने ताकत से दुर्ग को अग्राह्य जानकर चारों ओर से दुर्ग के घेरा डाल दिया एवं योद्धाओं को युद्ध से रोक दिया ॥१२० ॥

तब डर से बाहर निकलने व अन्दर प्रविष्ट होने में असमर्थ पुर के अन्दर वाले लोगबाग दुख पाने लग गये ॥१२१ ॥

पुर के अन्दर पुरवासियों के लिये प्राप्ति के अभाव के कारण पानी दुग्ध की भांति बिकने लगा, घास इक्षुदण्ड की (गन्ने की) भांति एवं लकड़ियाँ चन्दन की भांति बहुमूल्य हो गईं ॥१२२॥

तीन महीने तक रहते हुए नगर की रक्षा करने में असमर्थ सारे ही दुष्ट शक लोग प्राणों को होम करके मर गये ॥१२३॥

तब भक्तियुक्त शुभ चित्त वाले हाथों में उपहार लिए हुए पुरवासी 'जय' शब्द उच्चारण करते हुए प्रशंसित कान्ति वाले 'वाग्भट' राजा के पास आये ॥१२४॥

राजा ने भी उन्हें वस्त्रादि देकर और उनका सत्कार करके निर्मल उत्सव के आयोजन के साथ नगर में प्रवेश किया ॥१२५॥

राहु के मुख से मुक्त हुए चन्द्रमा के बिम्ब का अनुकरण करने वाली शत्रुओं से मुक्त हुए रणथम्भौर की छवि देखते हुए उस राजा वाग्भट ने हाथी, घोड़े, स्वर्ण, रत्न को यथास्थान निवेशित करके इस नगर को लक्ष्मी का निवास बना दिया ॥१२६-१२७॥

सूर्य की भांति उदयाचल पर क्रमशः आने वाले 'वाग्भट' राजा ने किन-किन राजाओं को पादाक्रान्त नहीं कर दिया-सब राजाओं को अधिकार में कर लिया ॥१२८॥

अपने राज्य की सीमाओं पर चारों दिशाओं में अपनी सेनायें लगा कर सुखपूर्वक उसने १२ वर्ष तक स्वयं राज्य किया ॥१२९॥

उस राजा के स्वर्गलोक की चंचलनेत्रा रमणियों की कटाक्ष रूपी बाणों की लक्ष्यता प्राप्त कर लेने पर, उसके स्वर्गत होने पर, उसका विजययुक्त प्रताप वाला "जैत्रसिंह" नामक पुत्र राजा बना जो कि संसार के नेत्रों को चन्दन के वृक्ष की भांति आनन्द देने वाला था ॥१३०-१३१॥

अन्याय रूपी अंधकार को समूल नष्ट करने वाला यह राजा सूर्य की भांति समस्त प्रजा का प्रिय हो गया ॥१३२॥

दुश्मनों के समूह के सम्मुख आ जाने पर अहा। इसके हाथों का आभूषण अच्छे बांस से निर्मित धनुष बन जाता था ॥१३३॥

दान और भोग को धारण करने वाले और सज्जनों के समूह के द्वारा सेवित इसने शची के पति इन्द्र की उपमा को चुरा लिया था ॥१३४॥

इसके भुजदण्डों के पराक्रम को श्रवण करके बड़े बड़े राजाओं के सिर भी कम्पित हो जाते थे ॥१३५॥

जब आंतकरूपी राहु के द्वारा शत्रुओं की पराक्रम रूपी सूर्य के ग्रस्त कर लिये जाने पर शत्रुनारियों के केशपाशों के बहाने से स्पष्ट दिखाई देने वाला शोकरूपी अंधकार नजर आने लगता था ॥१३६॥

अच्छे वंश वाले (बांस वाले) इसकी ओर इसके धनुष की एकमतता नहीं हो सकती थी। इसका धनुष ही युद्ध में शत्रु के सामने पीठ प्रदर्शित करता था, यह राजा नहीं ॥१३७॥

इसकी रानी गुणवती एवं कल्याणवती "हीरादेवी" नाम्नी थी जो अगणित पुण्यों के फलस्वरूप प्राप्त सौन्दर्य तथा रसप्रवाह की स्वामिनी थी ॥१३८॥

जिस हीरादेवी के सौन्दर्य के द्वारा जो रति पराजित हो गई थी अब वह उसी की सेवा करती थी, या फिर अग्नि तो स्वयं द्वारा जलाये हुए घर में ही निवास करती है ॥१३९॥

राजा के साथ कामदेव के आनन्द का भोग करती हुई उस रानी ने शुभ गर्भ को धारण किया ॥१४०॥

अपने करकमलों से यम सदन पहुँचा कर शकों के रक्त से स्नान करने की इच्छा रानी करती थी। यह रानी की गर्भ के समय की तीव्र इच्छा (दोहद) थी ॥१४१॥

हर्ष युक्त मन से प्रियतम की प्रेरणा से उस रानी ने समय आने पर, लक्ष्मी ने जिस प्रकार कुसुमायुध कामदेव को जन्म दिया था, उसी प्रकार पुत्र को जन्म दिया ॥१४२॥

तब आकाशवाणी हुई कि यह बालक शक लोगों की रक्तधाराओं से इस पृथ्वी को स्नान करवा कर के उनके शिर रूपी कमलों से इसकी पूजा करेगा ॥१४३॥

बालक के अंगों से उस समय ऐसी कान्ति का प्रवाह फैल रहा था मानो सूतिका गृह

में हजारों सूर्य देदीप्यमान हों ॥१४४॥

बालक के जन्म के समय दिशाएं निर्मल हो गईं, शुभ वायु संचार करने लगा, आकाश निर्मल हो गया और सूर्य भी प्रचुर मात्रा में प्रकाशित होने लग गया ॥१४५॥

उस पुत्र के जन्म होने पर जो आनन्द इसके पिता को हुआ था उसका शतांश भी कवियों की वाणियों के लिए प्राप्य नहीं था ॥१४६॥

उसके जन्म लेने पर राजा ने ऐसी स्वर्णवृष्टि की कि याचकों का दारिद्य दूर हो गया ॥१४७॥

इस बालक का दशाह्निक (दस दिन पश्चात् होने वाला) समस्त विश्व को आनन्द देने वाला, महोत्सव करके प्रसन्न चित्त से राजा ने इसे 'हम्मीर' नाम प्रदान किया ॥१४८॥

माता और पिता के नेत्रों को अपने शुभ दर्शन रूपी अमृत से सींचता हुआ शुभ मूर्त्ति वाला वह बालक हम्मीर चन्द्रमा की तरह दिनोंदिन बढ़ने लगा ॥१४९॥

कुछ दिनों में ही गुरुओं की कृपा से बिना किसी क्लेश या आयास के ही शस्त्रों और शास्त्रों के रहस्य को उसने अपने वश में कर लिया। शस्त्र विद्या एवं शास्त्रों में निपुण हो गया ॥१५०॥

ऐसा कोई शास्त्र, शस्त्र या प्रजा का रंजन नहीं था जो उसके सज्जन हृदय रूपी कमल पर भ्रमरवत् नहीं मंडराया हो ॥१५१॥

अब निरन्तर शृंगारयुक्त जीवन वाली जवानी का आश्रय लेकर उसने किन मृगाक्षियों के नेत्रों एवं मनों को वश में नहीं किया—सबको मोह लिया ॥१५२॥

अपने नेत्र द्वय से सौन्दर्य की लक्ष्मी के भाजन उस हम्मीर के सौन्दर्य का पान करके कौन-कौन सी कामिनियाँ उसे मन में पति नहीं बनाना चाहती थी—सब स्त्रियाँ उसे पति रूप में चाहती थी ॥१५३॥

उस 'हम्मीर' की मुखाकृति नैसर्गिक थी और मुख पर दाढ़ी मूँछे शोभित होने लग गई थी और जो बढ़ते-बढ़ते नासाछिद्र द्वय के मार्ग से बाहर आकर शृंगार की धाराओं के समान नेत्र की कोरों तक पहुंचने लग गई थी ॥१५४॥

उसके केश मयूर के पुच्छ की कान्ति को भी मात करने वाले थे, मुख चन्द्रमा की

प्रीति को समाप्त करने वाला था, कण्ठ शंख को, वक्षः स्थल कपाटों के चातुर्य को, भुज दण्ड गदा के आघात को तथा चरण कमलों को भी परास्त कर देने वाले थे। यौवन में आये हुए 'हम्मीर' की क्या क्या वस्तु अधिक सुन्दर नहीं थी—सब अंगादि रम्यतर थे ॥१५५ ॥

उसे देखकर ललनाओं का मन वाणी से अगोचर प्रीति को वैसे ही उत्पन्न करता था जैसे कि विन्ध्य पर्वत के प्रति हाथी, धन के प्रति निर्धन व्यक्ति, चमेली के पुष्प के प्रति भौंरा, त्याग के प्रति याचक, गुणों के प्रति गुणी व्यक्ति, न्याय के प्रति राजा, आम्र वृक्ष के प्रति कोकिल, वेदों के प्रति विदुर एवं कमल के प्रति हंस प्रीति धारण करता था ॥१५६ ॥

रमणियों के द्वारा कामदेव के समान यह माना जाता था, याचकों के द्वारा इन्द्र के समान सत्यवादियों के द्वारा भीष्म के समान, तत्वज्ञानियों के द्वारा ब्रह्म के समान, योद्धाओं द्वारा स्वर्ग भोगने वाले के समान और शत्रु राजाओं द्वारा यम के समान माना जाता था। किन-किन के द्वारा यह किस-किस प्रकार जवानी के भाव को प्राप्त कराया गया और सोचा गया ? अर्थात् सब प्रकार से लोग उसे मानने लग गये ॥१५७ । ।

अब पिता के द्वारा प्रसन्नतापूर्वक उसका विवाह सौन्दर्यवती सात कन्याओं के साथ कर दिया गया और उनके साथ यह हम्मीर हमेशा निःसंकोच इन्द्र के समान इन्द्राणियों की तरह काम क्रीड़ा करता था ॥१५८ ॥

जैत्रसिंह राजा के हमीर के अतिरिक्त दो पुत्र और थे। एक हम्मीर से बड़ा तथा एक छोटा जो कि गुह कार्तिकेय की भांति संसार विजयी शक्ति वाले थे। इनमें से प्रथम राजनीति निष्णात सुरत्राण ज्येष्ठ भ्राता और दूसरा शत्रुवीर विदारण में कुशल वीरम लघु भ्राता था ॥१५९ ॥

इस प्रकार से "जैत्रसिंह" राजा अपने तीन पुत्रों से प्रतिदिन सेवित था जो कि नगर की द्वारार्गला के रूप में थे, जो दीर्घ व पुष्ट भुजाओं के कारण देदीप्यमान शक्ति वाले थे और अपनी क्रोधाग्नि से समस्त शत्रु भूपालों को कवलित कर देने की क्षमता रखते थे। इन न्यायशील पुत्रों से युक्त यह राजा वीर पिताओं के शिरोमणित्व को प्राप्त करता था ॥१६० ॥



पञ्चम सर्ग

इसके अनन्तर जैत्रसिंह राजा के अपनी पृथ्वी को स्वर्ग के तुल्य बना देने पर विश्वविजेता कामदेव का प्रिय मित्र वसन्त उल्लसित हो गया ॥१ ॥

मानों सर्पिणियों के निःश्वासों से निश्चितरूप से मलयानिल पुष्ट हो गया था अन्यथा किस प्रकार से इसमें तुरन्त ही विरही व्यक्तियों को मूर्छित करने की क्षमता आ जाती ? ॥२ ॥

ऋतुराज वसन्त को अवलोकन करते करते अरुण सूर्य के रथ के सारथी द्वारा भी रथ निश्चित ही नहीं चलाया गया था। अन्यथा चक्रवाकों के हित करने वाले ये वसन्त दिवस कैसे बड़े हो जाते ? ॥३ ॥

अपने प्रियतमों के दुःसह विरह से व्याकुल स्त्रियों के द्वारा कैसे हमारी महिमा सहन की जायगी ऐसा सोचकर कृपालु रातें भी मानों छोटी हो गईं ॥४ ॥

मधुप भी मलिनता का आचरण कर रहे हैं क्योंकि इस समय मालती नहीं फूल रही है। या फिर मुनि लोगों के लिये यह वसन्त का समय अधिक प्रिय हो गया था ॥५ ॥

मलय वायु भी चन्दन वृक्षों के साथ सुरभि फैलाता हुआ और रमणियों के कुचों पर फैलता हुआ मानों पुनः मलयाचल के विशाल शिखर पर आरोहण का आनन्द लेता था ॥६ ॥

नलिनीपति अर्थात् सूर्य भी मानों क्रुद्ध होता हुआ विवर्ण पत्तों वाली नलिनी को देखकर इस पर आघात करने के लिए उत्तर दिशा की ओर चल दिया (सूर्य उत्तरायण हो गया।) ॥७ ॥

पवन वेग से उड़ाई हुई पुष्प समूहों की रेणु से मानो गगन धरणी-तुल्य हो गया था अतः सूर्य के अश्व भी धीरे-धीरे चलते थे अतः दिन बड़ा हो गया था ॥८ ॥

मधुयुक्त पुष्पों के मधुपान करने से अधिक मदमत्त भ्रमरियों के गुञ्जन को सुनकर किन के मन में विकार नहीं आ जाता था? ॥९ ॥

आम्रवृक्ष की मञ्जरियों को खाकर प्रचुर माधुर्य प्राप्त करने वाली कोयल के द्वारा मानों सारा जगत् काममय बन दिया गया था ॥१० ॥

"यह शशी को नष्ट करने वाली अमावस्या आ गई और यह कोयल की वाणी में बात करती हैं" ऐसा देखकर कौन सी स्त्री प्रसन्न नहीं होती किन्तु प्रवास में गये पथिक की पत्नी तो दुःखी ही थी ॥११ ॥

तोते की चोंच जैसे पलाश के फूले हुए पुष्प वनों में शोभित हो रहे थे मानों शान्त रस रूपी हाथी को वश में करने के लिए वे कामदेव के अंकुश हो गये थे ॥१२ ॥

यदि मैं यहाँ विकसित हो जाऊँ तो ये दूसरी लताएं क्यों शोभा प्राप्त करेंगी" यह सोचकर बसन्त ऋतु में मालती की लता पुष्पित नहीं होती ॥१३ ॥

वन रूपी युवती की हँसी की भांति अपने प्राण प्रिय वसन्त के आगमन पर हर कानन में निर्मल खिले हुए पुष्प शोभा दे रहे थे ॥१४ ॥

"वर्षा ऋतु में इस मालती लता ने पथिक स्त्रियों को विरह के कारण मार दिया था' इस विचार से यह मालती पंक्ति से बाहर रहकर वसन्त ऋतु में मानो नहीं खिलती ॥१५ ॥

कामदेव ने भी मानो परदेशी व्यक्तियों के हृदय के शूल को गाड़ने हेतु डाली पर लगे सुन्दर फूलों के छिद्र निर्माण कर लिये थे जिनमें लौहाग्र वाले काम बाण चुभोये जा सकें ॥१६ ॥

यदि ये मालती लताएं मेरे बाणस्वरूप हैं तो इन्हें स्पर्श होने पर कौन सह सकता है?—(कोई नही) तो क्यों यह कामदेव वसन्त ऋतु में इसका आदर नहीं करता? ॥१७ ॥

खिले हुए प्रियाल वृक्ष की मंजरियों के रेणु के कारण लाल, लाल हिरणियों के नेत्रों से तुल्यता प्राप्त कर रहे थे। रमणियों के नेत्र क्योंकि मधु रूपी मदिरा पीने

के कारण वे खूब रक्तिम हो गये थे ॥१८॥

मानो वनराजी रूपी वधू आलिंगन के लिए वसन्त ऋतु को बुला रही थी क्योंकि उसके पल्लव रूपी कर कमल संचरणशील मलयानिल के कारण हिल रहे थे ॥१९॥

कामदेव मानो बन्दूक का अभ्यास करते हुए भ्रमर रूपी गोलियां चला रहा था क्योंकि हर वन में पेड़ों पर पुष्प मधुपान से ये भौंरे धीरे-धीरे संचरण कर रहे थे ॥२०॥

यह पलाश का वृक्ष भी देखने मात्र से ही बंधुओं को कम्पित कर रहा था क्योंकि विरहिणियां तो योंही कृश हुई रहती थीं मानों उनका मांस इसने भक्षण करके उन्हें कृश कर दिया हो ॥२१॥

प्रवास में जिनके पति चले गये हैं ऐसी स्त्रियाँ पदाघात के श्रम से ही तृष्णा युक्त हो जाती थी (सकाम हो जाती थी) और पुनः-पुनः अशोक वृक्ष पर पाद प्रहार करती थी। इसके प्रतिशोध-स्वरूप अशोक वृक्ष मानो उन्हें काम ज्वर से पीड़ित कर रहा था ॥२२॥

तिलक वृक्ष भी मधुर मधु से भ्रमरों को लुभाता हुआ सारे वृक्षों पर तिलक की भांति शोभा धारण कर रहा था ॥२३॥

बकुल वृक्ष अवर्णनीय शोभा धारण करता हुआ वधुओं के मुख-मदिरा के सिंचन बिना दुःखी हो रहा था अतः उसने उन सुन्दर लोचनों वाली स्त्रियों को भी व्याकुल कर दिया था ॥२४॥

वनों के समूह की कालिमा से ऐसा मालूम होता था मानो असमय में ही वहाँ रात का आगमन हो गया हो अतः चम्पक वृक्ष की कलियाँ कामदेव के दीपक की उपमा प्राप्त कर रही थी ॥२५॥

तालाब के कमल अगणित भ्रमरों के आगमन के कारण अधिक नीलिमायुक्त हो गये थे और वे आकाश में स्थित सकलङ्क चन्द्रमा की उपमा धारण कर रहे थे ॥२६॥

खिले हुए पलाश पुष्प से युक्त डाली कुछ कज्जल युक्त जल बिन्दु की उपमा प्राप्त करती थी और भ्रमर रूपी युवक मालती लता के विरह के कारण अग्नि तपस्या में मानो लीन हो रहा था ॥२७॥

मलयानिल वनलताओं को अत्यधिक हिला रहा था और वे मानो चिरकाल तक वृक्षों के मिलन के कारण एकान्त में आलिंगनों का वितरण कर रही थी ॥२८॥

समस्त त्रिलोकी की विजय के कारण पसीने से लथपथ कामदेव राजा को मानो केले का वृक्ष पंखा झल रहा था क्योंकि हवा के कारण वसन्त ऋतु में उसके पत्ते हिल रहे थे ॥२९॥

कोयल भी मानो हरिणाक्षी रमणियों को सुन्दर वाणी से उपदेश दे रही थी कि हृदयेश्वर पति के पास चली जाओ, शीघ्र ही यह मान त्याग दो क्योंकि बीता हुआ समय पुनः नहीं आता है ॥३०॥

"क्या चुम्बन मधुर होता है अथवा मकरन्द?" इस बात की विवेचना करने वाला भ्रमर प्रेम में पागल होकर क्षण में तो कमल को चूमता था तो क्षण पश्चात् भ्रमरी के मुख का चुम्बन करता था ॥३१॥

विलास युक्त वसन्त ऋतु में किन्हीं पुष्पों से मानों अपनी गुंजारों से भौरे अज्ञात रस मनुष्यों के लिये कह रहे थे—"यह यही है, यह यही है" ॥३२॥

कबूतर अपनी मधुर आवाज से प्रिया को मदमत्त करता हुआ उसे आलिंगन करके चूम रहा था और इस प्रकार से प्रियतमा की प्रार्थना के लिए वह युवकों के मन को त्वरायुक्त कर रहा था ॥३३॥

वन देवियों की भांति लताएँ वसन्त को देखने के लिए आ गई थी उनके खिले हुए पुष्प गुच्छ ही मानों उन्नत कुच थे और नये नये पल्लव ही अद्भुत हाथ थे ॥३४॥

रमणियों के द्वारा शरीर पर लेप के लिये उपयुक्त जो सुगंधयुक्त केसर का बहुत आदर किया जाता था। उपकार करने वाली एवं चिरकाल से व्यवहृत वस्तु अचानक ही कैसे त्याज्य हो सकती है? ॥३५॥

पथिक स्त्रियों के मारण के कारण मानो भयंकर पापों से व्याप्त कज्जल की कृष्णतम द्युति वाले भौरे हरेक जङ्गल में घूमने लग गये थे ॥३६॥

इस प्रकार के लोचन द्वय से वसन्त काल को प्रसन्न चित्त से देखकर वह वीरम का बड़ा भाई हम्मीर जैत्रसिंह पिता से पूछकर वृक्ष पंक्तियों से सज्जित मन्द-मन्द

पवन वाले नगर के उद्यान में चला गया। वह अपनी सुन्दर मुखाकृति के कारण मानो अम्बर तल में दिन में भी अनेक चन्द्रमाओं को अवतीर्ण वर रहा था। कपूर कस्तूरी आदि से मिश्रित चन्दन तथा सिन्दूर के उबटन से उसका शरीर सुगंधित था। उपवन के मनोविनोद को करने की इच्छुक अन्तः पुर की वधुओं के साथ वह क्रीडा करता था। जिसके साथ अनेक समान वय वाले साथी थे और उनके परिहास के कारण उसका चन्द्रमुख मानो अधिक उज्ज्वल हो जाता था ॥३७-४० ॥

इसके पश्चात् बहुमूल्य वस्त्र धारण किये हुए, नवीन आभरणों से सज्जित, कामुक भावना से उद्दीप्त शरीर वाली रमणियाँ भी मदमत्त वसन्तोत्सव के लिये साथ चली ॥४१ ॥

किसी ललना ने अपनी सखी के ये वचन सुने—"हे सखि! तुम्हारी सुन्दर वेशभूषा से तथा मुख कमल की रोती सूरत से क्या लाभ? आओ, शीघ्र ही अपने प्रियतम को प्रसन्न करके शत्रु की प्रसन्नता को नष्ट कर दो।" तब उसने मान छोड़ कर पति के पास जाकर शुभ्र कृपा युक्त सुन्दर चेष्टाएं करनी प्रारंभ कर दी ॥४२-४३ ॥

ऐसे ही दूसरे व्यक्ति ने निपुणता से अपनी चन्द्रमुखी प्रिया को मनाने के लिए विविध संकेत किये। पूर्व सूचित संकेतों के अनुसार उसके द्वारा पति का आलिंगन कर लिया गया ॥४४ ॥

"हे सखि, यहाँ से वन में चलो। वह धूर्त तो विरह के कारण क्या कर रहा है, यह देखें।" ऐसा कह कर पति के द्वारा प्रेरित किसी दूती ने नायिका को नायक के पास इसी बहाने से ला खड़ा किया ॥४५ ॥

ऐसे ही किसी नायिका के चरण कमलों में गिरे हुए नायक की चोटी ऐसी शोभा दे रही थी मानो वह इसके (नायिका के) मान को काट डालने के लिए कामदेव की तलवार हो ॥४६ ॥

कोई नायक कह रहा था—अरी चन्द्रमुखि! देखो, तुरन्त ही वसन्त के दिन बीत गये हैं। अभी भी क्या मान धारण करके तुम अपना और दूसरे का भी अहित करना चाहती हो?" और यह कहकर कुपिता प्रियतमा को मनाकर वह स्त्री को मनाने में चतुर नायक क्षण-क्षण में नायिका का आलिंगन करता हुआ वसन्तोत्सव के लिए चला जा रहा था ॥४७-४८ ॥

दूसरी स्त्री ने जब अपने प्रिय के ये वचन सुने—"हे कामिनि ! तुम न तो मेरी और देखती हो, न बोलती हो, यह तुम्हारा अनुचर अब कैसे जी सकता है ?" तो वह मद्यपान से भी अधिक मत्तता को प्राप्त हो गई ॥४९॥

ये सब लोग नव प्रियतमा की भांति वन भूमि को देखकर रमण करने को उत्सुक हो उठे क्योंकि उन्होंने नये पल्लव रूपी हाथ वाली, भ्रमरों की पंक्ति रूपी वेणी वाली और पुष्पित कुसुम गुच्छों रूपी कुचवाली वन भूमि को देख लिया था। ।५०॥

उस समय वृक्षगण मानों चलती हुई वायु से हिलते पत्तों के बहाने से कांपने लग गये जब तरुणियों ने निष्ठुरता से प्रसून तोड़ना प्रारंभ कर दिया ॥५१॥

कोई सरोज रूपी तरुणी उस समय व्याकुल हो गई जब मदमत्त भौंरो ने उसके मुख को कमल समझ कर जंगल के फूलों को छोड़कर उस पर मंडराना प्रारंभ कर दिया ॥५२॥

किसी नायक ने जब किसी लता की ओर बढ़ती हुई प्रियतमा के शरीर पर नखक्षत दिया तो वह हृदय में कितनी मुदित नहीं हुई होगी-खूब प्रसन्न हुई ॥५३॥

अपने हाथ से निर्मित पुष्पों की दो गेंदों को किसी नायक ने बनाकर दिखाया और कहा कि "तुम्हारे कुचद्वय इतने बड़े हैं" और कुपित रमणी को हंसाया ॥५४॥

"हे प्रिये ! यह पुष्प मधुर गंध वाला है' ऐसा कहकर दूसरे चतुर व्यक्ति ने रुमाल के बहाने से नाक के समीप आकर नायिका के होठों का हाथ से स्पर्श कर लिया ॥५५॥

सखी के माध्यम से जब किसी नायिका ने सुना—हे प्रिये एक बार यदि मुख चुम्बन दोगी तो यह कुसुम की माला मैं दूंगा "तो लज्जा और आनन्द से नायिका पूर्ण हो गई ॥५६॥

अन्य नायिका ने वृक्ष पर चढ़े हुए प्रिय के पैर को वृक्ष पल्लव के बहाने पकड़ लिये किन्तु आनन्द प्राप्त होने के कारण न तो खींच सकी और न छोड़ ही सकी ॥५७॥

"हे चन्द्रमुखि !सामने लता समूहों में सुन्दर पुष्प खिल रहे हैं ऐसे बहाने से अन्य नायक नायिका को रति के लिए एकान्त स्थान में ले गया ॥५८॥

अन्य धूर्त नायक ने हंसते हुए नायिका के कुच हाथों में ले लिए और कहा—अरी! मेरे देखते देखते ही कुसुम गुच्छ कहाँ चला गया? और फिर कहा कि—अहो! मिल गया ॥५९॥

अन्य धूर्त ने एक युवती के कुच द्वय का मर्दन कुसुम गुच्छ ढूंढने के बहाने कर लिया और कहा—"अरी! मेरे देखते ही देखते कुसुम गुच्छ कहाँ चला गया?" ॥६०॥

अन्य अतिचतुर नायिका ने वृक्ष के व्याज से अपने प्रियतम का आलिंगन कर लिया क्योंकि उसके शरीर पर नव कुसुमों के मकरन्द के कारण भ्रमर समूह मंडराया था ॥६१॥

और अन्य नायिका पेड़ पर चढ़े हुए प्रियतम को देखकर चेतना खोती हुई व्यर्थ ही कह रही थी—"हे प्रिय! यह पुष्प मुझे दे दो, मुझे दे दो।" ॥६२॥

दूसरे नायक के द्वारा नाम लेकर एक रमणी की ओर कुसुम गुच्छ फेंका गया लेकिन उसके द्वारा निःश्वास लेते हुए उसे वापस उसी के पास लौटा दिया गया ॥६३॥

अन्य नायक ने प्रिया के सुन्दर मुख का पान आँख मीच कर यों कह कर लुभाते हुए किया—"अरी, देखो, देखो, सामने उन्नत कुच वाले लकुच वृक्ष पर युवा भ्रमर मंडरा रहा है।" ॥६४॥

तरु समूह से पुष्पित कुसुमों को तोड़कर शिर पर धारण करने वाली नायिका के पास वन रक्षकों की भांति भ्रमर खूब गुंजन करते हुए जाने लगे ॥६५॥

गर्मी को हटाने के बहाने से बीच में नये पर्दे की तरह साड़ी लगाकर अन्य धूर्त ने अपने हृदयेश्वरी अन्य वनिता का निडर होकर चुम्बन ले लिया ॥६६॥

अन्य काम कला धुरंधर नायक ने नायिका को नाराज करने पर भी अपने हाथ से ग्रथित खिले पुष्पों के पंखों से हवा करते हुए मना लिया ॥६७॥

पेड़ के उन्नत भाग पर स्थित पुष्प को तोड़ने हेतु ऊँचा हाथ करने पर पहले उदर भाग पर से अन्य नायिका का वस्त्र खिसक गया तो वह मानो काम शक्ति के समान प्रकट होती हुई शोभा दे रही थी ॥६८॥

धूर्त नायक के द्वारा नव पल्लव के बहाने से अधरों का चुम्बन ले लेने पर जो नायिका

हँसी तो मानो नायक के कपट चातुर्य का वह चन्द्रमा के समान शुभ्र यश ही था ॥६९ ॥

शिथिल गात्र होने के कारण एक ओर झुकी हुई प्रिया को एक बाहु से संभाले हुए और दूसरे से कमल हाथ में लिये हुए नायक ऐसा शोभा दे रहा था मानो धनुष बाण लिये हुए वह कामदेव ही था ॥७० ॥

एक कामिनी जब पेड़ की शाखा पर पुष्प चयन करने के लिए एक बायां पांव रख रही थी तो दाहिना पैर पृथ्वी पर ही रहा। ऐसी स्थिति में कोई धूर्त कुछ छल करके नीचा होकर युवती के नाभि मूल को देखकर ऊर्ध्वसुरत की तीव्र इच्छा धारण कर रहा था ॥७१ ॥

अन्य मुग्धा नायिका के द्वारा यह कहने पर कि "हे प्रिय! डाली पर लगे पुष्प को यदि न दोगे तो जो तुम मांगोगे वही निश्चय ही दे दूंगी" तो उसकी सखी से लड़ाकर तुरन्त ही छल से पुष्प देकर अन्य धूर्त्त दोनों के ही हृदयों को स्पर्श कर रहा था ॥७२ ॥

कर कमलों से लम्बी शाखाएं पकड़ कर आपस में पैर मिलाकर सखियों के द्वारा हिलाई हुई कमलनेत्रियाँ झूले की उपमा प्राप्त कर रही थीं ॥७३ ॥

वन भूमि पर जब कामिनियों के नखाग्रों से तोड़े हुए पल्लव बिखरे हुए थे तो फूलों के समूहों से वह भूमि मूंगों से भरे पात्र में रखी हुई मोतियों की माला की भाँति शोभा दे रही थी ॥७४ ॥

पुष्पों से निर्मित कर्णफूल, तथा कंकणों के समूहों से सुशोभित शरीर वाली ललनाएँ मानो अब कामदेव के हथियार बंद सैनिकों की भांति शोभा दे रही थी ॥७५ ॥

इस प्रकार सुन्दर विधियों से कल्याणयुक्त अपने अंगों से क्रीडा रत होकर के जंगल की वासंतिक पुष्प शोभा को तुरन्त ही पुर के निवासी योद्धाओं ने सफल कर दिया ॥७६ ।



षष्ठ सर्ग

अब वन विलास के कारण स्वेद युक्त युवकों को देखकर राजकुमार हम्मीर जलक्रीड़ा करने के लिये सुन्दर जैत्रसागर नामक सरोवर पर उनके साथ गया ॥१ ॥

सुन्दर तोतों के पंखों की सी हरी-हरी कान्ति वाली इसके तीर पर स्थित वनपंक्ति ऐसी शोभा देती थी मानो कि राहु के हाथियों की सेना चन्द्रमा के बिम्ब के चारों ओर फैल गई हो ॥२ ॥

संग्राम के प्रारंभ होने से पूर्व की सी शान्ति वाले एवं सुन्दर शोभा वाला यह सरोवर ऐसे समुद्र की भी हँसी उड़ाता था जिसकी गोद में अनेक नदियाँ विलास कर रही हों ॥३ ॥

यह सरोवर तट पर उगे हुए पेड़ों के कारण नीलवर्ण एवं पलाशों के प्रफुल्लहास के कारण हरी हरी मणियों एवं मुक्ताओं से मानो शोभित हो रहा था और पृथ्वी रूपी स्त्री के गोल गोल कर्ण-कुण्डलों की उपमा धारण कर रहा था ॥४ ॥

यह तालाब उस चन्द्र बिम्ब की भाँति शोभित था जो कि राहु के डर से मानो पृथ्वी पर उतर आया हो और इसने अपने नीले कमलों के पत्र समूहों के चिह्नों से मानों चन्द्रमा के कलङ्क को भी पराजित कर दिया था ॥५ ॥

यह (सरोवर) मानों अपनी ही शोभा को निहारने के लिए सैकड़ों नेत्र धारण किये हुए था क्योंकि कमल की कलिकाओ के मध्य उड़ते हुए भ्रमरों के कारण मानों उसकी पलकें खुल गई हों ॥६ ॥

तुरन्त ही चंचल नेत्रियों के विशाल नितम्बों से समस्त वनपथ व्याप्त हो गया क्योंकि वे जल-क्रीडा हेतु जाने के इच्छुक अपने प्राण प्रियों को (पतियों को) मानो रोक

रही थी ॥७॥

जल में अपनी शोभा निरख कर तरुणियों ने दर्पणों से भी अपना मन हटा लिया था। तो यहाँ इसमें क्या बात है कि जहाँ पर भी स्त्रियों का मन चिरकाल तक रहता हो (वहाँ ही वे रम जाती हैं।) ॥८॥

ऊँची ऊँची लहरों वाले सरोवर के जल में स्त्रियों ने पुष्पित सुमन इस कारण से फेंके मानो वे कामदेव की शंकर स्वरूप जल मूर्ति का अपनी दीर्घायु की कामना हेतु भजन कर रही हो ॥९॥

तट पर स्थित रमणियों के जल में पड़े प्रतिबिम्बों पर विकसित कमल मानकर उन पर गिरने वाले भौंरों ने युवकों के समूह को हँसा दिया था ॥१०॥

युवतियों के जल में पड़े प्रतिबिम्ब मानो सुन्दर प्रतिनिधियों के नाम से सरोवर की जल देवियाँ होकर ही इनका आतिथ्य करने को प्रकट हो गई थी ॥११॥

क्षीण कटि वाली, अत्यन्त गहरे जल के देखने मात्र से ही भयभीत रमणियों को हाथ से पकड़कर किसी तरह से युवक जल में प्रवेश करा रहे थे ॥१२॥

अन्य चतुर युवक अन्य स्त्री का प्रतिबिम्ब दिखाकर अपनी नायिका को विश्वास दिलाता हुआ कह रहा था—"हे मुग्धे! क्या तुम सामने जलकेलि करने वाली अपनी सहेली को नहीं देखती हो?" ॥१३॥

"हे मुग्धे! यहाँ अतीव गहरा जल है अतः ऐसे तुम्हारा जल में प्रवेश उचित नहीं है" यह कह कर अन्य धूर्त मृगाक्षी को वक्षः स्थल पर चिपका कर जल में प्रवेश कर गया था ॥१४॥

जल केलि के लिए उत्सुक कोई रमणी प्रणयी पुरुष के द्वारा आँचल पकड़ने पर भी उसकी ओर अवलोकन करने के रस में डूब जाने के कारण रुक गई थी और वैसे ही नायक भी ठहर गया था ॥१५॥

स्त्रियों के कुचमण्डलों से आहत-सा तालाब मानो चेतना रहित हो गया था लेकिन फिर भी उसमें हल-चल मच गई थी। इसका कारण रस में डूब जाना ही था ॥१६॥

सरोवर के जल ने भी पहले वधुओं के जघनस्थल ही उनके अंगों के कारण चपलता धारण करते हुए स्पर्श किये। उसके बाद उनके कुच मण्डलों से क्रीड़ा की। हाय ! जड़ वस्तुओं के भी स्पर्श का क्रम कहाँ पहुँच जाता है ॥१७॥

घुटनों पर्यन्त आने वाला सरोवर का जल तुरन्त ही कण्ठ तक आ गया था और मानो स्त्रियों के अङ्गों के लावण्य के द्वारा उसमें प्रचुर प्रफुल्लता आ गई थी ॥१८॥

जन्म से लेकर अब तक मकरन्द बाँटने वाले कमलों को त्याग कर भौंरे मृगाक्षियों के मुख मण्डलों के पास पहुँच गये थे। मलिन बुद्धि वाले व्यक्तियों में विवेक कहाँ होता है? ॥१९॥

कमलनालों के पास स्थित चक्रवाक पक्षी न तो कमलों को छोड़ ही रहे थे क्योंकि चंचल नेत्रों वाली स्त्रियों के मुख कमलों को उन्होंने चन्द्रमा का बिम्ब समझ लिया था ॥२०॥

स्त्रियों के स्तनों से जोर-जोर से टकराने वाले सरोवर के जल ने पर्वत के रास्ते अपने जन्म के समय बहने वाले किनारे पर तेज बहाव वाले जल को भी विस्मय में डाल दिया ॥२१॥

प्रियतमा के मुख मण्डल पर छिड़कने के लिये अपनी अंजलि में लिए हुए जल को उस समय प्रिय ने औचित्य भंग होने के डर से यों ही छोड़ दिया जब उसने उस जल में प्रिया का प्रतिबिम्ब देखा ॥२२॥

बदले में जल की बौछार करने वाली समर्थ मदिराक्षी के द्वारा प्रियतम को भी भिगो दिया गया और तलवार चलाने वाले योद्धा के द्वारा जैसे तीर चलाने में कुशल योद्धा का कण्ठ पकड़ लिया जाता है वैसे ही भुजा से उसका कण्ठ भी आवृत कर लिया ॥२३॥

विकसित कमल जैसे मुख वाली तरुणी के बदन को प्रियतम ने उन्मत्त होकर पान कर लेने पर मानो दुःख से भौंरे रुदन करने लग गये और काले-काले बालों से गिरने वाले जलकणों के बहाने से मानो आँसू गिराने लगे ॥२४॥

स्त्रियों ने जोर से मुख बंद कर दंत पंक्तियों के छिद्रों से जो जल धाराएँ छोड़ी उनसे ही जल के अस्त्र वाले कामदेव ने पति के मानरूप अग्न्यस्त्र की शांति के लिये

सफलता प्राप्त की ॥२५॥

गले तक जल मध्य डूबी हुई गजगामिनी के प्रतिबिम्ब को जल में देखकर दोनों की मुख शोभा की हानि नायक के द्वारा जान ली गई। दो कमलों के मध्य स्थित बदन रूपी कमल अधिक सुन्दर था ॥२६॥

"इन्होंने हमारे नयनों की छवि चुरा ली है "ऐसा सोचकर कुपित हुई नायिकाएं कमलों को सरोवर में डुबाती थीं और पुनः बाहर निकालती थीं ॥२७॥

जल में अपने प्रतिनिधि स्वरूप वर और वधू में उलटे रूप से रुचिरता की विशेष प्राप्ति के कारण मानों का कामदेव ने वधू का आश्रय ले लिया था और वर का रति ने। परस्पर कामा सक्त हो गये थे ॥२८॥

हाथों से जल की बौछारें नायिका की ओर फेंकते हुए किसी नायक ने छल से दूसरी ओर मुख करके अनुराग सहित वैसे ही अन्य नायिका को चूम लिया था जैसे कि भौंरा कमिलिनी का चुम्बन करता है ॥२९॥

रमणियों के प्रस्तर खण्ड की भांति कठोर स्तनों पर से नीचे गिरने वाले जल की फेन राशि मानों सोने के हार के ऊपर मोतियों की लढ़ीसी चमक दे रही थी ॥३०॥

बल की बौछारों से उबटन के हट जाने पर पतियों द्वारा प्रदत्त नखक्षत स्त्रियों के शरीर पर मानों सौतों के हटाने के लिए मंत्राक्षरों की भांति शोभा दे रहे थे ॥३१॥

टूटे हुए हार से भी जल से भरे हुए छिद्रों से मोती मानो नीचे नहीं गिर रहे थे क्योंकि सुन्दर नेत्र वाली स्त्रियों के स्तनयुगल के स्पर्श के आनन्द को कौन रसिक छोड़ते हैं? कोई भी नहीं ॥३२॥

जल पूर्ण होने के कारण मृगाक्षी के चंचल चरण कमल में स्थित नूपुर भी मौन धारण किये हुए था ठीक उसी प्रकार जैसे कि यक्ष वट वृक्ष पर उपलब्धि पर्यन्त चढ़ा रहा ॥३३॥

गले तक जल में विहार करती हुई शृंगार प्रिय तरुणी ने यह "खिला हुआ कमल है" ऐसा सोचकर अपने मुख को देखकर मन में विश्वास कर लिया और मन में निर्मल भाव धारण कर लिया ॥३४॥

पति द्वारा जल के भीतर हाथ से जंघाओं के स्पर्श कर लेने पर डर से कांपती हुई तरुणी का आश्चर्य से पति का चूम लेना भी सखियाँ देख रही थीं ॥३५ ॥

प्रेमी के द्वारा दंत पंक्ति के छिद्रों से की हुई जल की बौछार से सिक्त तरुणी प्रीति की पुलकावलि से भर गयी थी और मानो कामबाणों से विद्ध सी शोभा देती थी ॥३६ ॥

जल विहार के कारण निर्गन्ध हुई फूलमाला को शशिवदना स्त्री छोड़ नहीं रही थी। अपने से अधिक गुणवान् व्यक्ति सरलता से छोड़ा नहीं जा सकता। फिर जीवन में निरत व्यक्ति का तो कहना ही क्या? ॥३७ ॥

प्रिय के द्वारा कमल नेत्र वाली प्रियतमा के काम केलि में कटि-वसन के खींच लेने पर कमलिनी ने वस्त्रों की भांति अपने पत्ते देकर मित्रता निभाई ॥३८ ॥

बार-बार जल की बौछार करते हुए पति द्वारा तरुणी की जो उदासीनता दूर कर दी गई थी वह उसने प्रेम व्याकुल तरुणी के वदन कमल के पास आकर प्रकट कर दी थी ॥३९ ॥

किसी दूसरे धूर्त नायक ने "मेरी प्रिया के मुख को मारने को कमल उठाया है" यह सोचकर चुम्बन करते हुए विस्मय से दूसरी ओर मुख करने वाली नायिका को भी हँसा दिया था ॥४० ॥

जल विहार करने वाली रमणियों के नूपुर झंकार भी नहीं कर रहे थे। सदाचार का ज्ञाता कौन व्यक्ति मूर्खों के मध्य अपनी महिमा का बखान करेगा? कोई नहीं। ।४१ ॥

रमणियों के द्वारा आपस में आनन्द के कारण छोड़े हुए सुमनों के गुच्छों द्वारा सरोवर के जल में अत्यधिक शोभा प्राप्त कर ली गई। फूल कहाँ पर शोभा के नहीं होते? सर्वत्र होते हैं ॥४२ ॥

पति-पत्नी दोनों ही आपस में जल की बौछार कर रहे थे। कमल के समान मुख वाले दोनों ही मानो प्रेम पान कर रहे थे और परस्पर तिरछी निगाहों से अवलोकन कर रहे थे ॥४३ ॥

खिले हुए कमल समूह में यदि कोई दूसरा व्यक्ति कमलनेत्री स्त्री के मुख कमल को

पहचान लेता तो वह विमुग्धा नायिका कमल के रससिक्त होने पर नहीं हंसती ॥४४ ॥

खिले हुए कमल जानकर उस नायक द्वारा उसका चुम्बन ले लिया गया और अधरों पर दशनों से काटी हुई भी मुझे तो भौंरे के द्वारा काटा गया है ऐसा सोचकर दूसरी ने इस तथ्य को नहीं जाना ॥४५ ॥

चंचल नेत्र वाली स्त्रियों के अधरों का अलक्तक का लाल-लाल रंग जल के द्वारा दूर कर दिया गया था किन्तु पति के द्वारा किये गये नखक्षतों के चिह्नों से उसका राग और अधिक परिवर्तित कर दिया गया था ॥४६ ॥

जल के द्वारा नेत्रों का हटाया हुआ अंजन भी चंचल नेत्र वाली तरुणियों का आरक्षण ही होता है। टूट जाने पर भी क्या जड़ वस्तुएं अपने सौन्दर्य तत्व से हीन हो जाती है—कभी नहीं ॥४७ ॥

किसी मीनाक्षी ने निर्मल जल में अपने मुख कमल के प्रतिबिम्बित होने पर जब अपने नेत्र द्वय देखे तो उसने कमल के ऊपर बैठ मछली जानकर उसे पकड़ना चाहा और ऐसा करने वाली उसने अपने प्रिय के मन को मोह लिया ॥४८ ॥

गंभीर जल में जलकेलि में मानों रमणियों के नेत्रों के काजल से कृष्णवर्ण और उनकी हंसी से श्वेत बनाये हुए जल से ऐसा मालूम होता था मानों यमुदा नदी गंगा के जल में मिल गई हो ऐसा युवक मानते थे ॥४९ ॥

हे सुतनु ! आओ तुरन्त। मैं तुम्हें कमलिनियों में छिपी हुई तुम्हारी सखी को दिखाता हूँ।" इस प्रकार अपनी प्रिया को धोखा देकर किसी नायक ने एकान्त में जाकर उसका आलिंगन कर लिया ॥५० ॥

खूब जल क्रीड़ा करने के कारण कमलों से पूर्ण सरोवर के जल में काले काले बालों की छवि वाले भौरों से व्याप्त कमलों की सी शोभा रमणियों के मुखों ने प्राप्त कर ली थी ॥५१ ॥

चारों ओर निष्पन्द भाव से स्थित तरुणियों के चंचल जल में खूब हिलते हुए व अनावृत कुचमण्डल चक्रवाकों की भांति मानों आनन्द प्राप्त कर रहे हैं जिन्हें जल में अपनी कामिनियों (चक्रवाकियों) से मिलाप प्राप्त हो ॥५२ ॥

जल केलियों में प्रचुर मात्रा में जल की बौछारों से व्याकुल एवं तिरछी गर्दन करने वाली अन्य नायिका ने जब अपने पीछे स्थित जल में अपने केशपाश को देखा तो उसने जल के सर्पों की शंका के डर से अपने प्रियतम का आलिंगन कर लिया और प्रिय ने भी अपनी तलवार की भांति इसे (केशपाश को) अपने हाथ से खींच लिया ॥५३ ॥

सरोवर के जल की राशि मानो रमणियों के पतियों की भांति आचरण कर रही थी जो कि तुरन्त ही केश पाश को खिसका देती थी, नेत्र कमलों को चूम लेती थी, स्तनों पर लोट जाती थी, नाभि के निम्न भाग के पास (जघनस्थल) आ जाती थी और चरणों का भी स्पर्श करती थी ॥५४ ॥

वधुओं की जल क्रीडा रति के आनन्द के लिए मानो प्रवेश द्वार सी बन गई थी जो केश पाश को खिसका देती थी, नेत्रों के अंजन को बहा देती थी, अधरों के राग को समाप्त कर देती थी पुलकावलि समस्त अंग भर देती थी, शक्ति को नष्ट कर देती थी और गालों तथा स्तनों पर उत्कीर्ण पत्र लेखा को भी नष्ट कर देती थी ॥५५ ॥

चंचल नेत्र वाली स्त्रियों के उन्नत जघनों, स्तनों के समूहों से तरङ्गों को उछालता हुआ पानी उसी प्रकार से भङ्गियाँ प्राप्त कर रहा था मानों कोई नाव तुरन्त ही जल में गमन करती हुई पानी को चीर देती है ॥५६ ॥

क्रीडा करते हुए दम्पतिगण तब जल से बाहर आ गये थे। उनकी उत्सुकता से उठे हुये कदमों की ध्वनि पक्षियों के पंखों की आवाज को भी परास्त कर रही थी। वे आपस में अपनी हथेलियों से तालियाँ बजाकर लक्ष्य की उपलब्धि को सूचित कर रहे थे ॥५७ ॥

स्त्रियों के जल से गीले वस्त्र स्वच्छता के कारण मानों दिखाई नहीं देते थे। वे निश्चित ही अपने को त्याग देने के भय से उनके शरीर की कान्ति में समा गये थे ॥५८ । ।

पतली कमर वाली स्त्रियों के अङ्गराग के धुल जाने पर भी उनके शरीर का सौन्दर्य कम नहीं हुआ था। स्वाभाविक सुन्दरता वाले व्यक्ति का आभूषण तो केवल मङ्गल प्रकट करने के लिए ही होता है ॥५९ ॥

जल से निकलती हुई तरुणियों का लम्बा केश पाश मानो स्वर्ण की पट्टिका पर उसकी परीक्षा लेने हेतु लगाई हुई कसौटी की भांति शोभा दे रहा था ॥६० ॥

इसी प्रकार जल से निर्गत तरुणियों का केशपाश वैसे ही शोभा दे रहा था मानो कि सुमेरु पर्वत की चट्टान पर आराम से बैठे हुए मोर का पंख समूह हो ॥६१ ॥

स्त्रियों के कोमल वस्त्रों से सुखाये गये शरीर अब कामदेव के उन तीक्ष्ण किये हुए शस्त्रों की भांति लग रहे थे जो मानों समस्त त्रिलोकी को जीतना चाह रहे हों ॥६२ ॥

खुले हुए स्त्रियों के नयन रूपी नील कमल, जिनके पास भ्रू-लताओं रूपी तरंगों की शोभा थी तथा जिनके पास खुले बालों रूपी सुन्दर शैवाल शोभित थे—(ऐसे वे) सरोवर की शोभा को परिवर्द्धित कर रहे थे ॥६३ ॥

"हमारी वेशभूषा को चुराकर यह चोर शत्रु की भांति जल में जाना चाहता है" ऐसा सोचकर मानो कुपित नारियों ने पलट कर अपने केश राशि को बांध लिया था ॥६४ ॥

याचकों के प्रति दया करके (दान देकर के) श्री जैत्रसिंह का पुत्र हमीर इस प्रकार अद्वितीय जल क्रीडा करके सहचरों को अपने अपने गृहों के लिये रवाना करके अपने महल में आ गया ॥६५ ॥



सप्तम सर्ग

अब सूर्य अस्ताचल की उन्नत चोटी को अपनी किरणों से भूषित कर रहा था (अस्त होने को व्याकुल था) मानो उसने चंचल नेत्रों वाली नारियों के रात्रि समय आने के कारण काम लालसा से उत्तेजित मानस को पहचान लिया था ॥१ ॥

हल्की हल्की कान्ति वाला चन्द्रमा भी साथ आकर मानो कह रहा था कि भाग्यवश आई हुई विपत्ति को कोई भी व्यक्ति हटाने में समर्थ नहीं होता ॥२ ॥

विद्वानों ने मेरा नाम "पतङ्ग" रख दिया है तो (शलभों) पतङ्गों का नाम इन्होंने क्या रखा होगा" ऐसा सोचकर विद्वानों पर क्रुद्ध होता हुआ सूर्य मानो रक्तिम देह से मुक्त हो गया था ॥३ ॥

निरन्तर आकाश में भ्रमण करने के कारण अधिक श्रम करने वाला सूर्य अब मानो जलकेलि की इच्छा करता हुआ समुद्र में डूब गया था ॥४ ॥

समुद्र में कुछ-कुछ डूबा हुआ सूर्य मण्डल ऐसा मालूम हो रहा था मानों विष्णु भगवान् के कर कमलों में लक्ष्मी का स्तन शोभा दे रहा हो ॥५ ॥

सूर्य के जो कि समस्त संसार का लोचन है—पश्चिम दिशा में जाकर जल में डूबा जाने पर अस्त हो जाने पर यह उचित ही है कि तुमने भी समस्त अंधकार को। अज्ञान को। इस संसार में वश में कर लिया ॥६ ॥

अपने हृदयनाथ सूर्य के आँखों से ओझल होकर कहीं चले जाने पर दिन की लक्ष्मी के साथ प्रेम के कारण पश्चिम दिशा भी प्रेम रूपी अग्नि में प्रवेश कर गई। पश्चिम दिशा में लालिमा छा गई ॥७ ॥

हृदयनाथ सूर्य के कान्ति विहीन होने पर और चिन्त्य दशा में प्राप्त होने पर शोक रूपी

अंधकार भी भौंरो के समूह के बहाने से कमलों के हृदय में मानों प्रवेश कर गया ॥८ ॥

भाग्यवश सूर्य की आपत्ति को देखकर तुरन्त ही श्रीविहीन होकर कमल संकुचित हो गये। यह बात मित्रों के लिए उचित ही है ॥९ ॥

"यह चन्द्रमा मृग रूपी कलङ्क को धारण करने वाला है और इसकी वधू रात भी मलिन हृदय वाली हैं, तो इन्हें क्यों देखूं" यह सोचकर कमिलिनी ने भी कमलरूपी नेत्र बन्द कर लिये ॥१० ॥

चन्द्रमा की चन्द्रिका का पान करके उत्साहयुक्त पक्षियों के समूह मानों संसार विजय की इच्छा से रात्रि आने पर सूर्य के सारे ही आतप को पी गये ॥११ ॥

फिर प्राप्ति न होने के डर से भी सूर्य के तेज को उन्होंने पी लिया क्योंकि चक्रवाक पक्षियों के जोड़े भी अब उनके साथ नहीं बैठ पायेंगे ॥१२ ॥

रात्रि में चक्रवाकी के विरह से युक्त चक्रवाक की चंचल चोंच में स्थित मृणालदण्ड ऐसा शोभा दे रहा था मानों वह स्त्री विरह के कारण निकलने वाले अश्रुसमूह को रोकने के लिए साँकल (अर्गला) का काम रहा हो ॥१३ ॥

दोनों साथ साथ रहने वाले चक्रवाक के जोड़े का मृणाल का खण्ड पहले किसी प्रकार की समानता नहीं रखता था (वे बड़े प्रसन्न थे साथ साथ रहकर) किन्तु अब साथ-साथ विलास करने वाले इन पक्षियों को भाग्यवश समुद्र का दर्शन नहीं हो रहा था ॥१४ ॥

रति-पति कामदेव ने सारे संसार को मृगाक्षियों के वश में करने हेतु ही दिन के अस्त होने के बाद मुरज-वाद्यों की ध्वनि के बहाने मानो आदेश दे दिया था ॥१५ ॥

रात्रि में प्रकट होने वाली अंधकार की राशि अब पहले नीच व्यक्तियों को वश में करने लग गई—(अंधेरा छा गया) यह तो विजेता का प्रथम गुण है कि वह सबको अपने वश में करने का उद्योग करे ॥१६ ॥

प्रत्येक क्षण आँखों की सी क्रीडा करते हुए जुगुनु अत्यधिक शोभा दे रहे थे और मानो वे कामदेव के बाणों से विद्ध तरुणियों के लिये जलते हुए दुःख के अग्नि कण

थे ॥१७॥

कामदेव के द्वारा अनेक युक्तियों से जार पतियों से संगम प्राप्त करने वाली स्त्रियाँ मानो वर प्राप्त करके अपने चातुर्य के कारण भ्रमण करती हुई भी दिखाई नहीं देती थी ॥१८॥

नित्य ही मेरे बार-बार अंधकार को नष्ट कर देने पर भी यह कहाँ से आ जाता है। ऐसा सोचकर मानो क्रोध से अत्यन्त रक्तवर्ण होकर के चन्द्रमा उदित हो गया था ॥१९॥

अमृत उत्पन्न करने वाला चन्द्रमा अंधकार को नष्ट करने के लिए धीरे-धीरे जब ऊपर उठा तो उसका कलंक रूपी मृग मोर को दिये हुए घास को खाने के लिए ललचाने लग गया ॥२०॥

सारे संसार को छेद देने से उत्पन्न रक्त से सौ कामदेव के बाणों के घर्षण से मानो शशी का बिम्ब जो लाल-लाल हो गया था उसने आकाश की शोभा को बढ़ा दिया तथा स्वयं चन्द्रमा की शोभा की भी वृद्धि कर दी ॥२१॥

चन्द्रमा क्रकच पुष्पों (करीर पुष्पों) के केसर की भांति कुछ कुछ पीत वर्षा लम्बी-लम्बी अपनी किरणों के बहाने से मानो हिम की रेत के कणों को रात्रि रूपी प्रियतमा के पीछे पीछे फेंक रहा था ॥२२॥

हृदय के मध्य में स्थित स्पष्ट नजर आने वाले अपने कलंक के बहाने से चन्द्रमा ने रात को अपने बिम्ब में धारण करके अत्यधिक प्रेम के कारण शिवजी की उस छवि पर विजय प्राप्त कर ली थी जिसमें कि उन्होंने अर्धाङ्ग में अपनी वल्लभा पार्वती को धारण कर रखा था ॥२३॥

अपनी गोद में स्थित कलंक के बहाने से मानो कटाक्षों से देखी जाती हुई लक्ष्मी ने कमलों को छोड़कर चन्द्रमा का आश्रय ले लिया था ॥२४॥

अपने प्रियतम चन्द्रमा से मिलने के लिए मानो रात्रि ने निर्वस्त्र होकर अद्‌भुत भूषण के रूप में सघन तारों की पेटी के बहाने से नवीन मोतियों की जाली धारण कर ली थी ॥२५॥

चिरकाल के बाद मिलने के कारण जो चन्द्रमा ने अपनी कान्ति (चांदनी) को कठोर आलिंगन दिया था उससे उसकी मौक्तिक हार की लड़ियाँ मानो टूट गई थीं और उससे बिखरे हुए मोतियों से मानों आकाश में तारे रूपी मोती छिटक गये थे ॥२६ ॥

पुष्प बाणों को छोड़कर कामदेव ने उनके स्थान पर चन्द्र किरणों को मानो ले लिया था क्योंकि नवीन-नवीन वस्तु चाहने वालों के लिए यह उचित ही है और परिचित व्यक्ति से शत्रुता बड़ी कठिन होती है ॥२७ ॥

चन्द्रमा की किरणों के समूहों से व्याप्त संसार के विषय में ऐसी तर्क की पंक्ति प्रारंभ होई गई थी कि कहीं यह संसार अमृत से तो नहीं सींचा जा रहा है या चन्दन से अथवा हमीर राजकुमार के यशों के समूहों से तो सिंचित नहीं हो रहा है ॥२८ ॥

कमलनेत्रियों और अनेक भोगों में लिप्त स्त्रियों के रतिमन्दिरों में दीपक ऐसे शोभा दे रहे थे कि मानो वे रति की विधि में विद्वत्ता धारण करते हों ॥२९ ॥

"प्रेमियों के साथ अब कामदेव से उत्पन्न महान् युद्ध होगा" ऐसा सोचकर कामिनियों ने अपने हृदय पर अनेक आभूषण रूपी काँटों को मानो धारण कर लिया था ॥३० ॥

मृगाक्षियों ने मानो कानों के कुण्डल, वेणी नेत्र कमलों का काजल आदि के बहाने से तुरन्त ही चक्र, तलवार, बाण, आदि शस्त्रों के समूह को धारण कर लिया था ॥३१ ॥

नव वधू की भांति किंकिणी ने मधुर शब्द करना प्रारंभ कर दिया यह सोचकर कि प्रियतम के पास आने पर मैं भी चुप रह कर क्या करूँगी ॥३२ ॥

अन्य कामिनी ने रति युद्ध के लिए नवीन वस्त्र से मानो अपने कुचद्वय को ढँक लिया था क्योंकि यौवन की गर्मी को सुखा देने वाले अच्छे चन्दन का उसने लेप कर रखा था ॥३३ ॥

नवोढ़ा वधू ने मधुर शब्द की घुंघरुओं की किंकिणी एवं मणिमय करधनी के बहाने से रति के लिए पति के भय से स्मर मन्दिर को (योनिगह्वर को) मानो ऐसा दुर्ग बना लिया था जिसके चारों ओर पहरेदार चौकसी कर रहे हों ॥३४ ॥

तरुणियों के सिर पर लगे सुन्दर कान्ति वाले शिरोभूषण उसी प्रकार अत्यधिक शोभित

थे जैसे किं उनके मुखरूपी चन्द्रमा से निकलते हुए कान्ति समूह हैं ॥३५ ॥

मृगाक्षियों की सरल काजल की छवि लिपि के बहाने से संसार को वश में करने के रति के काम में क्या अपने योद्धाओं के आगे रहने की वृत्ति को नहीं कहती थी? अवश्य कहती थी ॥३६ ॥

यह सोचकर कि "चन्द्रमा प्रतिबिम्बित होकर चिह्नित मुख को नही जान ले" तरुणियों ने चन्द्रमा को भी परास्त करने वाले कपोलों पर पत्रलेखाएँ कर दीं थीं ॥३७ ॥

नैसर्गिक पाटलिमा के कारण सुन्दर अधरों पर जो अलतक राग स्त्रियों ने लगा रखा था वह क्या चन्द्रमा में श्वेत बनाने के श्रम करने की क्या भ्रान्ति उत्पन्न नहीं करता था? अवश्य करता था ॥३८ ॥

स्त्रियों के स्तनों के ऊपर जो सखियों ने मकरी के आकार के जो चित्र बनाये थे वे ऐसे शोभा देतें थे मानों वे मकर केतु (कामदेव) के स्तंन की सुगन्ध के अनुमान कराने वाले ऊँचे नीचे विलास पथ थे ॥३९ ॥

इन दोनों नूपुरों के शब्द को सुनकर प्रियतम रति के प्रति आदर भाव समाप्त नहीं करता है" यह सोचकर चरणों से नुपुरों को दबा देने पर वे मधुर शब्द करके अपने आप को धन्य मानते थे ॥४० ॥

वास्तव में दो वस्तुओं के जोड़ने का कार्य सुई के बिना सर्वोत्तम नहीं हो सकता, यह मान कर ही स्त्रियाँ भी प्रिया-प्रियतम दोनों के संगम के कार्यों में दूतियों की अभिलाषा करती थी ॥४१ ॥

इन रमणियों के ऊपर अपने प्रियतम अर्थात् कामदेव को अनुरक्त देखकर ईर्ष्या रहित होकर रति भी पतली कमर वाली स्त्रियों का ही आश्रय ले रही थी क्योंकि बलवान् व्यक्ति के साथ बल प्रदर्शन उचित नहीं होता ॥४२ ॥

अब एकान्त में मुख कमल रूपी दर्पण में नयनों के माध्यम से शरीर की शोभा निरखने वाली प्रमदाएँ कामरस के उदित हो जाने के कारण प्रियतम के आगमन के लिए अधिक उत्सुक हो रही थी ॥४३ ॥

अम्बुजों की शोभा के साथ समानता का भाव चंचल नेत्रों वाली स्त्रियों का अन पतियों

के लिए कम हो गया था और क्षण भर के लिए नीलकमल के साथ साम्यभाव की अधिकता हो गई थी ॥४४ ॥

प्रेमियों के द्वारा कटाक्षों से देखी गई ललनाएं स्पष्ट दीखने वाले स्वेद कणों से युक्त होकर वैसे ही शोभा देती थी मानो कि तीक्ष्ण पलकों से छिदे होने पर शरीर से कामदेव का प्रारंभिक रस बिन्दु समूह के रूप में बह रहा हो ॥४५ ॥

जैसे जैसे ही मधुर वाणी वाली रमणियाँ अपने सीधे कटाक्षों को प्रियतमों के ऊपर फेंकती थी वैसे वैसे ही निर्दय हृदय कामदेव धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाता था ॥४६ । ।

चरणों तक आये हुए हार के बहाने से बिछौनों ने भी मानो अक्षमालाएं लेकर वेश्या पतियों के जादू टोने के भय से जप करना शुरु कर दिया था ॥४७ ॥

वह रति के समय मुझे देखेगा और मैं उसे अनन्य भाव से देखूँगी" यह सोचकर प्रियतमा ने भी उज्ज्वल वर्तिका वाले दीपक को दूर रख दिया ॥४८ ॥

'अरी? क्षीण कटि वाले प्रिये! यह क्या करती हो।" ऐसा प्रिय के कहने पर रात्रि समय में अपने समस्त मान को छोड़ दिया था ॥४९ ॥

प्रिय के समागम की सूचक बाई आँख के फड़कने से मुदित मन वाली अन्य प्रिया ने हृदयेश के लिए भेजी गयी सखी को भी क्या रास्ते से ही नहीं लौटा दिया? अवश्य लौटा दिया ॥५० ॥

"एक लव (निमेष का छठा भाग) भी धैर्यहीन व्यक्ति के लिए जिसके बिना करोड़ युग शतों जैसा हो जाता है उस हृदय चोर मानी व्यक्ति का मान ग्रहण करना कौनसा औचित्य धारण करता है (मान नहीं करना चाहिये) ॥५१ ॥

खुशामद करता हुआ भी प्रियतम यदि उपेक्षित होकर के आप को कुलटा स्त्री की भाँति छोड़ दें तो क्या तुम्हारे कलङ्क का वाद्य, हे कोप करने वाली! क्या नगाड़े का अनुकरण नहीं करेगा? (कलंक प्रत्यक्ष हो जायगा) ॥५२ ॥

"हे विलासिनी! रति करने वाले व्यक्तियों का जो शत्रु नहीं है, उस मान का पोषण करने वाली" तुम शालीन ललना हो"—ऐसा कहने पर भी उसके मानस में तुम कैसी मालूम हो रही हो? ॥५३ ॥

यदि तुम अन्य तरुणी को पाकर के उसके साथ कलह करो तो वह फिर (प्रियतम) तुम्हारे हाथ पुनः नहीं आयेगा। पुरुष किसी से भी परिचय नहीं रखते ॥५४॥

"हे सखि! हृदयेश के पास जाओ। कोमल हृदयता को प्राप्त करो। खराब कठोरता का त्याग कर दो। हृदयनाथ के लिए कठोरता केवल अपने आपके लिए मूर्खता के रूप में ही फलती है ॥५५॥

"हे सखि! यदि मेरे वचन को तुम नहीं सुनोगी तो तुम्हारा हृदय पश्चात्ताप को प्राप्त होगा" इस प्रकार से अन्य तरुणी ने अपनी सखी को समझा करके पति के कक्ष में पहुँचा दिया ॥५६॥

वह धूर्त यदि आज आ जायगा तो दोनों भुजाओं से उसे रति मन्दिर में बाँधकर ले जाकर ऐसा पहले मारूंगी जिससे कि वह दुबारा नहीं आयेगा ॥५७॥

हृदय कक्ष में इस प्रकार उत्पन्न मनोरथ की लता को अन्य शालीन तरुणी ने बड़े मोद से तुरन्त ही सफला (फल सहित) कर दिया ॥५८॥

"हे सखि! अनुनय करने वाले एवं हर्षयुक्त प्रियतम से वैसे ही बात करना, जिससे कि वह पास में आ जाय, न कि क्रुद्ध हो जाय" ऐसा समझा कर अन्य तरुणी द्वारा सहेली को भेजा गया ॥५९॥

यदि वियोग में ऐसी व्यथा होती है तो मैं हृदय में क्यों विस्मय धारण करूँ" यह सोचकर दूसरी तरुणी ने सन्ताप प्राप्त करके बार बार दीन नेत्रों से अपनी सखियों को देखा ॥६०॥

"हे प्रियतम! आओ "हे सुन्दर भौंहों वाली। मान रहित तुम्हारा हृदय हो गया क्या? "हे स्वामिन्! फिर कामदेव की कीर्ति ही कैसी? "वह तो (काम) मेरे अवलोकन से ही पैदा हुआ है" "वह भी तुम्हारा ही है" ऐसा कहकर प्रियतमा हृदयेश्वर की ओर हँस दी ॥६१॥

"नित्य ही सैकड़ों बार मना करने पर भी बार-बार यहाँ किस आशा से आ जाते हो" ऐसा बनावटी क्रोध वाली अन्य नायिका ने शीघ्रता से बिछौने पर अपने स्वामी को डाल दिया ॥६२॥

वस्त्र को खींचने वाले प्रियतम के दोनों हाथ तरुणी ने लज्जा से पकड़ लिये, स्वयं ही फड़कते वचनों से स्वयं ही निर्वसना हुई। अचानक अब यह क्या कर सकती थी? ॥६३॥

पतियों को भी अधीर करने वाले रत से परिपूर्ण चञ्चल नेत्र वाली स्त्री के स्तनरूपी घटों के ऊपर मुख वाली तराजू की तरह उसके हाथ रूपी कमल शोभा दे रहे थे (स्तनों को हाथों से ढक लिया था) ॥६४॥

स्त्रियों के नयननिधि प्रियतम के रहने पर यदि उनके हृदय में मान थोड़ा सा भी आ जाय तो मकान के मालिक के आने पर जैसे दूसरे के घर में कोई ठहर नहीं सकता वैसे ही कौन अधिक देर तक रह सकता है? कोई नहीं ॥६५॥

पति के स्पर्श करने पर हृदय में स्थित कामदेव अन्य कामिनी को भी विस्मयजनक ढंग से प्रभावित कर देता था और निःसन्देह उसकी चोली की सीवनों को भी तोड़ देता था ॥६६॥

तुरन्त ही शक्ति के क्षय होने के कारण प्रियतमा के पीछे-पीछे मानो प्रियतम अग्न्यस्त्र छोड़ देता था और वह प्रियतमा बहते हुए अश्रुओं के समूह के बहाने से मानो जलयुक्त अग्न्यस्त्र के विरोधी शस्त्र का सन्धान करती थी ॥६७॥

"तुम्हारा मुख कमल है और मेरा चन्द्रमा, तो इन दोनों का कामदेव द्वारा कराया गया मेल हो जावें" ऐसा कहते हुए प्रियतम ने अपना और प्रिया के मुख का संयोग कर दिया ॥६८॥

तुम्हारे और मेरे—अधर पान करने वाले दोनों के ही किसी के भी व्याकुलता नहीं होवे" यह सोचकर दोनों ह्री वैसे ही शोभा देते थे जैसे की वर और वधू दोनों ही अपने अधरों का पान करते हों ॥६९॥

जो दोनों अधर अमृत को भी परास्त कर रहे थे उन दोनों की ऐसी विजय होती रहे—यह विचार कर पति-पत्नी वैसे ही अधर पान कर विलास कर रहे थे जैसे कि चुम्बन में एकान्त में हमेशा उपरिस्थिता ही रहे ॥७०॥

प्रिय तथा प्रियतमा के लिये वे अधर अमृत से भी अधिकतम थे और उन दोनों का आधिक्य कहा नहीं जा सकता था। यदि जाना भी जाय तो एकान्त में अधरपान

की विधि के द्वारा ही अधरों की अधरता जाना जा सकती है ॥७१ ॥

यदि प्रियतमा का अधर अमृत नहीं होता है तो बोलिये, अमृत होता क्या है? इसको (अधरामृत को) पीने वाले इसके दोनों नेत्र आनन्दातिरेक से निमीलित हो रहे थे तथा कामीजनों के हृदय भी मुग्ध हो गये थे ॥७२ ॥

क्या यह स्पष्ट नहीं था कि विलासी लोग आँखे बन्द करके एवं सीत्कार शब्द के साथ मुखों के एक दूसरे के सम्मुख लाने के द्वारा प्रियतमा के अवलोकन की सुधा के रस के पान की सूचना दे रहे थे? ॥७३ ॥

नायक के यह वचन कि "मेरे द्वारा तुम्हारे हृदय का अनुसरण करने पर वह (अन्य स्त्री) तो स्वयं निकल गई, अतः उस पर दुःख मत करो" सुनकर किसी धैर्यशीला नायिका ने चकित होकर केवल यह कहा कि "बड़ी दया की है आपने।" ॥७४ ॥

प्रियतमा के अधर पल्लवों के चुम्बन के कारण नत मुख रूपी चन्द्रमा के बहाने से चन्द्रमा भी मानो ऐसा सोच रहा था कि मुझ में स्थित अमृत अधिक है या वैसा ही यह मुखचन्द्र का अमृत अधिक है?" ॥७५ ॥

एकान्त में अपने मुख युगल के संगम होने पर दोनों-प्रिय-प्रियतमा के मुख-मदिरा के पान करने पर दो-चन्द्रमाओं के ताप के लिए शीतलता प्राप्ति के लिए नायिका ने उदत्वरी (जल के लिए व्यग्रता करने वाली) होकर क्या वर्जना का कार्य धारण नहीं किया? (अवश्य वर्जना की) ॥७६ ॥

उषा काल में अपनी चाँदनी को हटाते हुए चन्द्रमा ने प्रियतमा के मुख का वेष धारण करके अधर पान के बहाने से क्या मुख रूपी कमल से विलासी व्यक्तियों को नहीं रोक लिया? (अवश्य रोक लिया) ॥७७ ॥

प्रेमी के द्वारा आलिङ्गित तरुणी ने जो पुलकावलि से युक्त शरीर धारण किया था (पुलकयुक्त हो गई थी) क्या इतने से भी उसने प्रंकट नहीं किया कि मैं तुम्हारे वश में हूँ, तुम जो चाहो, करो? ॥७८ ॥

कोई प्रेमी अपनी प्रियतमा को उपदेश देने के लिए सहेली की भांति स्वयं पटु होकर कहता था—"धैर्य धारण करो, डर का त्याग करो, बिना कारण ही लज्जा छोड़ दो और मुख ऊपर उठाओ।" ॥७९ ॥

जघन भाग (पेडू से नीचे का भाग) के संगम के लिए उत्सुक मन वाली हृदयेश को जानकर मृगाक्षी का वस्त्र स्वयं अलग हट गया था। क्या गुणी लोग उचित आचरण करने में मूर्खता प्रदर्शन करते हैं ॥८०॥

असहिष्णुता को तुरन्त दूर करने के लिए अन्य नायक ने उत्सुक होकर तरुणी के नीवीबन्ध को तोड़ दिया। कामदेव के अतिरेक होने पर के समय के विलम्ब को सहन कर सकता है? (कोई नहीं सहन कर सकता) ॥८१॥

रति कार्य समाप्त करने वाले अन्य नायक ने प्रिया के अधरों के रस को अच्छे रसायन की भांति पीते हुए फिर भी कामदेव के स्फुरण होने पर मन में जो आया वह क्या-क्या नहीं किया? ॥८२॥

सुरत व्यापार होने पर चंचल स्वर्ण कुण्डल के समान बने हुए चन्द्रमा और सूर्य भी मृग के समान नेत्र वाली कामिनी के पुरुष तुल्य पराक्रम को देख कर झिलमिलाते ही रह गये ॥८३॥

"प्रियतम सुरत व्यापार में अत्यन्त कुशल हैं" यह सोचकर अन्य प्रियतमा मानो प्रियतमा से सम्यक् नवीन नूपुरों की ध्वनियों से उसके गुणों की गरिमा का गान करती थी ॥८४॥

"मेरे मुख के तथा चन्द्रमा के भी दर्शन से भी तुम्हारे नेत्र तथा कमल भी बन्द हो गये हैं—यह क्या बात है" ऐसे जानकर अन्य प्रियतमा ने सोने को तैयार प्रियतम को अपने कुचों से मार दिया ॥८५॥

जब प्रियतमा के द्वारा कहा गया कि "तुम फिर उस (अन्य नायिका) के घर जाते हो, उसे देखते हो तथा उससे बातें करते हो" शठ नायक "नहीं, नहीं" ऐसा झूठमूठ ही सत्य सा उत्तर दिया ॥८६॥

हे उत्तम नायिके! इस व्यर्थ के क्रोध को छोड़ दो, तुम्हारा मेरे ऊपर जो मन है उसे जानता हूँ। अहा! देखो तुम्हारा अधर पल्लव मुझे चूमने के लिए उत्सुक होकर फड़क रहा है। "और फिर बाहर आये हुए तुम्हारे अनुराग को उषाः काल की अरुणिमा की भांति मेरे नेत्र हृदय में धारण करते हैं—यह कहकर कुपित प्रियतमा को भी अन्य नायक ने क्या नहीं हँसाया? (अर्थात् हँसा लिया।) ॥८७-८८॥

"बार बार सब सखियाँ रति के रस के लिए उत्सुक नवोढा से कहती थी—हे सखि! किसी भी प्रकार से नया सुरत व्यापार होगा और वहाँ यह प्रियतम मेरे साथ क्या रचना करेगा" ॥८९ ॥

वक्र ग्रीवा वाले पुरुषोचित किसी चातुर्य को प्रियतम के अन्दर देख लेने पर रति व्यापार को त्यागने में असहिष्णु अन्य प्रियतमा ने पुष्पों से सलज्ज दीपक बुझा दिया । ।९० ॥

"हे सुन्दर भौंहो वाली प्रियतमे! सुरत क्रीड़ाओं में यदि तुम्हारा कुछ भी अहित हो जाय तो मेरे लिए सदा ही शपथ है (मैं कसम खाता हूँ कि कुछ नहीं होगा)। यदि मुझे तुम सत्य वचन वाला नहीं मानती हो तो करके क्यों नहीं देख लेती हो ॥९१ ॥

ऐसा कहकर नई तरुणी को कामकला कोविद प्रियतम ने काम क्रीड़ा के लिए संबोधित किया। यहाँ दोनों ही अति चतुरता एवं अति विमुग्धता दोनों के ही सुख जानने योग्य हैं ॥९२ ॥

(ऐसा कह कर नई रमणी को अन्य प्रियतम ने काम विलास के लिए संबोधित किया तथा उसने निरन्तर काम की कहानियाँ गढ़कर और उन्हें सुना सुना कर कामदेव का अभिषेक कर दिया।) ॥९३ ॥

तरुणी ने शपथ पूर्वक प्रियतम को अत्यधिक काम क्रीड़ा के आघात के साथ सुरत व्यापार प्रदान किया किन्तु उसके पश्चात् सुरत रस को प्राप्त करके नव वधू उस शपथ को भूल गई। अहो! कामदेव के क्रीड़ा की महिमा कैसी विचित्र है ॥९४ ॥

अधर चुम्बन में, कुचमर्दन में, नखों व दांतों के क्षत करने में एवं आलिंगन करने में कहीं पर कामी जनों की बुद्धि सावधान व्यक्तियों की भांति कुण्ठित नहीं होती ॥९५ ॥

अब भी प्रियतमों के द्वारा सुरत व्यापार के लिए मन में विचार किया गया, युवतियों ने भी वैसा ही आचरण किया। एक ही व्यक्ति के मन में रतिपरक भाव होने पर यथार्थ रूप में रति का रहस्य वह कैसे प्राप्त कर सकता है? ॥९६ ॥

यहाँ संसार के सुरत से उत्पन्न सुख सर्वोत्तम एवं महान् सुख है। ऐसे ही एकान्त में अनुकूलता होना भी सुख है। इच्छानुसार एकान्त में कामकेलि भी तथा साथ साथ ही प्रेम भी हो तो फिर कहना ही क्या है ? ॥९७ ॥

अन्य प्रियतमा को नवीन सुरत के उत्सव के कारण भय की आशंका से अपने प्रियतम का हृदयालिंगन करके झूठ-मूठ की आँखें बन्द करके सोई ही रही जब कि सखियों ने उसे जगाया ॥९८॥

हाथ हिलाने के बहाने से नववधू जिसके अधर पल्लव प्रियतम के द्वारा क्षत किये गये थे—वह काम केलि से रहित बीते दिनों पर क्या बार-बार दुःख नहीं करती थी? (अवश्य दुःखी होती थी।) ॥९९॥

रति क्रीड़ा करते हुए अन्य नायक कुच युगल की अत्यधिक निन्दा करता था क्योंकि उनके उन्नत होने के कारण चुम्बन में विघ्न आ जाता था, वधू की निन्दा नहीं करता था। वह समय ही वैसा होता था ॥१००॥

अन्य नायक स्खलन के कारण रति क्रीड़ा की समाप्ति पर तरुणी के स्तन रूपी पर्वत के ऊपर गिर कर भी सामने मूर्च्छित नहीं होता था बल्कि पुनः रमण करने को अधिक मजबूत हो जाता था ॥१०१॥

जो प्रेमी व्यक्तियों का हृदय कामदेव के पुष्पबाणों से ही छेद दिया गया था, उसने प्रियतमा के स्तन रूपी पर्वत के महान् आघातों को भी सहन कर लिया, यह अद्भुत बात ही है ॥१०२॥

'तरुणी का दोनों भुजाओं से ढका हुआ मुख मानो दीप्ति मण्डल से परिवृत्त चन्द्रमा था और वह हृदयनाथ के चञ्चलता युक्त वीर्य के लिए क्या अपशकुन के लिए नहीं था? ॥१०३॥

ये कामी लोग रति के आनन्द को परमात्मतत्त्व के रस से भी अधिक क्यों नहीं कहते? यदि परमात्मतत्त्व का ज्ञाता सुखी है तो ये दोनों भी रति ज्ञाता सुखी ही हैं ॥१०४॥

एकान्त में कमलमुखी और प्रियतम दोनों ही बाल सँवारते हुए रति उत्पन्न करने को आपस में एक दूसरे का आलिंगन करते हुए शोभा दे रहे थे। ॥१०५॥

ग्रीवा के ऊपर कंघी से सँवारे हुए बाल वाले दो मुख मण्डलों के बहाने से प्रणव (ॐ) से सम्पुटित यन्त्र की तरह दो दीप्ति युक्त वृत्त रति की कृषि के लिये ही मानो स्थित थे ॥१०६॥

हे तरले ! प्रियतम के मुखरूपी चन्द्र का चुम्बन करने को तुम बड़ी उत्सुक हो। किन्तु यह क्या अनुचित है जो कि नवीन नायिका का मुखकमल परे चला गया ? ॥१०७॥

रति की समाप्ति पर आलिंगन से अलग होने के इच्छुक प्रियतम को जानकर प्रियतमा ने अपनी दोनों जंघाओं से पति का निपीड़न किया और हूँ हूँ' ऐसा कहकर सस्मित वचन कहे ॥१०८॥

प्रियतमा के अधरों का पान करते हुए प्रियतम ने जो नयनों को बन्द कर लिया तो क्या सचकित उसने सामने सुधा को देखने के लिए ही तो कुछ कहा था ? ॥१०९॥

"सुरत के चातुर्य वाले प्रियतम के अन्दर बन्द आँखों के बहाने क्या वचनों से अगोचर (आनंद) क्या प्रवेश कर गया है। यह देखने के लिए ही मानों प्रियतमा ने आँखों को चलायमान किया ॥११०॥

रति कला को प्राणवल्लभ के करने पर मुँह मोड़ने वाली सुमुखी स्त्री ने "हूँ हूँ" नहीं, नहीं" मेरा...." ऐसे वचनों के बहाने से कामदेव के उत्तेजक मन्त्र को मानो क्या याद नहीं किया ?" (ऐसे शब्द अवश्य कहे) ॥१११॥

निर्दयता से रति महोत्सव को रचने वाले नायक को नव प्रियतमा सुरत क्रिया से भी अधिक आनन्द दे रही थी क्योंकि वह अनवरत नाभि के निम्नस्थ भाग पर अपना हाथ लगा रही थी ॥११२॥

"शंकर भगवान के नेत्र की आग ने कामदेव का दहन कर दिया था" ऐसा विद्वानों का वचन तो ऐसे नायक ने सत्य ही माना जो कि मानिनी को वश में नहीं कर सका ॥११३॥

"मदन ही अरि है इसका" ऐसा मदनारि का अन्वय न होकर "कामदेव के द्वारा ही यह देह जीवित है" यह अन्वय ठीक है। अन्यथा पृथ्वी पर "काम तत्त्व ही केवल मुख्य तत्त्व है"। ऐसी बात सब ओर क्यों शोभा देती ? ॥११४॥

पलङ्ग से उछल करके अन्य प्रियतमा ने रति कार्य के अन्त होने पर प्रियतम का दृढ़ आलिंगन कर लिया। प्रियतम द्वारा भी पुनः आनन्द लेने की इच्छा करके (प्रिया) की देह में स्थित अनंगसर्वस्थ योनि को मसलना शुरू किया ॥११५॥

रति के समय जैसे जैसे ही यह नवोढ़ा प्रिया अत्यन्त कठोर अंग करती थी, मैं शंका करता हूँ कि वैसे वैसे ही मन को प्रिय लगने वाला प्रियतम भी कठोर चित्त धारण करता था। अन्यथा "नहीं, नहीं" "छोड़ो, छोड़ो" "हाय हाय" ऐसा शब्द बार बार बोलने वाली इस प्रियतमा की करुण बात को नायक की जवानी कैसे प्राप्त करती? ॥११६॥

प्रिय तथा प्रियतमा के परस्पर चुम्बन करने पर मानो मुख रूपी चन्द्रमाओं के मिलने के बहाने से क्या दो सुन्दर दीप्ति वाले चन्द्रमा तुरन्त उदित नहीं हो गये? इसी से कामदेव के द्वारा उत्पन्न महान् युद्ध हुआ, प्रीति वहीं बड़ी होती है जब दोनों क्षेत्रों में अनन्यता होती हैं॥११७॥

प्रिय की आँख में अपना प्रतिबिम्ब देखकर मुग्धा नायिका ने सोचा कि प्रियतम प्रिया को आँखों में ही धारण कर रहा है और उसने अश्रु जल का सामने ही छोटा तालाब बना दिया और वहाँ ही प्रतिबिम्ब के रूप में स्थित स्वयं को देखकर तथा पति के संग स्वयं के युगल का अवलोकन कर वह प्रसन्न हो गई थी। इससे बड़ी वस्तु स्त्रियों के लिए क्या हो सकती है? ॥११८॥

कामदेव के विषैले बाणों से प्राप्त मानो बड़ी मूर्च्छा को दूर करने के इच्छुक किसी नायक ने दो पर्वतों के समान स्थित दोनों स्तनों को पकड़ लिया था और चन्द्रमुखी तरुणी के मुखचन्द्र की सुधा को मानो पी लिया था॥११९॥

"तुम किस देवता की बचाई हुई वस्तु हो" ऐसी बात बार-बार कामदेव के बाणों से विद्ध मृगाक्षी के द्वारा ये वचन कहे गये। तो हे पृथ्वी के चन्द्रमा! तुम्हारी स्वयं खरीदी हुई दासी की वाणी को किसी धन्य व्यक्ति ने ग्रहण कर लिया॥१२०॥

युवक युगल की सुक्रिया स्वाभाविक रति क्रिया से भी विशेष विपरीत राग का प्रसारण करती हैं। अचेतन शय्या भी तब रागमयी हो जाती है जब उस पर अलक्तक से भूषित वधू के चरण पड़ जाते हैं॥१२१॥

कामदेव की हसीन क्रीड़ाओं में शय्या से नीचे गिरे हुए प्रसून ऐसे शोभा दे रहे थे मानो वे मृगाक्षी के शरीर से अलग होने के भाव प्रकट होने के दुःख से छलांग लगा रहे हों॥१२२॥

"जिसका (नायक का) अंग बाहर ही स्पर्श करने पर स्त्रियों के लिए ऐसा आनंद देता है तो वह मध्य में प्रविष्ट होकर कैसा सुख देगा" ऐसा सोचकर कातर चक्षुवाली भयभीत तरुणियाँ रति कार्य के अन्त में दृढ़तम आलिंगन देकर के समस्त शरीर को ही समर्पित कर देना चाहती थी ॥१२३ ॥

सूर्य के संचरण करने पर समस्त विश्व जैसे सरसता को (कोमलता को) प्राप्त कर लेता है वैसे ही, मैं मानता हूँ कि रति के संगम के समय स्त्रियों के स्तन भी कोमलता को धारण कर लेते थे। ऐसा नहीं होता तो रति कार्य के अन्त में बड़े पर्वत की भांति कठोर स्तनों पर विश्राम करने वाले प्रियतम लोग कण-कण क्यों नहीं हो जाते? ॥१२४ ॥

कभी मान व अमान में किसी क्षण तिरछी नजरें फेंकने में, कभी हास उल्लास में, तथा किसी क्षण दृढ़ आलिंगन में युवक लोग व्यस्त रहे। प्रत्येक गृह में प्रसन्न मानस से रतिक्रिया के उत्साह वाले युवकों ने समस्त रात्रि बिता दी ॥१२५ ॥

युवकों के लिए रति कार्य में व्यस्तता के कारण नींद का सुख तो क्षण भर का ही रहा क्योंकि वे आपस में अधर पान में व्यस्त रहे थे, निःशंक होकर नखक्षतों को विभूषण बना रहे थे और संभोग के कारण श्रमित होकर थक गये थे ॥१२६ ।।

प्रिय एवं प्रियतमा—दोनों युवजनों की स्वाभाविक वीरव्रत की पराकाष्ठा जब कामदेव ने देखी क्योंकि वे परस्पर दाँतों, नखों तथा मुख से निर्गत वाक्यों के उच्चारण से मानो वीर कार्य कर रहे थे, तो वह शंकर भगवान के घमण्ड को चूर करने के कार्य के लिए निश्चिंत हो गया और मैं मानता हूँ कि इसी कारण से उसने चिरकाल तक निद्रा का आश्रय ले लिया ॥१२७ ॥

यदि यह "शृंङ्गारसञ्जीवन" नामक सप्तमसर्ग वीर हम्मीर काव्य का यह सप्तम सर्ग यदि आपने नहीं सुना तो सब कुछ व्यर्थ है जिसमें स्पर्शानुकूल तथा मुख रूपी चन्द्रमा की शोभा वाली शय्याएं हैं, नासिका को सुगन्ध से पूर्ण करने वाले ताम्बूल हैं, विकसित पुष्पों के हार हैं, पति से श्रमित तरुणियाँ है और इस सर्ग में स्तनों के द्वारा वक्ष स्थल पर बाधाओं का निर्माण भी किया गया है ॥१२८ ॥



अष्टम सर्ग

जिनमें तार-मन्द्र तथा मध्य स्वर निहित हैं तथा जो पंचमराग से युक्त हैं ऐसे स्वर समूहों को प्रकट करते हुए वैज्ञानिकों ने हम्मीर देव को रात्रि के अन्त की सूचना दी ॥१ ॥

शोभाविहीन चन्द्रमुख को धारण करती हुई, निस्तेज तारों के कारण कलुषित वस्त्रों वाली रजस्वला स्त्री की भांति यह रात्रि पश्चिम दिशा में समुद्र में स्नान करने जा रही है ॥२ ॥

विरहिणी स्त्रियों के नेत्रों से निकली बिजलियों से मानो चारों ओर प्रकाशित आकाश को छोड़कर यह चन्द्रमा अब अस्ताचल की चोटी पर जा रहा था ॥३ ॥

स्वतन्त्रता का नाशक सूर्य इस दिशा में नहीं उग जाय यह सोचकर क्रोध के कारण लाल-लाल नेत्रों से कुलटा स्त्रियों द्वारा मानो देखी गई इन्द्र की दिशा (पूर्व दिशा) अरुण हो गई ॥४ ॥

"यह क्षण भर शेष रही रात्रि क्या आपको ज्ञात्त नहीं रही जो आपने इस प्रकार मौन धारण कर रखा है" इस विचार से मुर्गे ने मानो ईर्ष्या करते हुए बाँग लगाई ॥५ ॥

रति के कक्षों में भी तरुणियों के पतियों की रतिक्रीड़ा के कारण सारी रात को जागकर बिताने वाले दीपक भी मानों आलस्य के कारण घूर रहे थे ॥६ ॥

सुरत क्रीडा से चित हटाकर ज्योंही ये जवान व्यक्ति किसी प्रकार ही सोये थे कि तभी मृदङ्ग वादकों ने प्रातःकाल का सूचक शुभ मृदङ्ग बजा दिया ॥७ ॥

यह प्रातः काल की हवा भी उबटन के कारण सुगंधित बने हुए रति केलि से उत्पन्न स्वेद जल का स्वाद लेकर मन्द-मन्द चल रहा था और संभोग गृहों में प्रवेश

करके युवकों को आनन्द दे रहा था ॥८॥

गुरु के द्वारा उपदिष्ट महान् प्रयोगों को रखकर ज्ञान प्राप्त करने वाले राजा लोग भी श्रेष्ठ विद्वानों की भांति विशुद्ध अर्थ की उत्पत्ति अपने यश के लिए कर रहे थे ॥९॥

ब्राह्मणों के मुख से निकले हुए ज्ञानयुक्त वेदमन्त्र सुन्दर ध्वनि से मुखरित हो रहे थे एवं सज्जनों के हृदय में प्रवेश करके मानो अज्ञानरूपी अन्धकार का तुरन्त ही समूल नाश कर रहे थे ॥१०॥

विधाता भी अन्धकारमय युगान्त में डूबे हुए सुमेरु पर्वत को देखकर नया पर्वत उत्पन्न करने का इच्छुक हो रहा था और प्रातः सन्ध्या से उत्पन्न अरुण राग से मानो स्वर्णमय शिखरों का निर्माण कर रहा था ॥११॥

किसी प्रियतम ने प्रिया के तीव्र मान को यह कहकर सरलता से नष्ट कर दिया कि "रात्रि बीत गई" व उषाकाल हो गया और अब भी मान क्यों धारण करती हो? ॥१२॥

संभोग क्रीड़ा करके सोई हुई तरुणी जब पहले जाग गई तो आलिंगनबद्ध होकर सोये हुए पति की निद्रा भङ्ग न हो जाय यह शंका करते हुए शय्या को नहीं छोड़ रही थी ॥१३॥

कहीं कहीं पर उषाकाल को जानकर चुपचाप आकर प्रियतम सपनों में तर्जन करती हुई सोई हुई प्रियतमा का आलिंगन करके पुनः सो गये थे ॥१४॥

चन्द्रमा भी मानों सुरापान करके पश्चिम दिशा में आ गया था और सोचता था मानो नीच तथा जड़ लोगों के योग्य हो गया है अतः वह भी समुद्र के मध्य में प्रवेश कर गया था और संसार को यह उपदेश भी दे गया था कि कुकर्मी को छिप जाना चाहिये ॥१५॥

यह चन्द्रमा की रात्रि व्यतीत होने पर भी काम सहित हो रहा था तथा चारों ओर रात्रि के याम उसने बिता दिये थे। इसी कारण से मैं शंका करता हूँ कि पके प्याज की भांति पीला-पीला चन्द्रमा अस्त होना चाहता था ॥१६॥

चन्द्रमा का अस्त होते हुए एवं सूर्य का उदित होते हुए समान स्वरूप हो गया था। अहो! पूर्वापर विभेद होने पर आदमियों की बुद्धि भी जड़ हो जाती है ॥१७॥

यह सोच करके पूर्व दिशा चन्द्रमा पर क्रोध करती हुई लाल हो गई थी कि जिस दिशा में उदित हुआ था अब उस मुझको-पूर्व दिशा को छोड़कर वह पश्चिम दिशा का सेवन करने लग गया था ॥१८॥

विकसित कलियों के गर्भ से निकलते हुए चञ्चल भौंरों के बहाने से मानो कमलिनियाँ हर्ष के आँसू गिरा रही थीं क्योंकि उन्हें पति-सूर्य का समागम प्राप्त हो गया था ॥१९॥

कहीं कहीं पर आकाश गंगा के महान् जलाशय में क्या समुद्र प्रतिबिम्बित हो गया था? जो कि अंधकार की तरङ्गें भी पानी में शोभा दे रही थीं और अन्तर में आग सी धारण किये हुए प्रातःकाल की लालिमा भी शोभित हो रही थी ॥२०॥

मृगाक्षी वेश्याएं भी अपने विलासी प्रेमियों को दृढ़ आलिंगन करके यों कहकर भेज रही थी कि "यह मैं तथा यह घर तुम्हारा ही है अतः तुम्हें पुनः यहाँ ही आना चाहिए" ॥२१॥

थोड़ा-थोड़ा सा सूर्य प्रकाश होने पर समुद्र ने भी चपलता छोड़ दी थी क्योंकि जड़-मूर्ख व्यक्ति में ज्ञान का उदय हो जाने पर उसमें भी शान्ति का स्पष्ट भाव आ ही जाता है ॥२२॥

जिस प्रकार कलिकाल में सज्जन कहीं-कहीं ही नजर आते हैं वैसे ही तारे भी कमल कोशों से दूर हो गये थे। धूमिल कान्ति वाले हो गये थे और कहीं-कहीं ही नजर आते थे ॥२३॥

चञ्चल शरीर वाली तरुणियाँ दही मथने लग गई थी और उनके केशपाश मानो प्रचण्ड किरणों वाले सूर्य के सेवकों की तरह अंधकार को कूटने से काले बने हुए दण्डों जैसे शोभा दे रहे थे ॥२४॥

कामियों के द्वारा रोके जाने पर भी होठों पर किये हुए दन्तक्षतों पर-कुलटा स्त्रियाँ घबराकर पति की दृष्टि न पड़ जाए, इस डर से उन पर अलक्तक लगा रही थी ॥२५॥

काम युद्ध के प्रसन्नतापूर्वक प्रारंभ होने पर जब तरुणियों का केशपाश पीठ पर चला गया था तो वे क्रुद्ध हो गईं और उन्होंने बालों को अच्छी प्रकार से बांध दिया ॥२६ ।।

और उसे कमल नेत्री स्त्रियाँ यह कह कर मानों आदेश दे रही कि तुम शीघ्र ही इस बन्धन से मुक्त हो जाओ क्योंकि करधनी ग्रथन के समय प्रकोष्ठ के आभूषण मधुर शब्द कर रहे थे ॥२७ ॥

जैसे वियोगिनी नारियाँ अपने निःश्वासों से दर्पणों को मलिन कर देती हैं वैसे ही शिला खण्ड चाटने वाले घोड़े भी **अग्रगामी अश्वों के** निःश्वासों से उसे मलिन कर देते थे ॥२८ ॥

रात्रि के बिम्ब के बहाने से पूर्व दिशा मानो मङ्गल कार्य के कारण समस्त अन्धकार को समूल नष्ट करके संसार में प्रवेश करने वाले दिन का नीरांजन कर रही थी ॥२९ ॥

वेश्याएं भी-जिनको विलासी व्यक्तियों ने प्रचुर धन दे दिया और दिन भर जिनके अङ्ग पीड़ित हो रहे थे-सूर्य की किरणों के उनके अङ्ग स्पर्श करने पर भी जा नहीं रही थी ॥३० ॥

प्रातःकाल ने मानों उल्लू से आनन्द खींचकर चक्रवाकों को, चन्द्रमा से प्रकाश खींचकर सूर्य को एवं कुमुदों से सौन्दर्य खींचकर कमलों को प्रदान कर दिया था ॥३१ ॥

चन्द्रमा के अशुभ के कारण डर से अन्धकार का समूह पृथ्वी को छोड़कर देखो उल्लू के नेत्रों में प्रवेश कर गया, अन्यथा इनमें कैसे अंधत्व आ गया ? ॥३२ ॥

"रात्रि बीत गई, प्रसन्न हो जाओ ऐसा कहकर ज्योंही चकवे ने स्वप्राणप्रिया चकवी से कहा त्योंही वह स्वयं ही आ गई थी ॥३३ ॥

मानो क्रोध से लाल-लाल शरीर धारण किये हुए सूर्य को आता हुआ देखकर डर के मारे पहाड़ों की कन्दराओं में अन्धकार छिप गया था ॥३४ ॥

इस प्रकार के अद्भुत एवं प्रबोधन करने वाले वाक्यों से प्रकट हो गया था कि प्रातःकाल हो गया और तब शुभ कर्म करके कुमार हमीर ने दान कर्म किया ॥३५ ॥

अब कुमार हमीर ने, जो मङ्गल की आकांक्षा रखता था, शत्रुरूपी हाथियों के लिए सिंह स्वरूप श्री जैत्रसिंह को प्रसन्नता से तथा अत्यधिक भक्ति के कारण नम्र बनकर के प्रणाम किया ॥३६ ॥

प्रणाम करने वाले उसे देखकर पुलकित रोमावलि वाले विकसित चन्द्रमा के तुल्य मुख वाले पृथ्वीचन्द्र (जैत्रसिंह) ने एकान्त में उसे लाकर के रहस्यविद् की भांति उससे कहा ॥३७ ॥

"साम्राज्य की लक्ष्मी का पाणिग्रहण करने के लिए (प्राप्त करने के लिए) उपयुक्त बुद्धि वाले और ज्ञानयुक्त पुत्र के हो जाने पर कहीं पर हमारे वंशज कभी भी विषम परिस्थिति से पराजित नहीं हुए ॥३८ ॥

"अत्यधिक शक्तिशाली आन्तरिक शत्रुओं को नहीं जीतकर भी बाह्य शत्रुओं को नष्ट करने वाला मैं बाहरी शत्रुओं को उनके द्वारा जीत लेने पर (हमारे-वंशजों द्वारा) किस प्रकार प्रसन्न हूँ? (अत्यधिक प्रसन्न हूँ) ॥३९ ॥

"कितने ही शोचनीय बुद्धि वाले व्यक्ति तलवार को अलग रखकर शासन करने वाले राजाओं के राज्य को विशिष्ट कहते हैं (जो ठीक नहीं है) और ऐसा राज्य तो योग ध्यान करने वाले नृपतियों का ही होता है जहाँ ऐसे बेचारे-(अधन्य व्यक्ति) विकसित होते हैं ॥४० ॥

"शरीर में बचपन के बाह्यभाव भी होते हैं जो कि इसके नष्ट होने पर छोड़ देते हैं किन्तु हाय ! क्या सज्जन व्यक्ति भी आन्तरिक इन भावों को छोड़ने को अनिच्छुक होते हैं? (नहीं, वीर भावों को कभी नहीं छोड़ते?) ॥४१ ॥

"शक्ति नहीं होने पर विजय विलास की इच्छा करना शासक राजाओं का केवल उपहास ही करता है। क्या ठण्डी अग्नि जोर से फूंकी जाने पर राख से मुख नहीं भर देती है? ॥४२ ॥

"जो कामोत्तेजित तरुणियाँ हमारे लिए निर्लज्ज दीनता की कामना करती थी, उनकी हम कामना करें, इससे अधिक उपहास की बात और अधिक क्या हो सकती है? ॥४३ ।।

"मलमूत्र से भरे कभी नर नारियों के शरीर में शुद्ध व अशुद्ध भावों का कोई विचार नहीं होता ॥४४ ॥

"ऐसे व्यक्तियों के प्रति कृपालु होने वाले व्यक्ति करणीय तथा अकरणीय कार्यों को याद भी नहीं करते हैं तो अहा! ऐसा यौवन नष्ट हो जाय, यह ठीक है। क्या आज भी विषय वासना अच्छी चीज है? ॥४५॥

"जो यौवन के उन्मादयुक्त व्यर्थ शरीर में विषय विलास के लिए अत्यधिक अनुराग रखते हैं वे मास मज्जाविहीन हड्डियों में लालारस का स्वाद गीदड़ों की भांति लेते रहते हैं ॥४६॥

"स्त्रियों के अङ्गयुगल निकृष्ट कहे गये हैं। उनमें गुदाद्वार प्रसिद्ध है, स्रावद्वार (योनि) भी दूसरा अङ्ग है। उनके मध्य भी पुत्रादि उत्पन्न करने वाला, पुनः पुनः रक्तस्राव से आप्लावित द्वारा अधिक निकृष्ट है। इसमें जो व्यक्ति अब भी इससे मुँह नहीं मोड़ते हैं उनसे अधिक निन्दापात्र कौन होगा? ॥४७॥

"तो हे गुणालय! तुम राज्य का सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त करने के लिए मेरी इस आज्ञा का पालन करो। तुम्हारी सहायता से विष्णु भगवान में उत्कट इच्छा वाला तुम्हारा पिता (राजा) सुख प्राप्त करे ॥४८॥

"चन्द्रमा के समान सौम्य आकार वाले तुम्हें साम्राज्य की लक्ष्मी वरण करे क्योंकि बुढ़ापे के दोषों के उदय के कारण मैं तो अयोग्य हूँ। अब यह लक्ष्मी कमलों की भांति मुझे छोड़कर तुम्हारी सेवा करे" ॥४९॥

इसके अनन्तर कुमार ने भी सुधा वर्षण करने वाली वाणी से नव पल्लवों से युक्त अपनी भक्तिरूपी बेल को लपेटते हुए संसार प्रसिद्ध शुभ कीर्त्ति वाले पिता से कहा— ॥५०॥

"हे राजन्! यदि कामधेनु के समान देवों की सेव्य आपकी चरण सेवा मुझे मिल जाय तो नरक तुल्य तथा नरों के कारण सुन्दर-इस दोनों प्रकार के राज्य को मेरा मन अच्छा नहीं मानता हैं ॥५१॥

हे राजन्! तुम्हारे चरण-कमलों में ही सद् सत का विवेक रखकर नृपत्व की इच्छा करने वाले मेरे लिए तो राज्य नहीं लेना ही कहीं अधिक हर्ष के लिए है। फिर राज्य तो स्पष्ट कलंक प्रदान करने वाली वस्तु है ॥५२॥

"फिर ज्येष्ठ पुत्र होने पर भी इस मध्यम पुत्र को राज्य लक्ष्मी देय नहीं है-यह जानते

हुए भी राजनीति के पथ वाली इस राज्य लक्ष्मी को आप मुझे क्यों देना चाहते है?" ॥५३॥

(तब राजा ने उत्तर दिया) "हे वत्स! प्रातःकाल स्वप्न में महल में सोये हुए मुझे विष्णु ने कहा-हम्मीर देव को राज्य देकर मेरी सेवा में लग जाओ।" अब मैं क्या कर सकता हूँ?" ॥५४॥

इस प्रकार से हठपूर्वक अनिच्छा वाले राजा ने हम्मीर को निरुत्तर करके विशाल हृदय वाले हम्मीर को राज्य लक्ष्मी सौंप दी ॥५५॥

तब १३३९ संवत् में माघ मास के शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा की पुष्य नक्षत्र वाले दिन ज्योतिषियों के मतानुसार वृश्चिक लग्न में महोत्सव सहित राजा ने हम्मीर का अभिषेक कर दिया ॥५६॥

पहले पुरोहित, तब राजा, फिर अन्य राजा इसके पश्चात् अन्य मन्त्रिगण और इसके बाद महान् शुभ हाथी तथा अन्त में प्रजाओं ने हम्मीर का अभिषेक किया ॥५७॥

उस हम्मीर का चन्द्रमा के समान शुभ्र छत्र जो छायानुचरों के द्वारा ग्रहण किया हुआ था अत्यधिक शोभा दे रहा था और उससे मानो सारे त्रैलोक्य में छाया हो गई थी यह बड़ी अद्भुत बात थी ॥५८॥

उसके सिर के दोनों ओर हवा करते हुए चँवर ऐसे शोभा देते थे मानों वे इस राजकुमार के चरणों में बार-बार गिरकर इसकी प्रसिद्धि लोकों में फैलाना चाहते हों ॥५९॥

बन्दी जनों ने प्रशस्ति पाठ किया, मङ्गल वाद्य बजे, नृप कोविदों ने नर्तन किया एवं गायक समूहों ने गान प्रस्तुत किये ॥६०॥

कदम-कदम पर वन्दन मालिकाओं की कतारें बंधी हुई थीं, उल्लसित हो रही थी तथा ऐसी शोभा देती थीं मानो वे गृह-समूहों के नयनों की चंचल भृकुटियाँ हों ॥६१॥

राजमार्गों पर दोनों ओर विकीर्ण किये हुए विकसित पुष्पों के समूह भूमि देवी के नवीन पतिदेव के प्रति अधिक स्पष्ट ज्योति बिखेरने वाले मानों हास की भांति शोभा देते थे ॥६२॥

प्रसन्नता के आधिक्य के कारण चारों ओर से नवीन केसर के जल से सिंचित रङ्ग भूमियाँ ऐसी शोभा दे रही थीं मानो ईश्वर में उन्होंने **अपना अनुराग प्रकट** कर दिया हो ॥६३ ॥

मैं मानता हूँ कि नवीन राजा हमीर देव को प्राप्त करके नगर भी अनुरागमय हो गया था क्योंकि उसमें प्रत्येक भवन में कहीं स्वर्णिम, कहीं लाल रंग के व कहीं कुसुम्भवर्ण के ध्वज फहरा रहे थे ॥६४ ॥

हम्मीर की साम्राज्य की प्राप्ति से उत्पन्न हुए शेषनाग ने भूमि के गिर जाने की आशंका से पश्चात्ताप किया किन्तु उसने व्यर्थ ही दुःख प्राप्त किया क्योंकि उसने जाना कि हम्मीर के द्वारा पृथ्वी विनम्ररूप से धारण की गई है ॥६५ ॥

नवीन अभिषिक्त राजा हमीरदेव शत्रुरूपी कुमुदों की शोभा को मित्ररूपी कमलों को प्रदान करता हुआ भूमण्डल पर किसके विस्मय के लिए नहीं हुआ? (सबको विस्मित कर दिया।) ॥६६ ॥

कलियुग में क्या वह राजा ख्याति में राजा कर्ण का, राजनीति में राम का और वीरता में अर्जुन का उदाहरण विद्वज्जनों के लिए नहीं हो गया? ॥६७ ॥

उसके राज्य में मानो धर्म गर्जन करता था, दरिद्रता मानो नष्ट हो गई थी, लक्ष्मी मानो सर्वत्र शोभा देती थी, राजनीति का वृक्ष मानो फलता-फूलता था और स्वयं मङ्गल मानो नर्तन करता था ॥६८ ॥

हम्मीर के शासन में किसी को भी न कालरूपी अग्नि का प्रिय बनना पड़ा, न राम की भांति दुःख पाना पड़ा, न भरत की तरह तपस्या करनी पड़ी और न जनक तुल्य संन्यासी रहना पड़ा ॥६९ ॥

जिनका हम्मीर जैसा राजा था उन मनुष्यों के दिन सुखपूर्ण थे तथा वे ही लोग शुभ दृष्टि वाले थे जिन्होंने इस राजा के मुख कमल को देखा था ॥७० ॥

खिले हुए काश के पुष्प की नवीन कलिका तुल्य दाँत एवं होठों की शोभा के बहाने से मानो हृदय में उछलते हुए साहित्यरूपी अनुरागपूर्ण समुद्र में ऊंची-ऊंची लहरों का विस्तार करते हुए श्री जैत्रसिंह ने अब अपनी मृत्यु को समीप जान लिया था क्योंकि वे अब रोग-पीड़ित थे। अब उन्होंने प्रेम से हम्मीर राजा को यह

राजा की शिक्षा देना प्रारंभ कर दिया ॥७१-७२ ॥

(हे तात !) इन क्षण भङ्गुर स्त्रियों का अथवा लक्ष्मी का कभी विश्वास मत करो क्योंकि ये चाहे अनुरक्त हो या विरक्त, सज्जनों के लिए भी पद-पद पर विपत्ति के लिए ही होती हैं ॥७३ ॥

हे नरेश ! साम्राज्य प्राप्त करके भी महान् पुरुषों के प्रति विनयभाव का विस्मरण मत करो क्योंकि मनुष्य वृहद् भानु नामक राजा की भाँति दुष्ट होकर के समस्त कुल के विनाश का कारण बन सकता है ॥७४ ॥

हे तात ! आर्यवर्यों के (श्रेष्ठ व्यक्तियों) कार्यों को विचार पूर्वक करता हुआ जो संसार के व्यक्तियों का प्रिय विवेकवान् राजा होता है उसे यह संसार में निवास करने वाली राज्य लक्ष्मी छोड़ सकती है ? ॥७५ ॥

समर्थ होते हुए भी जो व्यक्ति अपनी देह में जो आत्मशक्ति को प्रकट नहीं करे वह सदैव पराभव ही (अपमान ही) प्राप्त करता है। हे वत्स, बोलो ! कण्डों की अग्नि किस-किस की लंघनीय नहीं होती ? (कम ताप वाली अग्नि को सब लांघ जाते है) ॥७६ ॥

निःस्पृह मुनियों का भी आदर पात्र होता है सदैव सदाचार में निरत रहने वाला राजा, किन्तु कुशीलता वाला नृप श्रेष्ठ नहीं होता वह तो तैली की भांति खल (खल, दुष्ट) के उपभोग के लिए ही होता है ॥७७ ॥

क्रमशः धर्म अर्थ और काम-इस त्रिवर्ग को साम, दाम और भेद के रूप में ही प्रयोग में लाना चाहिए। सब प्रकार से इन सबके अनुपयुक्त रहने पर चतुर्थ उपाय दण्ड का उपयोग मोक्ष के लिए (विपत्ति से मुक्ति के लिए) करने की बात सोचनी चाहिये ॥७८ ॥

विषय वासनाओं में लिप्त राजा स्वयं ही क्लेशों से युक्त हो जाता है। घर के आंगन में विष वृक्ष के उग आने पर कितने समय तक घर की कुशल रह सकती है ? ॥७९ ॥

राज्य के जो पाँच धर्म होते हैं वे ही सन्तों ने पाँच इन्द्रियों के समान कहे हैं। इनके नष्ट हो जाने पर शरीर की भांति राज्य भी नष्ट हो जाता है ॥८० ॥

शक्ति प्राप्त करके मनुष्य के द्वारा सदैव कार्य करने को तैयार रहते हुए पराक्रम के लिए ही विचार करना चाहिये। अनेक पशुओं के रहते हुए भी क्या सिंह पराक्रम के कारण ही क्या मृगेन्द्र नहीं कहलाता? ॥८१॥

राजनीति में भली प्रकार मन लगाकर प्रयोग में लाया हुआ पराक्रम भी कभी-कभी ठीक नहीं होता। छल के सहारे के बिना क्या शेर भी हाथी मारने को प्रवेश करता है? ॥८२॥

बुद्धि से ही यदि सिद्धि हो सकती हो तो तब पुष्पों (कोमल उपायों से) से ही प्रहार नहीं करना चाहिए। देखो, फूलों से युद्ध करता हुआ कामदेव शत्रु से किस गति को प्राप्त हुआ? ॥८३॥

वीरता एवं बुद्धि-इस युगल के विशुद्ध होने पर ही राज्य का सदैव उदय होता है (उन्नति होती है), एक वस्तु से नहीं। देखो, समस्त विश्व भी 'द्वन्द्व' (जोड़े) से ही उत्पन्न होता है ॥८४॥

विजय प्राप्ति के इच्छुक बलशाली राजा के द्वारा भी जीत सकने योग्य दुश्मन पर ही चढ़ाई की जानी चाहिए। अपनी ज्वालाओं से समस्त दिशाओं को व्याप्त कर देने वाली जंगल की आग भी पानी को जला नहीं सकती ॥८५॥

विधि जानने वाला राजा अपनी शरण में आये हुए शत्रु का भी सत्कार करता है। वैसे ही क्या मीन राशि के समीपस्थ शुक्र का क्या उच्च पद नहीं होता? ॥८६॥

जिससे प्रजा की पीड़ा नहीं हो उसी प्रकार से कर वसूल करना चाहिये। क्या माली लताओं की बाधा पैदा करते हुए पुष्प चुंनता है? ॥८७॥

जिसके द्वारा नागरिक के रूप में रहना सीखा हो वही जनता के प्रायः सुख दुःख को जानता है। क्या बांझ स्त्री अपने गर्भ के बाल के पोषण की बात को अथवा उसके धारण करने के परिश्रम को जान सकती है? ॥८८॥

प्रजा का धन बिना अपराध के लेने वाला राजा न तो अच्छा कहा जा सकता है और न वैसे ही देने वाली प्रजा भी। यह तो राजा का राज्य के नाश के लिये अपशकुन ही होता है—न तो धन ही और न प्रजा ही—इसका कारण होती है ॥८९॥

सर्वस्व नष्ट होने पर भी किसी भी बुद्धिमान को अपने कुल से विरोध नहीं करना चाहिए। कुल के विरोध ने ही क्या दुर्योधन को तुरन्त मृत्यु के निकट नहीं ला दिया था? ॥९० ॥

प्रजा की पीड़ा और अपने ही कुल का विरोध—ये दोनों पक्ष ही यहाँ आटा पीसने की चक्की के समान हैं। आटे के रूप में स्थित अनाज की भांति राज्य भी पुनः उगने में समर्थ नहीं होता ॥९१ ॥

स्वामी को धोखा देकर स्वयं का पोषण करने वाले नौकर-चाकरों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। क्या भूमि से अपने लिए रस प्राप्त करने के लिए खेत में स्थित घास फूस नहीं उखाड़े जाते? ॥९२ ॥

माता की भांति ही राजा प्रजा का कल्याण करने वाला होता है और माता की सौत की भांति ही अधिकारी गण होते हैं। उसके (सौत के) द्वारा दी गई प्रजाओं की कहाँ वृद्धि होगी और कहाँ जीवन चल सकेगा। (राजा को स्वयं अपनी बुद्धि से काम करना चाहिए) ॥९३ ॥

कुलीन व्यक्ति का ही राजा के द्वारा प्रवर्द्धन किया जाना चाहिए न कि किसी अनुचर का। क्योंकि मूर्ख व्यक्ति वट वृक्ष की भांति बड़ा होकर राज्यरूपी महल के विनाश का कारण बन जाता है ॥९४ ॥

बुद्धिमान राजा शत्रुओं से पराजित होकर भी यदि पुनः उन्नति चाहता है तो अपने देश को नहीं छोड़ता हैं। सूर्य के कारण लुप्त क़िरणों वाला चन्द्रमा भी वहीं स्थित होकर भी पुनः नभ में उदित हो जाता है ॥९५ ।

.पुराने श्रेष्ठ मन्त्रियों को छोड़कर नये मन्त्रियों पर डाला हुआ साम्राज्य क्षण भर में ही समूल नाश प्राप्त कर लेता है जैसे कि अनपके घड़े में जल नहीं ठहरता ॥९६ ॥

राज्य के शासन में एक ही मंत्री श्रेयस्कर होता है न कि दूसरा। दो गाड़ियों पर सवार होने को विद्वान् व्यक्ति प्राणों को सन्देह में डालने वाला होता है, अतः नहीं याद करते ॥९७ ॥

"जो जहाँ अनुरक्त भी न हो तथा विरक्त भी न हो वहाँ पर उसका विवेकपूर्ण भाव नहीं होता। अतः विद्वान् व्यक्ति के द्वारा शासन विधि में ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति

नहीं की जानी चाहिए ॥९८॥

बहुत से बुद्धिमानों के परामर्शों को भी सज्जन अधिक कल्याणकारी नहीं मानते। अनेक जच्चाओं के हाथ लग जाना माता के लिए तथा गर्भ के लिए कल्याणप्रद कहाँ से हो सकते हैं? ॥९९॥

"पहले अच्छी प्रकार से परामर्श को हृदय में विचार करके ही फिर सम्मति लेनी चाहिये। यदि सम्मति समान रूप से मिले तो कार्य करना चाहिये अन्यथा तर्कों से विचार प्रकट करने चाहिये ॥१००॥

"पूर्व में विरोध करने वाले व्यक्ति को प्रधान पद पर फिर कभी भी नियुक्त नहीं करना चाहिये। उस प्रकार के मनुष्य गुप्त वैर धारण किये हुए होकर अवश्य ही छाल का अवसर आते ही विद्रोह कर बैठते हैं ॥१०१॥

विरोध करने वाला बुद्धिमान् व्यक्ति कभी भी युगान्त में भी विरोध भाव नहीं छोड़ता। देखो, आज भी सूर्य एवं चन्द्रमा को कष्ट देता हुआ राहु लौटता नहीं है ॥१०२॥

"छल युक्त बलवान शक राज से कलह नहीं करनी चाहिये। छलमुक्त विष्णु के द्वारा समर्थ बलि को भी जीत लिया गया था ॥१०३॥

"बराबर सम्मुख आते हुए कष्टदायी जुए को—द्यूत को दूर से ही छोड़ देना चाहिये। जुए के प्रारंभ हो जाने के कारण ही पाण्डवों ने क्या-क्या उपहास प्राप्त नहीं किये? ॥१०४॥

"सिद्धान्तानुसार बल तथा अबल को विचार करके जो सार्थक योजना धारण करता है वही व्यक्ति, हे तात! गौरवपूर्ण शास्त्रज्ञ हैं तथा शास्त्रों में नैपुण्य प्राप्त करता है ॥१०५॥

इस प्रकार की मङ्गलकारी शिक्षा देकर के शरीर एवं गृह के प्रति निष्काम चित्तवाला श्री जैत्रसिंह अपनी आत्मा का कल्याण करता हुआ श्री आश्रम नामक नगर को चल दिया ॥१०६॥

व्यापारियों के दल से युक्त अम्बूपथ नामक कल्याणकारी नगर भी वहाँ था जहाँ कि स्वयं स्वयंभू शिवजी विराजमान हैं जो केवल ध्यान करने मात्र से ही प्रचुर भक्ति

वाले व्यक्तियों को क्या भोग की भांति ही मुक्ति नहीं दे देते हैं? ॥१०७॥

जहाँ पर चम्बल नदी पुण्य लक्ष्मी की वेणी की भांति बहती हुई शोभा देती है तथा वह नदी स्नान करने वाली इन्द्राणी के नयन युगल रूपी कमल से निकले हुए काजल के कारण चितकबरा जल धारण करती है ॥१०८॥

इसके अनन्तर इस प्रतापी हम्मीर को मानो विरह रूपी अग्नि से संतप्त को नेत्र रूपी कमल से झरती हुई आँसुओं की झड़ी से उसके हृदय एवं पृष्ठ भाग को सींचते हुए मुख्य मंत्रीगण उससे पास में आकर बोले— ॥१०९॥

"हे स्वामिन्! पहले साम्राज्य लक्ष्मी को छोड़कर हम जाना चाहते थे किन्तु अब तुम्हारे विरह रूपी अन्धकार में जुगनू की भांति हमारे भाग्य चमक रहे हैं ॥११०॥

हे नरेश! यह नगर आपके नेत्र के अवलोकन के कारण योग भाव छोड़ देगा और उज्ज्वल सूर्य के बिम्ब रूपी गेंद से रहित आकाश शान्त की शोभा को धारण कर लेगा ॥१११॥

इसके पश्चात् राजा (हम्मीर) सौम्य दृष्टि से देखकर अमृत की वर्षा से मानो सीचता हुआ इन मन्त्रियों से बोला—"तुम वह कष्ट, जो कि विद्वानों के लिए अनिष्टकर है, आत्म कल्याण करने के इच्छुक मेरे लिए, मत करो ॥११२॥

"यह नगर रूपी आकाश मेरे प्रताप रूपी सूर्य के प्रकाश के कारण शून्यता एवं शोक को प्राप्त हो गया है किन्तु अब बहुत शीघ्र ही हम्मीर रूपी चन्द्रमा के उदित होने पर अत्यन्त शोभा युक्त हो जायगा ॥११३॥

"विभिन्न गुणों के कारण विश्व के द्वारा प्रशंसित मेरे वंश-कमल का राजहंस मेरी तरह कृपा दृष्टियों के प्रदान करने से तुम सबको आनन्दित कर देगा।" ॥११४॥

इस प्रकार से इन्हें छोड़कर ज्यों ही राजा "पल्ली" नगरी में पहुँचा, त्यो ही मकड़ी निकल कर गिर पड़ी तथा यह लघुदेवताओं के प्रकोष्ट में चला गया ॥११५॥

अब विरह को सहन न करने वाली आठ प्राण प्रियाओं से युक्त श्री जैत्रसिंह राजा की संस्कार विधि विधि जानने वाले विद्वानों के द्वारा वहाँ पर हो गई थी ॥११६॥

अब हृदय में नवीन अवतरित शोक रूपी राजा को अश्रु वर्षा से सींचते हुए मोह से ग्रस्त होते हुए हम्मीर राजा ने विलाप किये ॥११७ ॥

"हे पृथ्वीपति" ! हे तात ! हे तात" ऐसे शोक वचनों के कारण मेरा गला सूख गया है यदि ऐसे मुझ व्यक्ति को तुम दर्शन नहीं देते हो तो यह कैसा औचित्य है ? ॥११८ ॥

"हे दिग्विजयी राजन् ! तुम्हारे हाथ ने ही इसे (मुझे) सारी त्रिलोकी का शिरोमणि बनाया है। वह ही हाथ अब किस प्रकार से मेरे विनाश के कारण भूत-हठ का अभ्यास कर रहा है ? ॥११९ ॥

"अग्नि, दुर्जन, विष और शत्रुओं को किस परन्तप. ने बनाया ?" इस बात का उत्तर तो स्वयं विधाता है जिसने कि 'श्री जैत्रसिंह राजा को मार दिया ॥१२० ॥

"हे विधाता ! यद्यपि तुम चारों ओर से निन्दनीय लोकापवाद से भी डरते नहीं हो तो भी तुम्हारे हाथ इस नर रत्न को मारने को कैसे समर्थ हुए? ॥१२१ ॥

"मैं शंका करता हूँ कि किसी के द्वारा भी वज्र शैलों का तत्व लेकर के (तुम्हारा) हृदय बनाया गया है जो कि मेरे जोर से विलाप करने पर आज भी उसे दया नहीं आती।" ॥१२२ ॥

वहाँ इस प्रकार से हम्मीर देव का दिल कण्ठ से "हा ! हा ! ऐसा रुदन करते हुए दृष्टि में अश्रु भरते हुए तथा कपोलों पर कर-कमल रखे हुए एवं चित्त में शोक भरते हुए बीतने लग गया ॥१२३ ॥

इस प्रकार से महान् शोक के समुद्र में डूबे हुए हमीर को जनता के कल्याणार्थ निकालने के लिए विप्रबीज से श्रेष्ठ विद्वानों व ब्राह्मणों ने उसे समझाया— ॥१२४ ॥

"हे राजन् !" मेरे पिताश्री मृत्यु को प्राप्त हो गये हैं" यह सोचकर व्यर्थ दुःख मत करो। यहाँ संसार में किसके माता-पिता मरण से हीन देखे या सुने गये हैं? ॥१२५ ॥

"जब तक श्वास है, तब तक ही जीवन है और श्वास तो वह प्रसिद्ध हवा ही है। यहाँ पर हवा के अतिरिक्त कोई भी चंचल नहीं है। हम जो जीवित हैं, यही बड़ी विचित्र बात है।" ॥१२६ ॥

कितने समय तक सुन्दर कलरव करने वाला यह हंस शरीर रूपी बावड़ी में क्रीड़ा करेगा क्योंकि काल रूपी रहँट के द्वारा पीया हुआ आयु रूपी जल शीघ्र ही सूख जायगा? ॥१२७॥

हे मनुष्यों! यह माया रूपी रात्रि प्रचुर अन्धकार युक्त होती हैं और मनुष्य यहाँ मोहकृत अज्ञान से पूर्ण हैं अतः अच्छी तरह जागृत रहो। मनुष्यों के प्राण रूपी धन को चुराने के लिए छिपकर रहता हुआ यह काल रूपी चोर संसार में प्रति दिन घूमता रहता है॥१२८॥

रावण को मार देने वाले धनुष हाथ में लिए हुए जिसने करोड़ों राक्षसों को यम के मुख में डाल दिया, उसी काल रूपी निशाचर ने फूत्कार करते हुए दिन व रात्रि रूपी घोर मुख धारण करके सौम्यमूर्ति श्रीराम् को भी निगल लिया था॥१२९॥

"जीवित रहो! आदेश दो! इस प्रकार के बाल्यकाल के मधुरता युवावस्था में पदार्पण करने वाले पुत्र के मधुर वचनों को जिस तुम्हारे पिता ने सुना था, उस की यदि तृप्ति अप्सराओं द्वारा बखान किये गये तुम्हारे यश को सुनने से ही हो जाती है तो स्वर्ग में पृथ्वी के चन्द्रमा के अमृत का स्वाद कैसे प्यारा लग सकता है?"॥१३०॥

इस प्रकार से राजा हमीर को स्मृतियों के ज्ञान से युक्त किया गया। विद्वानों के विशेषवचनों से उसके हृदय को उद्बोधित किया गया तो उसने शोक रूपी शत्रु सेनाओं को नष्ट करने को वीर्ययुक्त बुद्धि स्वयं में पैदा की और पृथ्वी का अपने घर की भांति पालन किया॥१३१॥



नवम सर्ग

इसके पश्चात् छः गुणों को और तीनों शक्तियों को धारण करने वाले इस राजा का मन निर्बाध दिग्विजय के लिये इच्छा करने लगा ॥१ ॥

तब ज्योतिषियों के द्वारा उचित ग्रहों के योग से युक्त शुभलग्न निकाल देने पर अपने गोत्र की पूज्य वृद्धाओं के द्वारा मङ्गल कामना व पूजा किया जाने के बाद पूर्व दिशा को पृष्ठ में रखकर तथा पश्चिम दिशा को सामने रखता हुआ अपने हृदय में वीर भाव का संचार करता हुआ राजा हमीर अश्व पर आरूढ़ हो गया ॥२-३ ॥

अपने से भी अधिक तेजवाले इस राजा को देखकर सूर्य म्लान न हो जाय इस दृष्टि से मानो अनुचरों ने इस हमीर राजा के सिर पर उज्ज्वल छत्र लगा दिया ॥४ ॥

इसके सैनिक मेरे समस्त जल को पी लेंगे ऐसी शंका करती हुई मानों गंगा नदी ही इस राजा की सेवार्थ छोटे-छोटे चँवरों के बहाने से वहाँ आ गई थी ॥५ ॥

जिस प्रकार से चम्पा का राजा चम्पा नगरी से एवं त्रिपुर राक्षस त्रिपुर (तीनों नगरों के समूह) से बाहर निकला था, वैसे ही पृथ्वी को कम्पायमान करता हुआ यह धैर्यवान् राजा नगर से बाहर निकला ॥६ ॥

कमल से पराग कणों की भांति और अर्जुन के हाथ से बाणों की तरह उत्साहपूर्ण सैनिक उसके पीछे निकले ॥७ ॥

चारों ओर से मदजल से पृथ्वी को पंकमय करते हुए गर्जना करने वाले एवं शत्रुओं को भगाने में सिद्धहस्त हाथी भी निकले ॥८ ॥

फड़कने वाली बगलों वाले तथा जिनपर श्रेष्ठ पुरुष बैठे हुए हैं ऐसे प्रत्यक्ष दिखने वाले घोड़े भी तार्क्षकों की तरह चले ॥९ ॥

जिस प्रकार से रथों के अन्दर फेंके गये तिल पृथ्वी तल पर नहीं गिरे थे उसी प्रकार ऊंची ऊँची ध्वजाओं वाले श्रेष्ठ रथ भी इतने तेज चल रहे थे कि भूमि का भी स्पर्श नहीं करते थे ॥१० ॥

आकाश के अन्तराल को प्रखर हुंकार से मुखरित करने वाले चञ्चल पैदल सैनिक (चतुरंगिणी सेना के) राजा के मन को प्रसन्न कर रहे थे ॥११ ॥

तेज हवा के कारण हिलने वाली पताकाओं पर दृष्टि गड़ाये हुए ध्वजावाही कर्मचारी भी 'ह हा' कहते हुए शोभा दे रहे थे ॥१२ ॥

पैरों की तीव्रता के कारण चारों ओर उड़ाई हुई धूल के समूह द्वारा सेना की छाया के लिए मानों मण्डप सा आकाश में तान दिया गया ॥१३ ॥

कोई व्यक्ति राजा के हाथियों की प्रचुरता बताते थे, तो कोई पैदल सैनिकों की, कोई घोड़ों की, तो कोई उसके रथों की अधिकता बताते थे ॥१४ ॥

सहस्राधिक अश्वों सहित एवं हजारों पैदलों सहित धीर राजा क्रमशः पृथ्वी को पार करता हुआ भीम रस नगर में पहुँचा ॥१५ ॥

तब विरोध का आश्रय लेने वाले "अर्जुन" नामक राजा को अपने खड्ग से पराजित करके गर्जन करते हुए हमीर ने उसे अपना आज्ञाकारी बना दिया ॥१६ ॥

तब मण्डल-राज (माण्डल का राजा) के दुर्ग से कर लेकर तुरन्त ही यह महान् शक्ति का समुद्र राजा हमीर पृथ्वी की सारभूत "धारा" नगरी में पहुँचा ॥१७ ॥

परमार वंश का श्रेष्ठ यह राजा भोज की तरह का "भोज" नामक राजा इस हमीर के द्वारा कमल की भांति म्लान बना दिया गया ॥१८ ॥

तब उसने अत्यधिक सैन्य बल के कारण पृथ्वीतल को ऐसा सरोवर सा बना दिया जिससे अवन्ति नगरी के आसपास के जंगलों में बड़े-बड़े हाथियों के मदजल के कारण प्रभूत सिंचन हो गया ॥१९ ॥

यहाँ ब्राह्मणों के द्वारा अपनी अंजलियों से छोड़े हुए जल कणों के द्वारा जिसके तट सिंचित हो चुके थे, ऐसी क्षिप्रा नदी को देख कर उस हमीर के सैनिक उसमें

स्नान करने को तैयार हो गये ॥२० ॥

यहाँ बन्धन मुक्त हुए गज स्नान आदि करने लगे तथा रेवा नामक नदी के जल स्नान के लिए बड़े उत्कण्ठित थे ॥२१ ॥

स्नान के, पश्चात् निकले हुए सुन्दर कान्ति वाले घोड़े भी नदी के किनारे अपनी गर्दन के बालों को हिला-हिला कर मानो जल वर्षण कर रहे थे ॥२२ ॥

सैनिकों के हृदय को प्रसन्न करती हुई वह नदी चकोर की सी आँखों वाली तरुणी की भांति आकर्षिक कर रही थी और उसमें हाथियों के कपोल भाग जो डूब उतरा रहे थे मानो उसके पृथुल तथा उन्नत स्तनों की भांति शोभा दे रहे थे ॥२३ ॥

राजा ने भी स्नान करके दान आदि देकर दुष्ट शत्रुओं के लिए काल स्वरूप "श्री महाकाल" शंकर की वहाँ पर अर्चना की ॥२४ ॥

उज्जयिनी नगरी के मध्य में प्रवेश करके उसका निरीक्षण करते हुए विक्रमशाली राजा हमीर ने अनेक बार विक्रमादित्य का स्मरण किया ॥२५ ॥

वहाँ से लौटकर समस्त पृथ्वी को अपने हस्तगत करते हुए शूरवीरों में अग्रणी राजा ने चित्रकूट (चित्तौड़) पर आक्रमण कर दिया ॥२६ ॥

तब मेवाड़ पर विजय प्राप्त करके आबू पर्वत पर पहुँच कर सघन शोभावाले राजा ने वहाँ पर शिविर लगा दिये ॥२७॥

यहाँ की स्फटिक शिलाओं पर अपने प्रतिबिम्ब देखकर इसके हाथी भी उन्हें अपने प्रतिद्वन्द्वी समझ कर उनसे लड़ने को तैयार हो गये थे ॥२८ ॥

आबू पर्वत की हरी हरी मणियों की निकलती हुई किरणें भी घोड़ों के लिए नई-नई दूब के जंगल का सा भ्रम पैदा कर रही थी ॥२९ ॥

थकावट के कारण सैनिकों द्वारा शाखाओं पर रखे हुए कवचों के कारण पर्वतराज के पेड़ भी योद्धाओं की भांति शोभा दे रहे थे ॥३० ॥

राजा ने पेड़ों के नीचे विश्राम कर भीलनियों के द्वारा गायी हुई अपनी कीर्ति गाथाएँ सुनी ॥३१ ॥

आबू पर्वत भी इस राजा के दिग्विजय का यश अपने सघन मन में प्रसन्न मोरों की केका ध्वनियों से मानो गा रहा था ॥३२ ॥

हाथियों के कपोलों से निकले हुए मद जल से झरणों का वेग दुगुना करते हुए राजा ने इस पर्वत के ऊपर चढ़कर इसकी चारिया (सौन्दर्य) को निहारा ॥३३ ॥

निर्मल आत्मा वाले इस राजा ने तीर्थंकर विमल-ऋषभ प्रभु को भी नगरी में जाकर प्रणाम किया। उत्तम व्यक्तियों के हृदय में अपने पराये की कल्पना नहीं होती ॥३४ ॥

वहाँ 'श्री वस्तुपाल' के कलियुग की व्यथा हरने वाले कीर्तन को देखकर इस राजा ने विस्मय होते हुए कई बार सिर हिलाया ॥३५ ॥

तब महान् भक्ति वाले राजा ने सब मनोरथ पूर्ण करने वाली "अर्बुदा" को प्रणाम करके अरुन्धती के पति श्री वसिष्ठ ऋषि के आश्रम में क्षण भर के लिए विश्राम किया ॥३६ ॥

"मन्दाकिनी" नदी में रोगमुक्ति करने वाले स्नान को प्रचुर मात्रा में करके इस राजा ने "अचलेश्वर" भगवान् का जो संसार के लिए पूज्य हैं—पूजन किया ॥३७ ॥

"धारावर्ष" नामक स्थान के धुनर्धारियों का अर्जुन की तरह का बाणवर्षण देखकर राजा आश्चर्य युक्त नेत्रों वाला बन गया ॥३८ ॥

चलती हुई सेना रूपी समुद्र के द्वारा दुश्मनों को मैनाक-नाम पर्वत की भांति बनाते हुए इस राजा के लिए आबू पर्वत का स्वामी घमंड त्यागकर इसके अधीन हो गया ॥३९ ॥

तब उन्नत शौर्य वाले राजा ने निर्धन 'वर्धनपुर' में उतरकर चङ्ग नामक नदी को भी बदरंग कर दिया ॥४० ॥

इस विजयी राजा ने "अजयमेरु" (अजमेर) नगर को मध्य में करके (जीतकर) पुष्कर तीर्थ में पहुँच कर महान् पुण्य का अर्जन किया ॥४१ ॥

वहाँ राजा ने "आदिवराह" नाम के कृष्ण भगवान् की पूजा की जो कि आश्चर्य है कि दश अवतारों में एक होते हुए दाहात्मता को प्राप्त नहीं हुआ था। (मरकर मुनः जन्म नहीं लिया था) ॥४२ ॥

तब प्रमाण के वाद्यों की ध्वनि से पर्वत प्रतिध्वनित हो गये और वे मानो उस राजा की कीर्त्ति का गान करने में ही मग्न थे—ऐसे पर्वतों को देखता हुआ वसुधा का स्वामी हमीर "शाकम्भरी" (साँभर) के द्वार पर पहुँच गया। वहाँ वेश्याओं के नेत्रों के माध्यम से उसने सौन्दर्यपान किया ॥४३-४४ ॥

मैं मानता हूँ कि इस राजा के दुश्मनों की स्त्रियों के निकले हुए अश्रुजल से ही यह "शाकम्भरी" झील लवण की खान हो गई थी ॥४५ ॥

तब 'महाराष्ट्र' को ध्वस्त करके, "खाण्डिल्ल" नगर को श्री विहीन करके 'चम्पा' नगरी को कंपायमान करता हुआ राजा आगे बढ़ा ॥४६ ॥

तब "करूराल" नामक नगर को ध्वस्त करते हुए इस राजा से प्रचुर उपहार समेत श्रीमान् "त्रिभुवनाद्रि" का राजा भी मिल गया ॥४७ ॥

इस प्रकार चारों दिशाओं में राजाओं के लिए अपनी आज्ञा को शिरोधार्य करवाकर यह राजा अपने नगर के निकट आ गया ॥४८ ॥

राजा के आने पर नगर में मानों पुरजनों के अनुराग का समुद्र प्रवेश कर गया और वह उड़ती हुई लाल लाल ध्वजाओं के बहाने से मानो उमड़ने लग गया ॥४९ ॥

स्वामी के आ जाने पर नगर भी प्रेमयुक्त होकर मानो हँसने लग गया क्योंकि हर द्वार पर निकलने वाले व्यक्तियों के प्रचुर कान्ति वाले वस्त्र वहाँ चमक रहे थे । ।५० ॥

हाथों को ऊँचा उठाये हुए ब्राह्मणों के द्वारा दिये हुए आशीर्वचनों को सुनता हुआ राजा—जिसके लिए बंदीजन जयघोष कर रहे थे और उससे दिशाएँ मुखरित हो रही थीं तथा धर्मसिंह आदि प्रमुख व्यक्ति आ आकर जिसे क्रमपूर्वक प्रणाम कर रहे थे तथा अत्यधिक उत्सव के कारण जिसकी कान्ति दीप्त हो रही थी—ऐसा राजा नगर में प्रवेश कर गया ॥५१-५२ ॥

नागरिकों के द्वारा उत्सव की इच्छा से प्रत्येक द्वार पर उठाये गये कलश भी भवन-लक्ष्मियों के स्तनों की भांति शोभा दे रहे थे ॥५३ ॥

सब ओर से बजते हुए तूर्यों (बाजों) की ध्वनि से मानो बुलाई हुई स्त्रियाँ भी अन्य कार्यों को छोड़ कर इस राजा को देखने को दौड़ पड़ी ॥५४ ॥

एक कान में कुण्डल धारण करके और दूसरा कुण्डल हाथ में लिए हुए स्त्रियाँ मानो चलते हुए चक्र हाथ में लिए हुए कामदेव की सेना की भांति शोभित हो रही थीं ॥५५ ॥

"मैं तो एक ही कटाक्ष से संसार जीत सकती हूँ" ऐसा कहती हुई एक अन्य स्त्री कटाक्ष फेंकती हुई शोभा दे रही थी ॥५६ ॥

समाप्त नहीं होने के कारण अन्य स्त्री की पाँचों अंगुलियों से पकड़ी हुई चोटी मानो कमल के अन्दर से निकलती हुई भौंरों की भ्रान्ति को धारण कर रही थी ॥५७ ।

किसी स्त्री के हाथ में आधा चबाया हुआ पान का (बचा हुआ) बीड़ा शोभित था इसके ललाट ने काली तथा पतली चन्द्रमा की किरण को जीत लिया था ॥५८ ॥

जल्दबाजी में बिना बांधी हुई नीवी बन्धन को (नाड़े को) एक हाथ से रोककर प्रस्थान करती हुई अन्य औरत ऐसी शोभित हो रही थी जैसे कि लगाम के कारण चञ्चल हाथ वाला सारथी शोभा देता है ॥५९ ॥

"शृङ्गार करने वाली दासी के हाथ से वेन से कोई तरुणी पैर को खींच कर चल दी थी। यह अनुमान इसलिये हुआ कि उसके अलक्तक (महावर) से धूकर के भूमि पर चिह्न बन गये थे ॥६० ॥

कोई तरुणी हाथी के उन्नत कपोल (गण्डस्थल) को देखकर बार-बार अपने स्तनों को टटोल रही थी। उसे शंका थी कि कहीं उसके स्तनों की ऊँचाई हाथी न चुरा ले ॥६१ ॥

'बायें अङ्गों के आभूषणों को दाहिने अंग में पहन लेने वाली तरुणी भी, ऐसा मालूम होता था कि समस्त विश्व पर विजय प्राप्त करने वाले इन अंगों की वह मानो समानता ढूंढ रही हो ॥६२ ॥

ऊँची गर्दन करके पैरों के अग्र भाग को जमीन पर रखकर देखने वाली तरुणी भी जिसके कि स्तन अब ऊँचे हो गये थे, ऐसी प्रतीत होती थी मानों वह हाथी के गण्डस्थल को जीतना चाहती हो ॥६३ ॥

बालों के जूड़े में फँसी हुई किसी स्त्री अंगुली भी पत्रावली से घिरी हुई चम्पक की

कली की भांति शोभा देती थी ॥६४ ॥

करकमल में स्वर्ण की करधनी थामे हुए अन्य स्त्री ऐसी शोभित हो रही थी मानो जवानों के नेत्ररूपी मृगों को पकड़ने की इच्छुक स्त्री ने लगाम फेंकी हो ॥६५ ॥

केवल बायें ही अंग को शृङ्गार करने वाली अन्य स्त्री बजने वाले नुपूरों के कारण ऐसी शोभा दे रही थी मानो वह अर्धनारीश्वर भगवान् शंकर के भक्तों को ही रिझा रही हो ॥६६ ॥

अन्य स्त्री के सिर से ढँक जाने पर चोटी के अग्रभाग पर स्थित चूड़ामणि ऐसी शोभा देती थी जैसे कि सर्प के फण के ऊपर मणि शोभा देती है ॥६७ ॥

स्त्रियों की कमर पतली होते हुए भी स्तनों को पृथुल बनाती हुई स्वामित्व शक्ति की भांति मानो सबसे ऊपर अवस्थित हो गई थी ॥६८ ॥

इस राजा हमीर के सौन्दर्यरूपी समुद्र को दोनों नेत्रों से पीती हुई स्त्रियाँ ऐसी मालूम होती थीं मानो कि उन्होंने तीन चुल्लुओं से समुद्र को पीने वाले मुनि को भी जीत लिया हो ॥६९ ॥

किन्हीं स्त्रियों ने अवसर पाकर राजा को अपने कटाक्षों से बेध दिया था उन्हें ही इस के कामदेव ने धनुर्धारी की भांति बाणों की तरह काम में ले लिया था ॥७० ।।

कोई-कोई तरुणियाँ राजा के सौन्दर्य की सुधा को पीकर के तृप्त नहीं हुई थीं तो भी वे तुरन्त ही शिरः कम्प द्वारा अपनी तृप्ति बताती थी ॥७१ ॥

इस प्रकार नगर की स्त्रियों के नेत्रों द्वारा राजा के सौन्दर्य का पान किया गया और वह अपने महल में पहुँच गया ॥७२ ॥

सूर्य को कष्ट देने वाला, पराक्रम से समस्त पृथ्वी को आक्रान्त करने वाला एवं अच्युत के (विष्णु के) समान स्थिति वाला होने पर भी वह राजा जनार्दन (विष्णु) नहीं था ॥७३ ॥

धर्म, अर्थ और काम से सम्बन्धित व्याख्याएँ तथा ये तीनों पुरुषार्थ उचित अवसर आने पर राजा की सेवा करते थे ॥७४ ॥

उसके राज्य में महान् धनाढ्य व्यक्ति भी अहिंसा धारण करते थे एवं सबकी मङ्गल कामना में रत थे तथा कभी दुःखी नहीं रहते थे, यह अद्‌भुत बात थी ॥७५ ॥

दूसरे दिन राजा ने कोटि यशों के फल के विषय में पूछा तो विश्वरूप नामक इस निपुण राजपुरोहित ने यह कहा— ॥७६ ॥

"यथा विधि कोटि यज्ञों को करने वाला राजा भुजबल से पृथ्वी को जीतकर स्वर्ग की लक्ष्मी का प्रीतीपात्र बन जाता है।" ॥७७ ॥

इस प्रकार शास्त्र के अमृत-समुद्र की छटा की भांति शुभ छवि वाले यज्ञ को करने की राजा ने उस पुरोहित की वाणी सुनकर इच्छा कर ली ॥७८ ॥

तब पृथ्वी को आनन्द देने वाले राजा के द्वारा बुलाये गये कर्मकाण्ड रूपी समुद्र के वाडवाग्नि स्वरूप कट्टर ब्राह्मण वहाँ आ मिले ॥७९ ॥

और ब्राह्मणों के अंगो पर स्थित गोपीचन्दन की विभिन्न भंगिमाएँ ऐसी शोभा देती थीं मानो अन्तर में स्थित चारों वेदों की अमृत पयोधि की वे लहरें हों ॥८० ॥

'नगर का अन्तर ऐसे महर्षियों से पूर्ण हो गया जो कि नित्य स्नान करने के कारण लाल-लाल केशों के बहाने से सिर पर बड़ा तेज मानो धारण करते थे, जो कि हाथों में अक्षमालाएँ लपेटे हुए ऐसे मालूम होते थे मानों कमल के चारों ओर भौरे मंडरा रहे हों, जो परमानंद की वर्षा कर रहे थे और जो पाप राशि नाश करने वाले काशीवास के बतलाने वाले थे ॥८१-८३ ॥

तब नगर में सुरापान का निषेध शुरू हो गया, सात प्रकार के व्यसनों की मनाही कर दी गई एवं कारागार में स्थित कैदियों की मुक्ति भी प्रारंभ हो गई ॥८४ ॥

वहाँ पर यज्ञ लक्ष्मी की भांति सशरीर वेदिका शोभा देने लगी जिस पर लगे तोरण द्वार मानों उसकी भौहें हों और ऊँचे ऊँचे मङ्गल कलश मानों उसके उन्नत स्तन हों ॥८५ ॥

यहाँ पर तब ज्वाला की जीभों वाली अग्नि अपनी ज्वालाओं से आकाश को व्याप्त करने लगी और वह धुएँ के अम्बार के बहाने से मानो राजा के पापों को अलग हटा रही थी ॥८६ ॥

इसके बाद ब्राह्मणों के आदेश से यज्ञ की दीक्षा के लिए बुलाया हुआ एवं सत्कर्मरूपी उपनिषदों का ज्ञाता राजा वेदी के समीप आ गया ॥८७ ॥

मंत्रों के द्वारा तैंतीस करोड़ देवताओं का ब्राह्मण लोग आह्वान कर रहे थे एवं अग्नि में हव्य की आहुतियाँ दे रहे थे ॥८८ ॥

वेद मंत्रों के द्वारा आहूत देवता अपनी पवित्र आभा से ब्राह्मणों द्वारा प्रचुर मात्रा में दी हुई घृत की धाराओं को पी रहे थे ॥८९ ॥

तब आधे मुँह से सुधा के त्याग कर देने के कारण मानो जल जाने के डर से चौंके हुए देवता अग्नि में डाले हुए हव्य को ग्रहण कर रहे थे ॥९० ॥

मधुर स्वर से वेद की ऋचाओं के हर्षपूर्वक ब्राह्मणों के गाने पर मानो अग्निदेव चञ्चल ज्वालाओं के बहाने से नाच रहे थे ॥९१ ॥

राजा के पुण्यों के प्रभाव से ब्राह्मण श्रेष्ठों ने उसी प्रकार से निर्विघ्न यज्ञ को सम्पन्न कर दिय जिस प्रकार से तपस्वी लोग संसार सागर को पार कर जाते हैं ॥९२ ॥

तब राजा ने करोड़ों स्वर्णमुद्राएँ एवं अक्षय सम्पदा वाली जमीनें ब्राह्मणों को सुन्दर लक्षणों वाली दक्षिणा के रूप में दान में दे दी ॥९३ ॥

राजा के द्वारा दिये हुए सोने के ढेरों पर नाचते हुए ब्राह्मणों को देखकर देवता लोगों ने मेरु पर्वत की गोद में होने वाली क्रीडा के गर्व को भी त्याग दिया ॥९४ ॥

यहाँ पर राजा ने स्वर्णदान करके याचकों को इस प्रकार से सन्तुष्ट कर दिया जिससे कि उन्हें छोड़कर के समस्त निर्धनता दानियों के पास ही चली गई। (दान देकर समस्त राज्य कोष खाली कर दिया) ॥९५ ॥

श्री हम्मीर की कोई तो हाथी दान करने वाले के रूप में, कोई घोड़े दान करने वाले के रूप में कोई प्रचुर स्वर्ण मुद्रा देने वाले के रूप में स्तुति कर रहे थे ॥९६ ॥

इस राजा ने विचारों से, कल्पना से एवं कामना से भी परे दान दिया और इस प्रकार उसने चिन्तामणि—पत्थर, कल्पवृक्ष एवं काम कुम्भों के प्रति भी अनादर रख दिया ॥९७ ॥

तब राजा ने मिश्री मिले हुए दूध आदि से निर्मित प्रचुर भोज्य पदार्थ ब्राह्मणों को प्रेमपूर्वक

खिलाये ॥९८ ॥

तब राजा ने पुरोहित द्वारा बताये हुए एक मास के मुनि व्रत को प्रीतिपूर्वक धारण किया ॥९९ ॥

और इधर शत्रुओं के हृदय के लिए भाले की भांति स्थित दिल्ली में अल्लादीन नामक शक राजा की वीरता की धुरी हिल गई ॥१०० ॥

हम्मीर राज का स्वरूप जानकर उसके द्वारा संसार विजयी अपने "उल्लूखान" नामक औरस भाई से कहा गया— ॥१०१ ॥

"रणथम्भौर" नगर का राजा जैत्रसिंह पहले मेरे प्रताप के डर से मेरा कर चुकाता था ॥१०२ ॥

किन्तु उसका पुत्र अत्यन्त गर्वीला हम्मीर नाम से विख्यात है। वह दण्ड या कर तो दूर मुझसे बोलता तक नहीं ॥१०३ ॥

"वह अब तक अधिक प्रतापी होने के कारण जीता नहीं जा सका किन्तु अब पक्के निश्चय के द्वारा ही खेल खेल में ही जीत लिया जायगा ॥१०४ ॥

इसलिए अब तुम जाकर के रणथम्भौर को नष्ट कर दो। वह अपने राज्य के नष्ट हो जाने पर कितने दिनों तक टिक सकेगा।" ॥१०५ ॥

इस प्रकार से स्वामी की आशा पार अतिक्रोधी उल्लूखान अष्टायुति (८०,०००) अस्सी हजार घुड़सवारों की सेना लेक रवाना हो गया ॥१०६ ॥

इसकी सेना का समुद्र जिसमें चञ्चल घोड़े ही मानों ऊंची ऊंची लहरे थे, चिंघाड़े मारने वाले हाथी ही मानो बादल थे और शाण पर पैने किये हुए चमकते शस्त्र ही मानो वड़वाग्नि स्वरूप थे—बड़ा ही शोभा दे रहा था ॥१०७ ॥

सेना को मार के वासुकि के फणों को भी भान करता हुआ वह फौज का समूह 'वर्णनाशा'(बनास) नदी के तट पर स्थित था किन्तु पुरी के (रणथम्भौर) के अन्दर प्रवेश नहीं कर सका ॥१०८ ॥

उन्नत भागों पर स्थित गाँवों को जलाते हुए तथा गेहूँ के खेतों को चराते या उजाड़ते हुए उसने आराम से अठारह दिन बिता दिये ॥१०९ ॥

तीन प्रकार की शुद्धियों के व्रत के कारण राजा के मौन व्रती रहने पर "धर्मसिंह" की बुद्धि के अनुसार सेनापति महाबलशाली भीमसिंह समर में वीरता दिखाने वाले वीरों के समूह से युक्त सेना लेकर शत्रु सेना से लड़ने चल दिया ॥११०-१११ ॥

चौहानो के सेना के बजते हुए वाद्यों की आवाजें सुनकर के शिविर में स्थित शक लोग व्याकुल हो गये ॥११२ ॥

समर में अब किन्हीं योद्धाओं ने हाथियों पर रक्षा कवच डाल दिये, किन्हीं उत्साही योद्धाओं ने घोड़ों पर पल्याण कस लिये ॥११३ ॥

किन्हीं ने तूणीर (तरकश) बाँधे तो किन्हीं ने मुद्गर ले लिये। किन्हीं योद्धाओं ने खड्ग खींच लिये तो कीन्हीं ने गदाएँ ले ली ॥११४ ॥

और किन्हीं योद्धाओं ने तुरन्त ही योद्धाओं को युद्ध के लिए तैयार होने के लिए सूचित करने हेतु बड़े-बड़े डण्डों से वाद्य बजाना प्रारंभ कर दिया ॥११५ ॥

अब ओजस्वी "उल्लूखान" सेना नायक सैनिकों को धीरज बँधाता हुआ स्वयं हाथी पर सवार होकर बाहर निकला ॥११६ ॥

वंशदण्ड के अग्रभाग पर झूमते हुए काले एवं श्वेत चँवरों के बहाने से ऐसा मालूम होता था मानो आकाश में एक साथ लाखों गंगा-एवं यमुना नदियों का संगम हो रहा हो ॥११७ ॥

शकों और क्षत्रियों के आपस में युद्ध के निरीक्षण से ऐसा लगता था मानों दैत्यों में और देवताओं में महान् शत्रुता जाग गई हो ॥११८ ॥

पैदल को पैदल सैनिकों ने परस्पर युद्धार्थ चुन लिया था। ऐसे ही घुड़सवार को घुड़सवार ने, रथी योद्धा को रथी योद्धा ने एवं हाथी पर सवार योद्धा को निसादी ने चुन लिया था ॥११९ ॥

सूर्य की गर्मी से हमारे युद्धरस का भंग न हो यह सोचकर मानो पहले से ही योद्धाओं ने बाणों का मण्डप आकाश में तान दिया था ॥१२० ॥

वीर योद्धा रूपी हाथियों के अंगों पर लगते हुए शत्रुओं के बाण उन्हें ऐसा सुख प्रदान

करते थे जैसे मृगाक्षियों के कटाक्ष कामियों को देते हैं ॥१२१॥

शत्रुओं द्वारा चलाये हुए एवं सभी अंगों में चुभे हुए बाणों के कारण योद्धा ऐसे शोभित होते थे मानो वे विजयलक्ष्मी के आलिंगनसे रोमांचित हो रहे हों ॥१२२॥

सघन रूप से फैले हुए बाणों से मेघ मण्डल बन जाने पर सत्य ही है कि प्राणियों के प्राणरूपी हंस हृदय-सरोवर से उड़ गये ॥१२३॥

दुश्मनों के मुखरूपी कमलों पर बाण रूपी भ्रमरों को भ्रमण करवाकर वीर योद्धा उनके प्राण रूपी मकरन्द को मन भर के पिला देते थे ॥१२४॥

युद्ध भूमि में वीरों के मुकुटों के प्रसन्नता के कारण नाचने पर तलवारों की खटखटाहट किसके मन की प्रसन्नता के लिए नहीं थी? ॥१२५॥

क्षण भङ्गुर प्राणों से चिरस्थायी यश के अर्जन करने के कारण ही वीर श्रेष्ठ स्वर्ग में जाने लग गये थे ॥१२६॥

घुड़सवारों के सिर काटने की इच्छा से उछल उछल कर दौड़ते हुए योद्धागण जीवित ही स्वर्ग जाने की इच्छा करते हुए शोभा दे रहे थे ॥१२७॥

वीरों की खून से लाल हुई तलवारें ऐसी शोभा दे रही थी मानो वे रक्त पीने वाले राक्षसों की जिह्वाएँ हों ॥१२८॥

यम की दाढ़ें युद्ध भूमि में अपना नाम सत्य ही चरितार्थ कर रही थी क्योंकि वे केवल भटों के लग जाने से ही उन्हें यम सदन पहुँचा देती थी ॥१२९॥

खड्ग से कटकर सिर गिर जाने पर भी युद्धभूमि में दौड़ते हुए भी वीर योद्धा मानों अपने शौर्य से सहारा पाकर के गिर नहीं रहे थे ॥१३०॥

"तुम्हारे स्तनों की उन्नति को चुराने वाले ऊँचे कुम्भस्थल वाले हाथी तो रण में मारे गये हैं" ऐसा सोचकर कोई व्यक्ति तो हाथियों के दाँतों में स्त्रियों की प्रतीति के लिए अभिलाषा करते थे ॥१३१॥

यवन समतल प्रदेश में आये हुए क्षत्रियों को देखकर शूरवीरों को रुद्ध करने वाले हाथियों को आगे करके दौड़ा ॥१३२॥

चौहानों के द्वारा हृदय छेदने वाले तथा हृदय में पूरी तरह प्रवेश कर जाने वाले बाणों से चकित हुए शत्रुओं के हाथी आगे चलते हुए भी रुक गये ॥१३३॥

तब श्रेष्ठ योद्धाओं के युद्ध का क्या वर्णन किया जाय क्योंकि वहाँ तो एक दूसरे पर आक्रमण के बहाने से मानो शस्त्र ही लड़ रहे थे ॥१३४॥

सेनाओं के द्वारा उड़ाई हुई धूल से घना अन्धकार हो जाने पर केवल योद्धाओं की भाषा से ही अपने तथा पराये व्यक्तियों का ज्ञान होता था ॥१३५॥

इस प्रकार करोड़ों मांस भक्षियों के हृदय को सन्तुष्ट करने वाले युद्ध के बढ़ जाने पर चौहान क्षत्रिय शत्रुओं की सेना को पीसने लगे, जैसे अनाज को पीसा जाता है ॥१३६॥

आश्चर्य है कि मरे हुए योद्धा भी शरणागत रक्षण के व्रत को नहीं छोड़ते थे क्योंकि शत्रु के डर से शिरोविहीन लाशों के पीछे छिपे व्यक्तियों की वे रक्षा कर रहे थे ॥१३७॥

योद्धाओं के हाथों से बिखरे हुए मजबूती से पकड़े हुए छत्रों के कारण युद्धभूमि भी युद्ध के लिए लालायित सी लगती थी ॥१३८॥

हाथियों के दाँतों पर पैर रखकर प्रहार करने वाले हाथी पर सवार योद्धा घुड़सवारों एवं रथियों के हृदय को व्याकुल कर देते थे ॥१३९॥

ऐसे गज सवार न थे, न ऐसे घुड़सवार थे तथा न ऐसे योद्धा ही थे जिनको चौहानों के वार गहरे न लगे हों ॥१४०॥

शकों के आयुध, जैसे कौए अल्पकालिक मौत मर जाते हैं वैसे ही नष्ट हो रहे थे। वे कभी हाथियों पर, कभी घोड़ों पर, तथा कभी हथियारों पर तो कभी रथों के ऊपर अपने वारों को चूक जाते थे ॥१४१।

और कोई शकाधम तो अपने जीवन को बचाने के लिए दाँतों से तिनका धारण करके शरण में आ जाते थे, कोई पैरों में गिर जाते थे कोई यह कह कर प्राणों की भीख माँगते थे कि "मैं तो तुम्हारी गाय हूँ।" ॥१४२॥

इस प्रकार से शकों की सेना को नष्ट करके भीम सिंह लौट आये। इसके पश्चात् क्रुद्ध

उल्लूखान भी चुपचाप रवाना हो गया ॥१४३ ॥

अनेक स्वर्ण मुकुटों एवं सैनिक साज सामानों को लूटने वाले क्षत्रिय लोग भी भीम के पीछे पीछे विजयोन्नत होकर नगर में आ गये ॥१४४ ॥

बड़ी प्रसन्नता से पर्वत के घाटों में प्रवेश करते हुए भीमसिंह ने शकों के वाद्यों को छीनकर के जोर से कहा— ॥१४५ ॥

जहाँ जहाँ भी अपने बाजों की यह आवाज फैलेगी वहाँ वहाँ ही सबको अपनी जीत मान कर जाना चाहिये ॥१४६ ॥

ऐसे सङ्केत के कारण भ्रम में पड़े हुए यवन लोग अपनी विजय मानकर तुरन्त ही जल्दी से भाग्यवश इकट्ठे होने लग गये ॥१४७ ॥

अपनी सेना को इकठ्ठी देखकर शक उल्लूखान युद्ध करने को चल दिया तथा भीमसिंह भी युद्ध करने लग गया। वैसे शकों जैसे कायर लोग कहाँ उसके सामने ठहर सकते थे? ॥१४८ ॥

तब महान् युद्ध करके सैकडों शकों को मार करके समस्त शरीर के बाणों से छिद जाने के कारण भीमसिंह मर गया ॥१४९ ॥

विजयोन्नत शकराज भी तुरन्त ही अपने शिविर में पहुँच कर क्षत्रियों से भयभीत हुआ अपने नगर की ओर चल दिया ॥१५० ॥

इसके पश्चात् व्रत पूर्ण करने वाला राजा ने धर्मसिंह—मंत्री की सलाह से पर्वत की घाटियों को पार करके आते हुए भीमसिंह को जानकर उसे बुलाया (तथा कहा—) ॥१५१ ॥

"उसके तो दोनों नेत्र फूट गये क्योंकि उसने शकराज बली को नहीं देखा और तुम उसके पीछे भी जो रहे (जीवित रहे) तो तुम्हारे अन्दर कोई पुरुषत्व नहीं है।" ॥१५२ ॥

इस प्रकार से क्रोध से उसे उलाहना देकर के दरबारियों के सामने ही राजा ने उसके दोनों अण्डकोष निकलवाकर उसकी आँखें निकलवायी ॥१५३ ॥

पाण्डु की भाँति इस राजा ने भी विजयी भाव वाला 'भोजदेव' नामक तथा 'खड्गग्राही"

दूसरे नाम वाला एक अनुज था ॥१५४॥

राजा ने धर्मसिंह का पद संतुष्ट होकर उसे दे दिया और उसे राज्य से निर्वासित करता हुआ इसी भोजदेव के द्वारा इसके निषेध की आज्ञा करवा दी ॥१५५॥

इसके अनन्तर उसने (धर्मसिंह ने) मन में अपमान के कारण शत्रुता रख करके अपने घर पर ही भरत नाट्य का अध्ययन करके "धारादेवी" को नृत्य की शिक्षा दी ॥१५६॥

और उस धारा देवी को नृत्य के बहाने से लगातार राजा की सभा में भोज करके घर पर स्थित रहता हुआ ही सारी राजा की स्थिति को जान गया ॥१५७॥

उस धारा देवी ने चिन्ताग्रस्त होकर एक अन्य दिन राजा की सभा से आकर के अन्धे धर्मसिंह के पूछने पर हृदय विदारित करने वाला कारण बताया (और कहा)— ॥१५८॥

"हे तात! आज राजा को 'वेध' नामक रोग के कारण घोड़ों की मृत्यु के सुनने के कारण नृत्य, गीत आदि अच्छे नहीं लगे। इससे उसे भयंकर चिन्ता है(घोड़े की मृत्यु से)।" ॥१५९॥

यह सुनकर इस धर्मसिंह ने इस धारादेवी से कहा कि तुम व्यर्थ की चिन्ता मत करो। किन्तु अवसर पाकर के राजा से यह प्रार्थना करो— ॥१६०॥

'हे प्रभो ! यदि धर्मसिंह को पुनः अपना पद दे दियां जाय तो मरे हुए घोड़ों से भी द्विगुणित घोड़े यह पुनः ले आयेगा।" ॥१६१॥

"अच्छा" इस प्रकार कहकर इस धारादेवी ने राजा से ऐसा ही कहा तथा लोभ के कारण भूपति हमीरराज ने उसे पुनः अपने पद को अन्धे को बुला कर आसीन कर दिया ॥१६२॥

सज्जन आदमियों के हृदय में तब तक ही विवेक का दीपक जलता है जब तक कि तृष्णा रूपी आँधी तीव्र नहीं हो जाती ॥१६३॥

तृष्णारूपी कोई भी लता अभी तक नई नई ही मालूम होती है जब तक सद् विवेक रूपी कुल्हाड़ी भोथरी नहीं हो जाती ॥१६४॥

बढ़ते हुए लोभ के मद से अन्धे हुए छोटे-छोटे लोग भी अपने शत्रुओं को भाई बना

लेते हैं और भाइयों को शत्रु ॥१६५॥

अब क्रोध के कारण वह अन्धा धर्मसिंह भी अपनी शत्रुता का बदला लेने की इच्छा करता हुआ उस हम्मीर राज के राज्य का नाश करने के लिए आगे के उपाय करने लगा ॥१६६॥

धन लेने या कर लेने के मार्ग से राजा को लोभ में डालकर उसने भयंकर दण्ड देकर के प्रजा को पीड़ित किया ॥१६७॥

अश्वपतियों से अश्व और धनाढ्यों से धन लेकर के वह कठोर कर्म करने वाला (धर्मसिंह) प्रजा का क्षय काल् जैसा बन गया ॥१६८॥

वह धन से कोश को भरता हुआ राजा का अत्यन्त प्रिय हो गया क्योंकि वेश्याओं और राजाओं को तो धन देने वाला व्यक्ति ही हमेशा प्रिय होता है ॥१६९॥

प्रजा को दण्ड देने से जो उसने कोश की वृद्धि की तो क्या स्वयं के मांस से ही उसने अपनी देह की वृद्धि नहीं की? (अवश्य की) ॥१७०॥

इसके अनन्तर हृदय में वैर रखने वाले उसने अपने पद पर रहने के कारण उस वर्ष का वेतन भोज राज से माँगा ॥१७१॥

उस अन्धे मंत्री की चंचलता देखकर क्रुद्ध हुए भोजराज ने तुरन्त ही सिर झुकाकर हाथ जोड़ कर राजा के पास जाकर कहा— ॥१७२॥

"हे राजन!" यदि श्रीमान् को मेरे प्राणों से कार्य लेना हो तो प्राणों को ले लें किन्तु मैं अन्धें मंत्री के वाक्यों के अपमान को नहीं सह सकता ॥१७३॥

तब राजा बोला कि जिस व्यक्ति की मेरे ऊपर कभी नष्ट न होने वाली भक्ति है उस धर्मसिंह की आज्ञा किसी के द्वारा भी टाली नहीं जा सकती ॥१७४॥

स्वामी की तरह ही जो अन्य मालिकों द्वारा सम्मान पाने योग्य होता हैं तथा जो नौकरों के द्वारा सेवा करने योग्य होता है तो शंकर भगवान् के सम्मान के कारण क्या उनका बैल (नन्दी) सम्मान नहीं पाता क्या? ॥१७५॥

इस भाषण से क्रुद्ध नेत्र युक्त चेहरे को देखकर के उस शुद्ध बुद्धि वाले भोजदेव ने

राजा को दुष्ट बुद्धि जान करके निष्काम चित्त वाले व्यक्ति की भांति अपना सर्वस्व दे दिया था। काम के समूल नष्ट हो जाने पर बलवान् आदमी भी क्या कर सकता है? (कुछ नहीं कर सकता) ॥१७६-१७७ ॥

तो भी इसने (भोजदेव ने) कुलीन होने के कारण स्वामिभक्ति को नहीं छोड़ते हुए योगी जिस प्रकार पर ब्रह्म का ध्यान करता रहता है, वैसे ही भोजदेव ने भी राजा हमीर की सेवा की ॥१७८ ॥

दूसरे दिन राजा वैजनाथ की यात्रा पर आया तब पीछे स्थित भोजदेव को देखकर अन्योक्तिपूर्वक ऐसे बोला— ॥१७९ ॥

यहाँ पर कदम कदम पर बहुत से अत्यन्त ही क्षुद्र पक्षी भी होते हैं किन्तु कहीं पर भी बेचारे कौए से कोई भी निम्न कोटि का पक्षी नहीं होता जो कि क्रोध में भरे हुए चालाक उल्लुओं के समूह के द्वारा करोड़ों घाव प्राप्त करने पर भी, पंखों के टूट जाने पर भी बेशर्म होकर के पेड़ पर अपने निवास को नहीं छोड़ता है ॥१८० ॥

इन अन्योक्ति रूपी चाँदनी से जिस कमल की शोभा समाप्त हो गई हैं, उस कमल की भांति 'भोजदेव' अपने घर आकर अपने औरस भाई पीथसिंह से एकान्त में बोला ॥१८१ ॥

हे भ्रातः! श्रीमान् राजा (हम्मीर राज) आज प्रातः काल ही देखो, मन में रुष्ट हो गये हैं और सेवामें प्रचुर ध्यान देने वाले हम को बहुत तुच्छ समझने लगे हैं ॥१८२ ॥

"असीमित साम्राज्य की प्राप्ति के कारण मदमत्त मानस वाले राजा लोग कहीं कहीं तो एक व्यक्ति पर ही प्रेम प्रदर्शित करने वाले नहीं हो जाते क्या? (अवश्य हो जाते हैं।) ॥१८३ ॥

"अतः हम तो यात्रा के बहाने कुछ दिनों के लिए बाहर जा रहे हैं क्योंकि नीतिवान् व्यक्तियों ने अशुभ समय आने पर समय का अन्यत्र रह कर बिता देना ही कल्याणकारी बताया हैं।" ॥१८४ ॥

इस प्रकार से भाई से (पीथसिंह से) मन्त्रणा करके राजा के पास जाकर कहा—"यदि राजा आदेश दें तो मैं यात्रा के लिए काशी जाना चाहता हूँ।" ॥१८५ ॥

राजा बोले—दूर क्यों नहीं जा रहे हो? आपके बिना भी यह नगर पहले भी शोभा ही देता था, अब भी शोभित ही होगा ॥१८६ ॥

इस प्रकार क्रोध से कहने पर भी कुलीनता के कारण राजा के प्रति क्षमाशीलता प्रदर्शित करता हुआ भोजदेव सपरिवार काशी के लिए चल दिया ॥१८७ ॥

भोजदेव के चले जाने पर प्रसन्न मन वाले राजा ने दण्ड नायक के पद पर "रतिपालवीर" को नियुक्त कर दिया और त्रिवर्ग के सम्पर्क में (धर्म, अर्थ, काम) रहते हुए मधुरता पूर्वक दिनों को व्यतीत कर दिया ॥१८८ ॥



दशम सर्ग

राजा हम्मीर के द्वारा किये गये अपमान के कारण भोजदेव शिरोह (शिरसा शहर) में आ गया और बार बार अपनी दुर्दशा को सोचकर हृदय में इस प्रकार विचार किया ॥१ ॥

"राजा ने बिना कारण ही मेरा जो तिरस्कार किया है, उसका यदि मैं बदला नहीं लू तो मनस्वी आदमियों की कैसी गति होगी? ॥२ ॥

गुणवान् आदमी भी यदि वक्र (टेढ़ा) हो जाता है और धनुष की भांति अति भीषण हो जाता है (गुण (डोरी) खींचने से) तो गुणहीन दुष्ट आदमियों की भाँति अत्यन्त पीड़ा देता है जैसे कि धनुष की डोरी से छूटे बाण अतिशय पीड़ा पहुँचाते हैं ॥३ ॥

मनुष्य के अपमानित होने पर भी जो आदमी प्रयत्नपूर्वक शान्ति का ही सहारा ले लेता है तो उससे तो काँटे की नोक भी अधिक श्रेष्ठ होती है जो कि पीड़ित होने पर मनुष्य के पाँव को पीड़ित करती है ॥४ ॥

"बुराई करने वाले सगे भाइयों को भी मार दे, तो कोई पाप नहीं होता। नीतिवद् व्यक्तियों ने कहा है कि अभिमान रखने वालों की यह सनातन स्थिति होती है ॥५ ॥

"मित्रों का अथवा विरोधियों का परीक्षण तो उनकी क्रिया से ही किया जाता है। मित्र भी यदि अपकार करने वाला हो तो शत्रु होता है और शत्रु भी यदि उपकारकर्ता हो तो मित्र होता है ॥६ ॥

शत्रु के द्वारा किये गये अपमान को जो कायर व्यक्ति जरा—सा भी सहन करता है उसका तो जन्म ही नहीं होना चाहिये क्योंकि वह जन्मा तो उसकी माता के यौवन गर्व को लज्जित करने वाला है।" ॥७ ॥

तब सन्मति देने वाले अपने 'सहोदर"पिथम" से पूछकर भोजदेव शीघ्र ही यवनों के स्वामी के पास "योगिनीपुर" चला गया ॥८ ॥

कुलीन भोजदेव ने अब जो भी इस प्रकार का काम किया वह केवल म्लेच्छा भूमि से उत्पन्न स्फुरण ही था अतः वह भूमि जो सज्जनों के लिए निवास योग्य भी नहीं है ॥९ ॥

उसके आगमन से आनन्दित हुए अल्लावदीन ने इसे 'जगरा' नाम की नगरी प्रदान कर दी। सिरोपाव आदि दिये। यह नगरी मुद्गल नरेश की थी ॥१० ॥

वहाँ विचित्र शोभा वाली 'जगरा' नगरी में अपने निडर सगे भाई को छोड़कर 'भोजदेव' शीघ्र ही पुनः दिल्ली आकर के शकराज की सेवा करने लगा ॥११ ॥

इस शकराजा ने भी इस मानी व्यक्ति को प्रतिदिन सुन्दर स्वर्ण अश्व आदि दे देकर उसी प्रकार से सन्तुष्ट कर दिया जिससे यह राजा उसका अपना ही हो गया ॥१२ ॥

उस विरोधी भोजदेव को जो इस शकराज ने शीघ्र ही इतना सत्कार किया वह अत्यधिक उचित ही था अन्यथा यह (शकराज) किस प्रकार से शत्रु को जीतने के लिए सुकर उपाय पूछ सकता था ॥१३ ॥

उसे अन्य दिनों में अपना बना हुआ जानकर यवन राज ने पूछा—हे भोज बोलो। यह हमीर कैसे मेरे द्वारा शीघ्र ही युद्ध में जीता जा सकता है? ॥१४ ॥

"हे परम पूज्य स्वामी! यदि तुम सचमुच ही पूछते हो तो मेरे ऊपर आपको क्रोध नहीं करना चाहिये।" ऐसी बात कह कर अपनी वाणी को गंभीर करता हुआ निडर भोज बोला— ॥१५ ॥

कुन्तल देश को शिथिल करता हुआ, मध्यदेश को आक्रान्त करता हुआ, काञ्चीनगरी को नष्ट करता हुआ और स्वच्छन्द रूप से अङ्गरूप में अपना विस्तार करता हुआ जो हम्मीर वीर चञ्चल आँखों वाली भूमि के पति की तरह भाग्य और सौभाग्य की लक्ष्मी विस्तृत करता है, वह कैसे खेल-खेल में युद्ध भूमि में जीता जा सकता है? ॥१६ ॥

जिस हमीर के तेज प्रताप के पृथ्वी पर फैल जाने पर दीपक तो केवल पर्यायवाची

ही रह जाता है, सूर्य का प्रकाश केवल आकार मात्र ही, सूर्य केवल कथा मात्र ही, प्रलय की अग्नि की लपटें केवल उसका नमूना मात्र ही रह जाती है, वह वीर हम्मीर युद्ध भूमि में खेल खेल में ही कैसे जीता जा सकता है? ॥१७॥

जिस राज्य में वर्ष में छः ऋतुओं की तरह छः गुण हमेशा निवास करते हैं जिसमें परम पुरुष की भांति तीन गुणों की तरह तीन शक्तियाँ भी स्थित हैं और जिसकी चारों अंगों से सजी हुई सेना भी विद्या की भांति चतुरता प्रकट करती है, वह श्री हम्मीर वीर किस प्रकार खेल खेल में ही युद्ध भूमि में जीता जा सकता है? ॥१८॥

जिसे तलवार हाथ में लिए हुए देख कर डरे हुए राजाओं की न केवल साँसें ही अथवा न केवल तलवार, पवित्रकुल, शौर्य-धैर्य ही भाग जाता है बल्कि उनके ध्यान में तो केवल शीघ्र ही पलायन कर जाना ही आता है, वह श्री हम्मीर वीर कैसे खेल खेल में ही युद्ध भूमि में जीता जा सकता है? ॥१९॥

जो अपने हाथों की खुजली मिटाने के लिए अपने शत्रुओं के हाथियों के कुम्भस्थलों का विनाश करता है—ऐसे हाथी, जिनके गण्ड स्थलों से अनवरत, मदजल प्रवाहित हो रहा है जिस मद के सुगन्ध से आकर्षित होकर भौंरों के झुण्ड गुञ्जन कर रहे हैं और जिसका 'वीरम" नामक राजा भाई वीर समूहों का शिरोमणि एवं विश्व विजेता है, वह श्री हमीर वीर किस प्रकार युद्धभूमि में खेल-खेल में जीता जा सकता है? ॥२०॥

धन लूटने की बुद्धि रखने वाले तुम्हारे भाई का मान-मर्दन करने वाले जो अच्छे योद्धा होने के कारण तुमको भी निशङ्क होकर तृण समान भी नहीं मानते हैं और जो उत्तर दिशा के क्षेत्र के निवासी हैं (औदीच्य) वे "महिमासाहि"आदि मंगोल योद्धा जिसकी सेवा करते हैं, वह श्री हम्मीर वीर कैसे युद्ध भूमि में खेल खेल में ही जीता जा सकता है? ॥२१॥

"जिसका देश ऐसा है जिसमें पुण्यवान् व्यक्तियों का निवास है और वह सुन्दर प्रदेश वाला है जिसका दुर्ग शत्रु राजाओं के समूहों द्वारा मन से भी ग्रहण कर लेने में कठिन है और जिसके योद्धागण भी युद्ध में परस्पर स्पर्धा करने वाले एवं अपनी वीरता से निर्मलयश अर्जित करने वाले हैं, वह श्री हम्मीर वीर कैसे युद्ध

भूमि में खेल खेल में ही जीता जा सकता है? ॥२२॥

जिसकी तलवार के आगे अंग देश का राजा खड़ा नहीं रह सकता, कलिङ्ग का भूपति युद्ध चिह्न धारण नहीं कर सकता, काश्मीराधिपति मुस्कान सहित मुख नहीं रख सकता, बङ्गदेश का नृपति वीरता नहीं दिखा सकता और न गुर्जरदेश का स्वामी ही बुद्धिमान होकर भी गरज ही सकता है, वह श्री हम्मीर वीर कैसे खेल खेल में ही युद्ध भूमि में जीता जा सकता है? ॥२३॥

"जिसके सामने कोई भी राजा बोल नहीं सकता क्योंकि उसके ओष्ठ एवं कण्ठ डर के मारे सूख जाते हैं, जिसके सामने अश्वों का स्वामी—(अल्प बुद्धि वाला) भी बार-बार अपनी जीवन रक्षा की याचना करता है और जिसके कटाक्षों से देखा जाता हुआ हाथियों का अधिपति भी अपने कल्याण का मंत्र जपता रहता है, वह श्री हम्मीर वीर कैसे युद्ध भूमि में खेल-खेल में जीता जा सकता है ॥२४॥

उसके देश में शूर, बुद्धिमान, चातुर्यवान्, पण्डित, पुण्यकर्म करने वाले एवं दान देने वाले लोग भी हैं जो कि अनेक गुणों से युक्त हैं और जागृत हैं और श्री हम्मीर वीर सभी श्रेष्ठ गुणों से युक्त हैं ॥२५॥

"इस राजा के ऊँचे उठे हुए कर कमल की कृपा के प्रकट हो जाने पर बलशाली लोग लक्ष्मी की प्राप्ति करते हैं इसे तुम अति अद्भुत मानों क्योंकि उसके हाथों के नख-नख नहीं बल्कि मानो चिन्तामणियाँ ही दीप्त हो रही हैं। उसकी अंगुलिया-अंगुलिया नहीं मानो कामधेनु के स्तन हैं एवं उसकी हथेलियाँ-हथेलियाँ नहीं वरन् कल्पद्रुम के पल्लव हैं (वह अत्यधिक दानी है) ॥२६॥

इसके युद्ध में अश्वों के कठोर खुरों से उड़ाई हुई धूल से शत्रु के मस्तक कट जाने से निकले रक्त के कारण क्षण भर में ही पङ्क हो जाता है और रास्ते के बीच में ही सूर्य भगवान् आकाश में रथ के स्खलन की आशंका करने लगते हैं तथा कभी दक्षिण दिशा की ओर तो कभी उत्तर दिशा की ओर सञ्चरण करने लगते हैं ॥२७॥

जैसे दीपक का विनाश हवा कर सकती है, कमल समूहों का विनाश—बादल, सूर्य का विनाश सांय समय, श्रेष्ठ मुनि का विनाश—मृग नयनी का संगम, शरीर का क्षय—रोग एवं गुण समूह का विनाश लोभ का आश्रय कर सकता है वैसे उस (हमीर)

के राज्य के विनाश का कारण अभी केवल एक अन्धा व्यक्ति ही कर सकता है ॥२८ ॥

अतः हे स्वामी ! यदि इस हम्मीर को जीतना चाहते हो तो शीघ्र ही सेना को प्रयाण की आज्ञा दे दो क्योंकि इसका (हम्मीर का) देश इस समय नये नये पुष्पों के अंकुरों से भरपूर है और उसकी समस्त भूमि हरीतिमा से युक्त है ॥२९ ॥

"हे राजन् ! आपके सैनिकों द्वारा तुरन्त ही उनको नष्ट कर दिये जाने पर इसकी प्रजा निराश हो जायगी और अंधे धर्मसिंह के द्वारा सताई होने के कारण इसे छोड़ देगी।" ॥३० ॥

इस प्रकार उसके (भोजदेव के) वचन सुनाकर शकों के स्वामी ने "उल्लूखान" को तुरन्त बुलाया और शत्रुओं को नष्ट करने वाले एक लाख घुड़सवार दे दिये ताकि वह चाहमान के राज्य की ओर चल दे ॥३१ ॥

वह तेज शक्तिवाला उल्लूखान भी क्षत्रिय वीरों को तृण समान मानता हुआ समुद्र के ज्वार की भांति शत्रुओं को पराजित करता हुआ "हिन्दूवाट" नगर में पहुँच गया ॥३२ ॥

इसके अनन्तर भूपालों के मुकुटमणि हम्मीरराज को चरों के द्वारा दुश्मन के समागम का समाचार दिया गया तो उसने अपनी सभा में प्रसन्न चित्त वीरों के ऊपर दृष्टिपात किया ॥३३ ॥

तब प्रसन्नचित्त वीरम आदि आठ प्रधान वीरों ने राजा की इस चेष्टा का अर्थ अच्छी तरह समझ लिया और मुस्कराहट युक्त मुख कमल वाले वे वीर तीव्रता से म्लेच्छ राज की सेना का पीछा करने चल दिये ॥३४ ॥

सूर्य भी यह सोचकर कि मेरे प्रकाश में बहुत से मारे हुए म्लेच्छों को देखकर कहीं से योद्धागण दुःखी न हो जाय, वह अस्ताचल की चोटी पर जा पहुँचा—सूर्य अस्त हो गया ॥३५ ॥

और पक्षियों के इस प्रकार से भाव व्यक्त करने वाले कलरवों से मानो आकाश पूरी तरह से व्याप्त हो गया कि "हे शकों ! गण लेकर भाग जाओ। ये तीव्र क्रोध वाले क्षत्रिय वीर आ पहुँचे हैं ॥३६ ॥

सूर्य की किरणों के नष्ट हो जाने पर निम्न विचार वाले सुन्दर से लगने वाले अन्धकार ने चारों ओर फैलना शुरू कर दिया मानो वह अपने भाई-शकों से मिलने जा रहा हो ॥३७ ॥

"श्री वीरमेन्द्र" पूर्व दिशा से "महिमासाहि" पश्चिम दिशा से, "श्री जाजदेव'' दक्षिण दिशा से "गर्भरुक' उत्तर दिशा से, "रतिपाल" नामक वीर आग्नेय कोण से, शकेश "तिचिर" "वायव्य" कोण से, रणमल्ल नामक योद्धा "ईशान" कोण से एवं श्री वैचर "नैऋत्य" कोण से युक्तिपूर्वक शकाधिप अल्लाबदीन के भाई "उल्लूखान के शिविर के ऊपर—उपर्युक्त प्रकार अन्यान्य दिशाओं से आक्रमण करने लग गये। इन्होंने प्रतिज्ञा कर ली थी एवं वे सब रण के उत्साह से युक्त शरीर वाले थे ॥३८-४० ॥

किन्हीं वीरों ने शीघ्र ही चारों ओर की परिखाओं को मिट्टी से पाट दिया। अन्यों में ऊँचे "दलिक" के किले को जला डाला, दूसरे अत्यन्त वेग से अन्दर प्रविष्ट हो गये तथा दूसरों ने तम्बुओं की रस्सियों को काट दिया ॥४१ ॥

इस प्रकार से शक योद्धाओं का एक साथ ही स्वर निकला कि—"धैर्यपूर्वक रहो वीरों! व्याकुल मत होओ! हमारे धनुषों के आगे ये क्षत्रिय वीर कहाँ ठहर सकते हैं? हम शीघ्र ही इन्हीं को घास की तरह काट डालते हैं।" ॥४२ ॥

क्षत्रिय योद्धाओं के द्वारा आक्रमण किये जाने पर शक योद्धाओं में से किसी ने जल्दी से कटारें ले ली, किन्हीं ने लकड़ियाँ, किन्हीं ने धनुष और किन्हीं योद्धाओं ने मुद्गर ले लिये ॥४३ ॥

जब यवनों ने समस्त दिशाओं से मृदंग नादों को सुना तो वे शीघ्र ही डर से कांपने लग गये और अपने जीवन की भी शंका करने लग गये और दीनतापूर्वक कहने लगे—"हे विधाता"! आज क्या होगा?" ॥४४ ॥

योद्धाओं के सिंहनाद को सुनकर जो गज समूहों ने डरकर चिंघाड़े की तो उन्हें सुनकर भयभीत होकर घोड़े भी प्राण लेकर इधर-उधर भागने लग गये ॥४५ ॥

अपने हाथों में चञ्चल एवं तीक्ष्ण तलवार की चमकती हुई रोशनी से मानो दीपक जलाने वाले वीर लोग अन्धकार को दूर करते हुए स्वच्छन्दरूप से रण लीला कर रहे

थे ॥४६ ॥

जिस जिस शक योद्धा ने क्रोध के वशीभूत होकर जिस जिस भी अंग को बाहर निकाला, उस उस अंग को ही काट देने वाले चौहान वीर किसके लिए कौतुक की वस्तु नहीं थे? (सब उन्हें आश्चर्य से देखते थे।) ॥४७ ॥

भयभीत हुए म्लेच्छ लोग शीघ्र ही प्रत्यञ्चा के आघात को सुनकर ज्यों ही दिशाओं में दृष्टि दौड़ाते थे त्यों ही "चौहान" वीरों के द्वारा चलाये हुए बाण उनके गर्भ-स्थलों को बेध देते थे ॥४८ ॥

चौहान योद्धाओं के कर कमलों से छोड़े गये बाण समूहों से बेधे हुए बड़े-बड़े श्रेष्ठ हाथी रण भूमि में ऐसा शोभा दे रहे थे मानो नये नये सुन्दर पंखों वालो पर्वत हों ॥४९ ॥

योद्धाओं के प्रचण्ड बाण-वर्षण से अत्यन्त व्याकुल हृदय वाले यवन लोग समर भूमि में युगान्त पवन की भाँति काँपने लग गये ॥५० ॥

कोई योद्धा तो शस्त्रों से, तो कोई बाणों ही बाणों से, कोई बर्छियों से, कोई मुद्गरों से, कोई लकड़ियों ही लकड़ियों से कोई दाँतों से, तो कोई भुजाओं ही भुजाओं से ही युद्ध लीला कर रहे थे ॥५१ ॥

तलवार से काटे हुए शत्रु के हाथियों के कुम्भस्थल से गिरे हुए मुक्ता समूह ऐसे शोभा देते थे मानो वीर योद्धाओं के साथ आलिंगन करने से उत्पन्न हुए वे जय-लक्ष्मियों के पसीने के जल बिन्दुओं के समूह हों ॥५२ ॥

हम्मीर राजा के योद्धागण हाथियों की भांति शकराज की सेना के अन्दर प्रविष्ट हो गये थे। उन्होंने शत्रुओं के मुख रूपी कमलों की कान्ति को म्लान कर दिया था और खच्चरों की पंक्तियों को भङ्ग करके सेना के अन्दर प्रवेश कर लिया था ॥५३ ॥

मुझे शंका होती है कि शक योद्धाओं के रक्त की नदियों से ही समुद्र लाल हो गया था, अन्यथा चन्द्रमा उस समुद्र में से स्नान करके निकलने के पश्चात् लालिमा कैसे धारण कर सकता था? ॥५४ ॥

संसार को रचने वाले विधाता की निर्माण-शाला की भांति ही युद्धभूमि शोभा दे रही

थी जिसमें कहीं सिर, कहीं चरण-कमल, कहीं हाथ, तो कहीं भुजाएँ बिखरी पड़ी थीं ॥५५ ॥

इस रण रूपी सरोवर में, जो कि चञ्चल तुरङ्गों की बड़ी बड़ी तरङ्गों से और वीर रस के जल से परिपूर्ण था, तलवार से काटे गये छत्र श्वेत कमलों की भांति शोभा दे रहे थे ॥५६ ॥

भयंकर वीरता वाले क्षत्रियों के द्वारा निर्वीर्य की हुई अपनी सेना को देखकर बाणों और दण्डों से प्रताड़ित उल्लूखान भाग्यवश जीवित बच गया और पलायन कर गया ॥५७ ॥

कोई-कोई म्लेच्छ गण तो म्लान हो गये, तो कोई मूर्च्छित हो गये, दूसरे डर गये तथा अन्य म्लेच्छ लोग भाग गये। कोई यवन लोग हाहाकार कर रहे थे तो कोई प्राण बचाने को गुप्त स्थानों में छिप गये थे ॥५८ ॥

विजय में मत्त हुए "वीरम" आदि शत्रुओं को संकट मे डाल देने वाले वीरों ने चारों और अपने सैनिकों को युद्ध क्षेत्र के अन्वेषण में शक सेना के लूटने में जल्दी से लगा दिया ॥५९ ॥

घुड़सवारों को परास्त करने वाले योद्धाओं ने घोड़ों को बाणों से कटी पताकाओं वाले रथ के समूहों को और जिनके महावत व वीर भाग गये हैं ऐसे हाथियों को तथा अतुल रत्न समूहों को योद्धाओं ने खूब लूटा ॥६० ॥

वहाँ "रतिपाल" नामक योद्धा ने यवन योद्धाओं की मृगाक्षियों को अत्यन्त क्रोध के कारण बाँध करके उनसे हरेक गाँव में छाछ बिकवाई क्योंकि वह राजा हम्मीर की ख्याति को चाहता था ॥६१ ॥

इसके अनन्तर विष्णु भगवान की भांति यवन राज की सेना रूपी सागर को मथ कर जयलक्ष्मी का आलिंगन करने वाले सुभटों ने राजा हम्मीर को विजय की वार्ता से गद् गद् कर दिया ॥६२ ॥

अब "रतिपाल" की हाथी को भी मात करने वाली वीरता को सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए राजा हम्मीर ने "यह मेरा मदमत्त हाथी हैं" ऐसा कह कर सोने की जंजीरें रतिपाल के पावों में धारण कराई ॥६३ ॥

अन्य व्यक्तियों को भी सुन्दर वस्त्र आदि देकर सम्मानपूर्वक विदा कर देने पर भी यवन योद्धा वहीं रह गये। राजा द्वारा कारण पूछने पर वे इस प्रकार वहाँ रहने का कारण बताने लगे— ॥६४॥

"यदि हमारे जीवित रहते हुए वह गद्दार "भोजदेव" यहाँ "जगरा' नामक नगर पर शासन करता है तो वीरों की प्रतिज्ञा तो गायब ही हो गई है। हे राजन् मत डरिये ॥६५॥

जो हमने इतने दिनों तक उसको सहन किया उसमें आपकी उसकी बन्धुता ही कारण है। हे स्वामिन्! आपके देश में शत्रु सेना को ले आने वाले इस भोजदेव की कैसी बन्धुता है? ॥६६॥

हे राजन्! इसीलिए इन सबको युद्ध यात्रा करने के लिए ("जगरा" को) आदेश दिये जायँ" ऐसा उन यवन योद्धाओं के कहने पर खूब प्रसन्न हुए हम्मीर राज ने उनसे कहा—"हे भद्र पुरुषों! आप इस कार्य में शीघ्रता करो, शीघ्रता करो।" ॥६७॥

अब विजयलक्ष्मी के मोहन-मंत्र की तरह राजा के आदेश को प्राप्त करके वे सब यवन योद्धा "जगरा" नगरी को नष्ट करके और भोज के भाई "पिथम" को कुटुम्ब समेत बाँध करके वापस आ गये ॥६८॥

और यहाँ से—उस युद्ध भूमि से भागे हुए उस "उल्लू" उपनाम वाले "खान" ने किसी प्रकार दिल्ली पहुँच कर चौहान राज के द्वारा दिये गये सारे युद्ध वृतान्त को राजा अलाउद्दीन को सुनाया ॥६९॥

तब राजा के यों कहने पर कि "आप क्यों कायर की तरह भाग आये? उल्लूखान बोला—हे राजन्! यदि मैं भाग कर नहीं आता तो आपसे कैसे मिलता?" ॥७०॥

ऐसी सारी बात कह कर ज्योहीं शकराज का भाई उल्लूखान चुप हुआ ही था कि भोजदेव भी पश्चात्ताप से भरा हुआ वहाँ आकर आश्चर्य चकित हुए दरबारियों के सामने ही भूत ग्रस्त व्यक्ति की तरह भूमि पर लोट गया। उसने अपने वस्त्रों की जमीन पर फेंक दिया और जोर जोर से चिल्लाने लगा ॥७१-७२॥

"अरे, अरे, क्या हुआ?" ऐसे शकराज के द्वारा पूछने पर यह बोला—हे स्वामिन्! जो आज हो गया (घटित हुआ है) है उसे मरण पर्यन्त भी नहीं भूलूंगा ॥७३॥

"हम्मीर राज से प्रेरणा प्राप्त करके वह वीर शिरोममि "महिमासाहि" जगरा नगरी को नष्ट करके और कुटुम्ब समेत मेरे सहोदर को बाँध कर ले गया ॥७४ ॥

"लाभ के लिए प्रयत्न करने वाले व्यक्तियों का भी दुर्भाग्यवश समूल नाश हो जाता है—यह उक्ति आज से ही मेरे ऊपर उदाहरण स्वरूप घटित हो गई है ॥७५ ॥

"अतः मैं क्या करूँ, किसका आश्रय लूँ, कहाँ जाऊँ अथवा क्या बोलूं? अब तो हृदय वैसा आंदोलित हो रहा है जैसे कि हवा से उड़ाई हुई रुई हो जाती है।" ॥७६ ॥

जब अल्लाबदीन ने पूछा कि इन उपरि वस्त्रों पर क्यों लेट रहे हो—तो भोज ने उत्तर दिया—क्या आप नहीं जानते कि चौहान राजा ने सारी पृथ्वी जीत ली है?" ॥७७ ॥

तब भोज के वचन रण से भागे हुए भाई के विलाप के कारण दुःखी राजा अल्लावदीन के क्रुद्ध हृदय में वैसे ही पड़े जैसे कि आग में घी की आहुति पड़ती है ॥७८ ॥

इसके वचनों को सुनकर क्रोध से उसके अधर काँपने लगे, वह प्रतिक्षण अपने हाथों से अपने सिंहासन को दांये-बांये सरकाने लगा, अपने साफे को उसने उठाकर पृथ्वी पर फेंक दिया और वह म्लेच्छराज अल्लाबदीन इस प्रकार कहने लगा ॥७९ ॥

"हे भोजराज! तुम वीर आदमियों को लजाने वाले समस्त शोक को छोड़ दो। हे भाई। तुम अपने यश की क्रीडास्थली का विस्तार करने वाले धैर्य को धारण करो। मैं तुम्हारे दुःख के साथ साथ ही क्षण भर में ही हम्मीर का मूलोच्छदेन करके उसका मान मर्दन कर दूंगा ॥८० ॥

आज म्लेच्छराज को क्रुद्ध करने वाले हम्मीर के द्वारा निद्रा से निमीलित नेत्र युगल वाला सिंह जगा दिया गया है। उसके द्वारा केंचुली छोड़ने के पश्चात् भयंकर क्रोध वाले सर्प की मणि लाने की इच्छा की गई है और अग्नि से तपे हुए स्तम्भ पर समस्त अंगों का आलिंगन करने की इच्छा की गई है ॥८१ ॥

"सिंह के कण्ठ के ऊपर स्थित अयालों को कौन आज पैर से छूना चाहता हैं? कौन भाले की तीक्ष्ण नोक से आँख को खुजलाना चाहता है? सर्प के मुख गह्वर में कौन अपनी दन्तपंक्ति को डालना चाहता है अथवा कौन दुष्ट बुद्धि वाला व्यक्ति अल्लाबदीन राजा को कुपित करने की इच्छा करता है? ॥८२ ॥

यदि कोई देश चतुर, सज्जन व्यक्तियों से परिपूर्ण हो तो उससे क्या होता है? यदि दुर्ग भी करोड़ों योद्धागणों से रक्षित हो तो भी क्या लाभ है? संग्राम भूमि में यदि महाबलशाली अनेक वीर हो तो उससे क्या फायदा है? क्योंकि अल्लावदीन के क्रुद्ध हो जाने पर ये सब तुरन्त ही व्यर्थ हो जाते हैं ॥८३ ॥

"वीरम" यदि मदमत्त तथा चञ्चल वीर योद्धा तब तक गरजें तथा ऐसे तीर जिनके हाथों में शत्रुवीरों को परास्त करने की क्रीड़ा के कारण खुजली चल रही है वे तब तक गर्जन करें, जब तक कि "अल्लाबदीन" अपने धनुष की प्रत्यञ्चा की भयंकर ध्वनि से सारे संसार को बहरा बनाता हुआ वर्षा की छटा की भांति बाणों का वर्षण नहीं करता ॥८४ ॥

यदि हम्मीर पाताल में भी प्रवेश कर जायेगा तो मैं उसे भूमि खोदकर ले जाऊँगा। यदि वह स्वर्ग में चला जायेगा तो उसे मैं इन्द्र समेत आगे गिरा दूंगा। यदि उसने मेरी भुजाओं की वीरता संग्राम में आँखों से नहीं देखी तो क्या वह कहीं पर भी कानों से नहीं सुनेगा? (अर्थात् अवश्य सुनेगा) ॥८५ ॥

हे हम्मीर! तुम वीर हो किन्तु तुम्हारी वीरता तो अब मेरे नयनों के सामने आने पर ही प्रकट होगी। हाय! मद जल के बहने के कारण मलिन कपोल वाला हाथी तो तभी तक जंगल में घूमता रहता है जब तक कि जंभाई लेता हुआ मुँह खोलने वाला शेर सामने नहीं आ जाता ॥८६ ॥

जो कार्य कमलों के समूह पर वर्षा-पात करता है, मृगों के समूह पर शेर, पेड़ पर कुल्हाड़ी, अंधकार पर सूर्य, पर्वत पर वज्र और जंगल पर दावानल जो कार्य करता है अर्थात् उन्हें नष्ट कर देता है, वही कार्य मैं भी अब समर भूमि में पहुंच कर वीरों से युक्त चौहान कुल के साथ भी करूँगा अर्थात् चौहान वंश को नष्ट कर दूंगा ॥८७ ॥

तत्काल ही यवन राज अल्लावदीन ने अपने ही कर कमल से लिखे हुए पत्रों सहित भेजे हुए दूतों के द्वारा समस्त देशों के ऐसे ऐसे वीरों को बुलाया जोकि फड़कते हुए अभिमान से युक्त थे तथा प्रचण्ड भुजदण्डों की वीरता से सबको विस्मित करने वाले थे ॥८८ ॥



एकादश सर्ग

अंग, तिलक, मगध, मसूर, कलिङ्ग, बङ्ग, भट, मेदपाट, पञ्चाल, बङ्गल, थमीम, भिल्ल, नेपाल, गुहाल, हिमाद्रिमध्य, आदि देशों के सारे ही शकराज अपनी-अपनी अभिमान युक्त प्रौढ़ सेनाओं सहित यवनेश्वर अल्लावदीन की नगरी में आ पहुँचे ॥१-२ ॥

विजयश्री के साथ पाणिग्रहण करने के लिये इच्छुक वीरों से, लूटेरों के समूहों के द्वारा लूटने के लिए और कौतुक देखने के लिए चलने वाले अन्य लोगों से दिशाएँ खाली हो गईं ॥३ ॥

"मेरे चले जाने पर (यवनेश्वर के) युद्ध का कौतुक देखने के लिए सेनाओं के भार से दबी पृथ्वी को कौन धारण करेगा" इस प्रकार सोचकर मानो शेषनाग ही केवल इस यवनाधिपति अल्लावदीन की सेना का कौतुक देखने नहीं गया ॥४ ॥

घोड़े एवं हाथियों से युक्त इन सेनाओं के राजाओं के आदेश मात्र से ही चलने पर दशों दिशाओं के हाथी भी यदि सैन्य गजों पर स्थापित हो गये थे तो सूर्य के रथ के घोड़े भी सेना के अश्वों पर आरूढ हो गये थे ॥५ ॥

पैदल योद्धा, हाथी, रथ और घोड़ों के समूह उस प्रकार से फैल गये थे कि पृथ्वी पर कोई भी स्थान रिक्त नहीं रह गया था जैसे कि तिलों में तेल का ही अस्तित्व रहता है और जिसका तुषों की उपस्थिति से ही अनुमान लगाया जा सकता है। अर्थात् पृथ्वी पर सेना के हाथी, घोड़े, रथ आदि के कारण तिल धरने को भी स्थान नहीं था ॥६ ॥

तब सुपुष्ट भुजाओं वाले उल्लूखाँ और नुसरत खाँ नामक भाइयों को महाबल शाली सेना में आगे करके शकराज हमीर को जीतने चल दिया ॥७ ॥

"शकेश्वर आज भी पीछे आ रहा है" इस प्रकार क्षत्रिय कुलों में भय उत्पन्न करता हुआ स्वयं यहाँ शरीर मात्र ही होकर रहा। शकों का राजनीतिक का ज्ञान बहुत श्रेष्ठ था ॥८ ॥

निसुरतखान को मित्र प्राप्त करके उल्लूखान क्रोध से जलता हुआ शत्रु वंशों का उसी प्रकार समूल नाश करना चाहता था जिस प्रकार अग्नि वायु की सहायता से बांसों को जला डालता है ॥९ ॥

जहां जहाँ भी यह सेना जाती थी वहाँ वहाँ ही शेष नाग भी पृथ्वी के विध्वंस होने के डर से इधर-उधर सरक जाता था और शकराज की आज्ञा से उसका धैर्य लुप्त हो रहा था ॥१० ॥

"हमारे पैर पड़ने पर इस पृथ्वी को धारण करने को शेषनाग भी समर्थ नहीं है"—यह सोचकर घोड़े भी पृथ्वी पर तो अपनी गति कम, किन्तु आकाश में अधिक उड़ते हुए चलते थे ॥११ ॥

"दौड़ते हुए अश्वों के समूहों के पैर पड़ने से उड़ायी हुई धूल के ढेरों से समुद्र न भर जाएं"—इस कारण से हाथियों ने अपने मदजल के प्रवाहों से चारों ओर से पृथ्वी को सींच दिया ॥१२ ॥

"यदि हम पहले साथ होते तो क्षत्रिय क्यों हार जाते" ऐसा कहने वाले लोग अब कहते थे कि आज भी कुछ नहीं बिगड़ा है ॥१३ ॥

कितने हाथी हैं, कितने घोड़े हैं, कितने रथ हैं और कितने योद्धागण हैं"इस प्रकार पूछने वाले लोगों के लिए तो आदमियों द्वारा केवल एक ही उत्तर था कि कोई संख्या इनकी नहीं बताई जा सकती ॥१४ ॥

सब अंगों पर कवच धारण करने के कारण केवल योद्धाओं की दो आँखों द्वारा ही उनकी भयंकरता प्रकट हो रही थी। वे दौड़ते हुए ऐसे शोभा देते थे मानो लोहे के गोले दौड़ रहे हों ॥१५ ॥

शक सेनाओं के द्वारा मार्ग में नदियों का समस्त जल पी लेने के कारण उनका गंभीर तल भी आसानी से नजर आने लग गया था। जडात्माओं का अन्त सरलता से ही प्राप्त हो जाता है ॥१६ ॥

जहाँ इस शकराज ने भोजन किया वहाँ यह सोया नहीं और जहाँ इसने शयन किया वहाँ भोजन नहीं किया। इस प्रकार अनवरत प्रयाण करते हुए यह शत्रु की सीमा के पास आ गया ॥१७॥

चारों ओर फैली हुई शक सेनाओं द्वारा वह देश क्लेश युक्त बना दिया गया और लोग बाग शीघ्र ही प्राण लेकर इधर उधर भागने लग गये ॥१८॥

तब पर्वतों की घाटियों को देखकर पूर्व-में अनुभव किये गये डर को याद कर करके भयाकुल उल्लू खान निसुरतखान नामक अपने भाई को बुलाकर मधुरता से बोला— ॥१९॥

हे भ्रातः! ये पर्वत प्रवेश करने में कठिन हैं और उसके योद्धा भयंकर वीर है, अतः पर्वत की घाटियों में प्रवेश करने वाली हमारी सेना के लिए आने वाला संकट अब कल्याणकारी नहीं है।" ॥२०॥

"अतः क्षत्रियों को संधि के बहाने से धोखा देकर हम पहाड़ की घाटियों में सुखपूर्वक रहें। किसी भी कार्य के यदि उपाय से ही सम्पन्न हो जाने पर नीतिज्ञ व्यक्ति विक्रम-प्रदर्शन को अच्छा नहीं मानते।" ॥२१॥

इसके द्वारा तब विधि पूर्वक समझाकर "श्री मोल्हण" को संधि करने के लिए आदेश दिया कि श्री हम्मीर राजा के समीप वह चतुर व्यक्ति जावे ॥२२॥

और स्वयं सेनाओं को संभाल कर छलपूर्वक पर्वतों के मध्य में प्रवेश कर गया, यह सोचकर की यह हमारे लिए सुख कर होगा और शत्रु योद्धाओं द्वारा यह स्थल उपेक्षित भी रहेगा ॥२३॥

और स्वयं को श्रीमण्डप नामक तम्बू में स्थापित करके नेत्र-सरोवर के चारों ओर अपनी सेना को निर्भयतापूर्वक अवस्थापित कर दिया ॥२४॥

वह "मोल्हण" नामक दूत भी किसी प्रकार से राजा की आज्ञा से अन्दर प्रवेश प्राप्त कर गया और "रणस्तम्भपुर' (रणथम्भौर) को देखकर उसके नेत्रकमल आश्चर्य से चकित हो गये ॥२५॥

जिसके कि (रणथम्भौर के) तट भाग में स्थित स्फटिक से बने कपिशीर्षकों की शोभा

देने वाली पंक्तियाँ ऐसी प्रतीत हो रही थीं मानो दिशाओं रूपी तरुणियों की स्वयं की मुख शोभा निहारने के लिए दर्पण लगा रहे हों ॥२६ ॥

दोनों प्रदेशों की मणिमय सीढ़ियों की किरणों के समूहों के कारण क्रीड़ा करने की बावड़ियों में जल भी बड़ा सुन्दर लग रहा था और उसके ऊपर पुल भी बने हुए थे ॥२७ ॥

जिस नगर में मृगनयनी तरुणियों के वदन रूपी चन्द्रमा की शोभा द्वारा तो चन्द्रमा भी जीत लिया गया था। क्या इस चन्द्रमा ने दुःखी होकर जल राशि में प्रतिबिम्ब के बहाने से छलांग लगा ली थी? ॥२८ ॥

जहाँ पर त्याग एवं भोग के लिए विवेकयुक्त नागरिकों के द्वारा कर कमलों में पकड़ी हुई लक्ष्मी चंचल होते हुए भी पलायन करने को स्थान नहीं पाती थी, यह आश्चर्य की बात है ॥२९ ॥

'वायु की तरंगों से हिलती हुई ऊँचे-ऊँचे भवनों की ध्वजाओं की पंक्तियों में ही अस्थिरता (चंचलता) मानो व्याप्त थी किन्तु वहाँ की लक्ष्मी में एवं ललनाओं में चपलता नहीं थी ॥३० ॥

पक्के मकानों पर लगे हुए मणि-समूहों में से निकलने वाली किरणों के द्वारा प्रातः काल होने पर महलों के शिरोभागों पर स्थित दीपकों के प्रकाश धुंधले कर दिये गये थे ॥३१ ॥

जहाँ पर प्रातः काल स्फटिक भित्तियों पर मृगी जैसी आँखों वाली औरतें जिन्होंने अपना देह सौन्दर्य देख रखा है—काँच में भी अपने मुख को अच्छी प्रकार से केवल मङ्गल के कारण ही नहीं देखती थी ॥३२ ॥

जहाँ पर हाथी दाँत पर बने चित्रों वाले झरोखों पर बैठी हुई खिले कमल जैसी आँखों वाली दिव्य आभूषण धारण करने वाली रमणियाँ ऐसी मालूम होती थीं मानो वे विमान पर आरूढ देवियाँ हों ॥३३ ॥

महलों में जहाँ पर उच्च स्थलों पर स्थित स्वर्ण कलशों की प्रचुर शोभावाली प्रभाएँ वर्षा काल में उन्नत बादलों वाले पम्पा सरोवर की समता को प्राप्त हुई थी ॥३४ ॥

निरन्तर कमलों को धारण करने वाले, पक्षियों की पंक्तियों से शोभित तथा मधुर जल

से भरे जिसके सरोवर यज्ञों की भांति शोभा देते थे ॥३५ ॥

जहाँ पर शासन करने वाले स्त्री-पुरुष के जोड़ों (युगलों) के द्वारा जो कि निर्निमेष अवलोकन कर रहे थे—उनके द्वारा तो यह सन्देह ही व्यक्त किया जाता था कि ये झरोखें हैं या विमान हैं ॥३६ ॥

जिसमें किन्नरियों के द्वारा तो बिना यत्न के ही सुगन्धित द्रव्य जलाने की प्रक्रिया पूरी कर ली जाती थी क्योंकि विलासी व्यक्तियों के भवनों के भीतर जलने वाले सुगन्धित धूप में से उठने वाला धुँआ सर्वत्र फैलता रहता था ॥३७ ॥

"मेरी समृद्धि से स्पर्द्धा करके अधिक कीर्त्ति वाला कोई भी नगर यहाँ इस विश्व में नहीं है"—यह सोचकर मानो जिसके पर्वत शिखर पर चढ़कर यह नगर अपने मुख्य द्वारों से नेत्रों के बहाने से पृथ्वी को निहारता था ॥३८ ॥

जहाँ के घर भी रात्रि में अपनी किवाड़ रूपी पलकों को बिना बन्द किये हुए रहते थे—सोते नहीं थे—यह सोचकर कि घर में निवास करने वाले इन पुष्पों ने हमारा अपमान किया है। (रात्रि में पुष्पम्लान हो जाते हैं—इस कारण) ॥३९ ॥

शोभातिरेक के कारण अपमानित होने पर स्वर्ण की तराजुओं के कुछ श्यामल हो जाने पर उनमें प्रतिबिम्बित स्त्रियों के मुख रात्रि में ऐसे शोभा देते थे मानो स्वर्णकमल खिल रहे हों ॥४० ॥

सूर्यकान्त मणियों से निर्मित दीवारों पर प्रतिबिम्बित स्त्रीमुखों को कमल समझ कर गिरने वाले भँवरों को सुकेशी स्त्रियाँ अपनी ओर बुला लेती थीं ताकि वे अपनी से वदन कमल का दंशन न कर लें ॥४१ ॥

जहाँ रात्रि में कमलों की शोभा को भी परास्त करने वाले नेत्रों से युक्त रमणी के सुरत कार्य के कारण लज्जा से दीपक बुझा देने पर अन्धकार के नष्ट हो जाने पर भी दीवारों की चमकती मणियों की प्रभा से उसके यत्न विफल हो जाते थे ॥४२ ॥

जहाँ पर अनवरत उत्सवों में बजने वाले मृदङ्गों की आवाजें सुनकर जो अभ्यास बादलों ने प्राप्त किया था उसे वे आज भी मानों गर्जनों में प्रकट करते थे ॥४३ ॥

आँख मिचौनी के खेल में जहाँ पर सहेली के द्वारा पकड़े जाने के भय से निश्चल अंगों से खड़ी हुई बालिका देखने पर भी नहीं पकड़ी जाती थी क्योंकि वह पुतली (गुड़िया) के शरीर से सटकर खड़ी हो गई थी ॥४४ ॥

नेत्रों को आकर्षित करने वाली शोभा से युक्त कौतुक से भरपूर इस नगर को देखता हुआ वह दूत (श्री मोल्हण) रणथम्भौर में राजा के महलों की लक्ष्मी को नेत्रों से देखने लगा जैसे की कमलों की शोभा को भ्रमर देखते हैं ॥४५ ॥

मदमत्त हाथियों के मदजल से सिक्त कुंभ स्थल पर मँडराते हुए मस्त भँवरों ने तो अपने गुंजन की आवाजों से बसन्त ऋतु को जहाँ पर निवास करता हुआ बना दिया था ॥४६ ॥

वीरों की लक्ष्मी जहाँ एक ओर क्रीड़ा शैलों की भाँति श्रेष्ठ हाथियों से शोभित थी तो दूसरी ओर खुरों से समस्त विश्व को रौंद देने वाले अश्वों से श्वेत वर्ण की गङ्गा की लहरों से सुशोभित थी ॥४७ ॥

सभा को आयोजित करके विराजमान "हम्मीर देव" को उस "मोल्हण" नामक दूत ने देखा जो कि खड्ग हाथ में लिए हुआ था और चन्दन तरु पर अवस्थित सर्प की तरह प्रतीत हो रहा था, जो कि स्वभाव से ही प्रशस्त या उदार स्वभाव वाला था, जो कि महान् सिंहासन पर विराजमान होने से उदयाचल के शिखर पर उदित सूर्य की भाँति मालूम होता था, जो कि सिंहासन के रत्न आदि पर पड़ने वाले प्रतिबिम्बों के बहाने से मानों राजाओं द्वारा मस्तक की भांति धारण किया गया था, जो कि अत्यन्त चपल तरंगों वाली अपने अंगों की शोभा से समस्त कनक वर्ग को लघुता प्रदान कर रहा था, जो नक्षत्रों में चन्द्रमा की तरह देव समूहों में भगवान शंकर की भांति अपनी अद्वितीय महिमा के कारण समस्त राजाओं के समूहों में शोभित था तथा जो नीचे बैठे हुए सभासदों के पड़ने वाले प्रतिबिम्बों के कारण मानों समस्त सभा को परास्त कर रहा था। ऐसे श्रीहम्मीर देव को देखकर उसने हृदय में सोचा— ॥४८-५१ ॥

क्या यह कामदेव है? नहीं, क्योंकि यह अंग विहीन (अनंग) नहीं है, क्या यह अश्विनी कुमार हैं? नहीं, क्योंकि यह तो एक ही है, क्या यह विष्णु हैं? नहीं, क्योंकि यह तो दो भुजा वाला है और यह क्या इन्द्र हैं? नहीं, क्योंकि यह तो दो

नेत्र वाला है (इन्द्र तो सहस्त्र नेत्रों वाला होता है।) ॥५२॥

अन्य कार्यों को छोड़कर श्रेष्ठ वीरों के द्वारा "क्या क्या कहता है (यह दूत)" इस प्रकार सोचकर देखा जाता हुआ शीश को कुछ झुकाकर राजा को प्रणाम करके यह दूत स्पष्ट रूप से कहने लगा— ॥५३॥

"जिस अल्लाबदीन के सामने जो कि अपने तेजभाव से ही शत्रुगणों को जीतकर निर्भय राज्य का सृजन कर लेता है, व्यर्थ ही वर्षासन को धारण करने वाले योद्धागण अत्यन्त लज्जित हुए थे ॥५४॥

"जिसके आगे (अल्लाबदीन के) अधिकार में आने में अधिक कठिन दुर्ग भी, तीक्ष्ण धार वाले शस्त्र, रण के लिए उत्सुक वीर एवं गगन चुम्बी पर्वत भी कभी भी अपनी वास्तविक वृत्ति को धारण नहीं करते ॥५५॥

"जिसने शत्रुसमूहों को कैद में डालकर, दुर्ग्राह्यतर दुर्गों को तुरन्त ही तोड़कर—(ऐसे किले—जिनमें श्री देवाद्रि-नामक किले प्रमुख हैं)-इन्द्र को भी आश्चर्य चकित कर दिया ॥५६॥

"शत्रुओं के अनेक अधिक दुर्ग किलों को क्रीड़ा मात्र से ही तोड़ता हुआ "त्रिपुर" को भग्न करने वाले शंकर भगवान् के प्रति भी वह घृणा धारण करता है ॥५७॥

हे राजन्! इसके (अल्लाबदीन के) द्वारा मन में जो जो भी इच्छा की जाती है, वह वह इच्छा वह पूरी कर लेता है। मैं शंका करता हूँ कि विधाता भी उसके शासन को नष्ट नहीं कर सकता ॥५८॥

"उस अल्लाबदीन के दो भाई—उल्लूखाँ-निसरतखाँ तुम्हारे देश पर आक्रमण करके उसकी आज्ञा से ही मेरे मुख से तुमसे यह कहते हैं— ॥५९॥

"हे हम्मीर! यदि राज्य को भोगने की तुम्हारी इच्छा है तो एक लाख स्वर्ण मुद्रा, चार मदमत्त हाथी, तीन सौ घोड़े और भेड़ें तथा अपनी पुत्री को हमें देकर हमारे आदेश को सर आंखों पर चढ़ा लो ॥६०॥

"यदि इसे भी छोड़ दिया जाय (ये शर्तें नहीं मानी जाय) तो हमारी आज्ञा का जो उल्लंघन करने वाले चार मुद्गल (म्लच्छ) पठान हैं, उन्हें देकर गोद में आयी हुई राज्य

लक्ष्मी के संग क्रीड़ा करो ॥६१ ॥

जिस प्रकार से तुम्हारे किले का घेरा उठाकर हम अन्य देशों को विजय करने चले जायें, वैसा ही करो अन्यथा तुम युद्ध के योग्य ही कार्य करोगे और अब तुम्हारा यह अनुभव ही विरोध के स्वर कहेगा" ॥६२ ॥

इन वचनों को सुनकर भयंकर भृकुटी धारण करने वाले और भयंकर रूप से क्रुद्ध हुए राजा हमीर ने ऐसे वचन बोले जैसे कि विष बेल के पुष्पों पर भौंरे गुंजन करते हों। (विषयुक्त वचन बोला) ॥६३ ॥

जिस प्रकार से आप किसी प्रकार से यहाँ आये हैं वैसे ही यदि आप वशिष्ठ युक्ति से नहीं होते (दूत नहीं होते) तो जिस जीभ के द्वारा आपने यह वचन उच्चारण किये उसे तुरन्त ही निकाल लेता ॥६४ ॥

हाथी के दोनों दाँत की भांति, सर्प की मणि की तरह एवं सिंह के अयाल समूह की भांति भी चाहमान के जीवित रहते उसकी गदा को कोई बलपूर्वक नहीं उठा सकता ॥६५ ॥

हाथी और घोड़ों के पैरों पर यदि खड्गों के प्रहार किये जायें तो स्वर्ण की प्राप्ति होती है और यदि तुम्हारे दोनों स्वामी (उल्लूखाँ, नुसरत खां) आ जाते हैं तो वे सूअर के मांस का स्वाद प्राप्त करेंगे ॥६६ ॥

रक्षा करने में यदि अक्षम भी मैं होऊं तो भी शरणागत शत्रुओं की रक्षा करने में मैं कमर कसे हुए हूँ तो (मुद्गलों)—पठानों को मांगने वाले तुम्हारे दोनों मालिक क्या मूर्ख शिरोमणि नहीं है? (अवश्य ही दोनों मूर्ख हैं।) ॥६७ ॥

मैं बलपूर्वक तो एक विशोपक का सौवां भाग भी प्राण जाने पर भी नहीं देता। जो भी तुम्हारे मालिकों को अच्छा लगे वही वे शीघ्र ही इच्छानुसार करें ॥६८ ॥

इस प्रकार से बारम्बार उसकी भर्त्सना करके उसकी जनेऊ से उसके गले को बाँधकर योद्धाओं के सामने ही उसे बाहर निकाल दिया और किले की रक्षा के लिए विभाजन कर दिया ॥६९ ॥

जबरदस्ती से इस धर्मयुद्ध को नष्ट करने के लिए किले के भीतर बने हुए ऊँचे ऊँचे

एकान्त में स्थित पाण्डाल रात-दिन संग्राम में निष्णात वीरों से शोभित होने लगे ॥७० ॥

सीसे के लेप से चमकती हुई लोहे की मजबूत तम्बुओं की बल्लियों के बहाने से मानो पाण्डाल भी भयंकर क्रोध से अपनी बाहुओं पर कवच धारण कर रहा था ॥७१ ॥

राल के कारण मलिन हुआ लोहे के कड़ाहे में गरम-गरम तेल भी खूब उबलने की आवाज के बहाने से मानो शत्रु के युद्धोत्सुक वीरों की जलाने को उत्सुकता धारण करता हुआ मालूम होता था ॥७२ ॥

भैरव यंत्रों ने भी मन को चमत्कृत कर दिया था मानों शकों के इन्द्रजाल लोगों को बेहोश करने के लिये आ गये थे ॥७३ ॥

अत्यन्त रोषयुक्त दूत ने भी जाकर के अपने मालिक से वह सब निवेदन कर दिया जो कि राजा ने उनसे कहा था। और उन्होंने भी बिना विलम्ब किये हुए ही युद्ध के लिए सेना को सज्जित कर लिया ॥७४ ॥

ब्रह्मा की भांति नगर के मध्य में जो जो राजा ने युद्ध के उपाय किये थे वे वे ही वज्र हाथ में रखने वाले इन्द्र की भांति म्लेच्छराज ने भी क्रोधित होकर बाह्य भाग में किये ॥७५ ॥

शकराज के बाजों के बार बार डण्डों के बजने पर जो ध्वनियाँ प्रकट हुई उन्हें तिरस्कृत करके पर्वत भी अपनी गूंजों से अपमानित करके स्वामिभक्ति का त्याग नहीं करता था ॥७६ ॥

महावत हाथियों पर, अश्वारोही घोड़ों पर एवं रथवान् रथों पर सवार हो गये तथा चारों ओर से पैदल सैनिकों के समूह युद्ध के लिए कवायद करने लग गये ॥७७ ॥

गगन चुम्बी शिखर वाले इस पर्वत को भी अपनी बहादुरी के कारण क्षुद्र मानते हुए उत्साहयुक्त युद्ध के घोड़े तब लड़ने के लिए आगे चल दिये ॥७८ ॥

योद्धाओं के कर कमलों से छूटे हुए बाणों से दिशाओं में अन्धकार छा गया और साथ ही धनुषों की आवाजों से भी सारा संसार बहरा हो गया ॥७९ ॥

आकाश को पूर्णतया आच्छादित करने वाले बाणों से मानो बादलों का-सा ताण्डव हो

गया था, फिर अग्नि बाणों ने भी ऊपर-आकाश में पहुँचकर असमय ही क्रीडा करनी शुरू कर दी थी ॥८० ॥

वेग से बाण चढ़ाने, धनुष खींचने वाले योद्धाओं के तथा बिना पलक झपकाये देखने वाले देवताओं के मध्य में कोई अन्तर नजर नहीं आता था ॥८१ ॥

वर्षा काल के प्रारंभ में जैसे बादल शोभन छटा से वर्षा करते हैं वैसे ही किले से वीर बाण वर्षण कर रहे थे तथा तलवार के द्वारा निपुणता से कमलनालों की तरह यवन लोग उन्हें तुरन्त काट देते थे ॥८२ ॥

वीरों के समूहों के हाथों से छूटे हुए बाणों के मुखों के फटने पर निकलने वाले अग्नि कण पलायन करने वाले योद्धाओं की कीर्तिलता को मानो जलाते हुए शोभा दे रहे थे ॥८३ ॥

श्रेष्ठ क्षत्रियों द्वारा चलाये हुए बाणों के पुङ्ख भागों से युद्ध में ऐसी वायु पैदा हो गयी थी जिसके नशे के कारण शत्रु का दर्प रूपी सर्प भी व्याकुल चित्त वाला हो गया था ॥८४ ॥

योद्धाओं के द्वारा कान तक खींचकर चलाये गये अधोमुख एवं ऊर्ध्वमुख बाणों के कारण उत्पात करने वाले अधोमुख एवं ऊर्ध्वमुख शक लोगों के मेघ भी बरसने लग गये ॥८५ ॥

यवनों के द्वारा चलाये हुए बाणों से चारों ओर से बिंधे हुए अंगवाला पर्वत का तट भाग ऐसा शोभित था मानों शत्रु दर्प रूपी सर्प को नष्ट करने के लिए उसने जाहकत्व (सांप की केंचुली) धारण कर लिया हो ॥८६ ॥

वीर योद्धाओं के द्वारा अपने अंगों पर घुमाकर शत्रु के योद्धाओं के प्रति फेंकी गई बर्छियाँ तीक्ष्णता से गिरती हुई ऐसी मालूम होती थीं मानो शनिदेव की स्पष्ट दृष्टियाँ गिर रही हों ॥८७ ॥

अच्छे गोलचियों (तोपचियों) के द्वारा ऊपर की ओर चलाये गये तोप के गोले नीचे गिरते हुए ऐसे शोभा देते थे मानो दोनों ओर के योद्धाओं की वीर लक्ष्मियों के वे मोटे पुष्ट पयोधर हों ॥८८ ॥

ये क्षत्रियों के शौर्य की लक्ष्मियाँ दूर उठे हुए टिङ्कुलिका हाथ में लिये हुए मानो उड़ते हुए तोप के गोलों के बहाने से पंचे टंको (पचेटों—पत्थर के चपटे गोलटुकड़ों) से खेल रही थी ॥८९ ॥

फेंकी हुई राल के कारण गंदे एवं गर्म-गर्म तेल के कारण जलते हुए केशों के बहाने से शकों की क्षत्रियों पर, उमड़ी हुई क्रोधाग्नि हृदय में नहीं समाती हुई मानो बाहर निकल आई थी, ऐसी मुझे शंका है ॥९० ॥

परकोटे की दीवार खोदने में लगे हुए कुश एवं टांकियों को हाथ में लिए शक योद्धाओं को भालों से बींधकर बड़ों की भांति क्षत्रिय वीर ऊपर फेंक देते थे ॥९१ ॥

बन्दरों की तरह उछलकर पहाड़ पर चढ़कर कोई वीर योद्धा शाल वृक्षों में प्रविष्ट होकर के क्रुद्ध शूकरों की भांति उसे खोद रहे थे ॥९२ ॥

शकों के बाण समूह किले पर स्थित वीरों के शीशों को वैसे काट रहे थे जैसे कि हवा द्वारा उड़ाये हुए गुञ्जाफल शाखा की फुनगी पर स्थित पुष्पों को गिरा देते हैं ॥९३ ॥

पतले-पतले बाण जो कि नलियों में होने के कारण दिखाई नहीं देते थे, "भट" नामक देश के निवासी भटों के द्वारा चलाये ज़ा रहे थे और प्रतिपक्ष के वीरों के अंग छेद होने के कारण शकों के परिणाम को बता रहे थे ॥९४ ॥

शाल पर्वत की शिला को खोदकर व उसमें प्रविष्ट होकर क्षत्रियों के आक्रमण से भयभीत यवन लोग ऐसे मालूम होते थे मानो प्रचण्ड सूर्य की किरणों से वे अंधे हो गये हों ॥९५ ॥

वीरों ने जब अपने प्रहार के कारण जर्जर अंग वाले शक योद्धाओं को पर्वत से निकलते हुए देखकर जो अट्टाहास किये वे ही हम्मीर वीर के यशरूपी हास थे ॥९६ ॥

पर्वतों के वृक्षों में छिपे हुए गरुडासन से बैठे हुए यवन राज के योद्धा गण हमीर के वीरों द्वारा चलाये गये बाणों से विद्ध होकर चित्रलिखित से लग रहे थे ॥९७ ॥

नसैनी (सीढ़ी) के सहारे चढ़कर प्राण बचाने वाले तथा अन्य दाँतों से आरोहण करने वाले व्यक्ति दुर्ग में स्थित योद्धाओं द्वारा गदा के प्रहार से प्रचुर मात्रा में नीचे

गिर रहे थे ॥९८ ॥

इस प्रकार अनेक उपायों से आगे बढ़ने का साहस प्रदर्शित करने वाले यवनराज के शकवीरों की कालरात्रि की तरह तीन मास बीत गये ॥९९ ।

दूसरे दिन युद्ध प्रारम्भ होने पर शकों के गोले से एक तोप का गोला टकरा कर फट गया जिसके निकले हुए टुकड़े से सिर पर आगात पाकर निसुरतखान विनष्ट हो गया ॥१०० ॥

अब अचानक ही इसे मृत देखकर आँखों में आँसू भर कर यह अविदित मध्यम शकराज (उल्लूखाँ) बहुत रोया ॥१०१ ॥

इसके पश्चात् शोक रोककर इस शक मध्यम उल्लूखाँ ने स्वर्ण जटित सुन्दर मञ्जूषा के अन्दर नजराना (भेंट) रखकर किसी प्रकार से धैर्य धारण करके अपने समस्त युद्ध वर्णन के साथ एक ज्ञापन पत्र दिल्ली को बादशाह अल्लाबदीन के पास भेज दिया। साथ में निसुरतखान का शव भी उसमें रखकर भेजा ॥१०२ ॥

इसे देखकर शोकाभिभूत होकर शत्रु द्वारा किये गये समस्त अपमान (पराजय) सुनकर, क्रोध से काँपता हुआ युक्तिपूर्वक निसुरतखान का समस्त अन्तिम कृत्य करके वह यवनों का एक मात्र अधिपति अल्लाबदीन शीघ्र ही रणथम्भौर की ओर चल दिया। वीर लोग शत्रु द्वारा किये गये किसी अपमान को क्या कभी सहन नहीं करते हैं? कदापि नहीं ॥१०३ ॥



द्वादश सर्ग

अल्लाबदीन बादशाह को आया हुआ सुनकर उदार बुद्धि धन वाले और वन भूमि के लिए मेघस्वरूप राजा हम्मीर ने दुर्ग के ऊपर हर पद पर छाजले (सूप) बाँध दिये ॥१ ॥

उस अद्‌भुत बात को देखकर मुस्कराकर एवं विस्मय से युक्त नेत्रवाले शकाधिपति ने प्राचीर पर स्थित व्यक्तियों से हाथ के इशारे से पूछा— ॥२ ॥

इसकी बात को सुनकर के अत्यधिक हर्ष को धारण करते हुए हम्मीर राज ने थोड़ा हँसकर मुख कमल को उठाकर के उस शक राज से यह वाणी की— ॥३ ॥

"हे म्लेच्छराज ! आपके द्वारा शुभ कार्य किया गया है, जो आप यहाँ आये हैं। खूब वस्तुओं के संचय के कारण घर के पूर्ण होने पर स्तूपों का सञ्चय भार के लिए क्यों होता है ? (अर्थात् हमारे पास पर्याप्त भोजनादि सामग्री है, घेरा डालने से कोई लाभ नहीं— ॥४ ॥

राजा के इस वचन को सुनकर शकराज बोला—"हे हम्मीर राज ! मैं तुम्हारे ऊपर सन्तुष्ट हूँ। हे वीर वर ! इच्छित वस्तु मांग लो ॥५ ॥

अब क्षत्रियोत्तम हम्मीरराज ने कहा—"यदि ऐसा ही है तो तुम दो दिन तक हमसे युद्ध करो। हम बलशालियों के लिए युद्ध के अतिरिक्त और क्या चाहिये जो व्यर्थ बकवाद करें ॥६ ॥

उसके वचन सुनते ही शकराज बार-बार क्षत्रियों के व्रत की प्रशंसा करने लगा। प्रातः काल वही (युद्ध) होगा ऐसा कहकर अपने तम्बू में चला गया ॥७ ॥

"प्रातः काल कब होगा" ऐसा तुरन्त ही रण की बात सोचने वाले वीर पुरुषों की प्रिय

वस्तु करने के लिए मानों सूर्य ने भी पूर्व दिशा के पर्वत की गोद में सुन्दर शरीर धारण कर लिया ॥८॥

तब लक्ष्मी के भार से सुन्दरता के गुण को दोनों ने तेजी से धारण कर लिया—कमलों ने तालाब के अन्दर और योद्धाओं के मुख चन्द्रों ने सेना के अन्दर ॥९॥

जैसे रात्रि आने पर फैलने वाले अन्धकार समूह को नष्ट करने की इच्छा से आकाश में सूर्य का प्रकाश सबका मान मर्दन करने वाले व्यक्ति की भांति प्रकट हो गया था वैसी ही पापी व्यक्तियों की मूर्ति वाले शत्रुओं के समूह को नष्ट करने की आकांक्षा करता हुआ वीरों का प्रकाश भी सेना में प्रादुर्भूत हो गया था ॥१०॥

तब राजा (हम्मीर) ने उचित रीति से बलि क्रिया करके युद्धरूपी मनोरंजन के लिए जल्दी से अपने सैनिकों को रण में उतार दिया ॥११॥

तब वीर योद्धा—छत्तीस आयुधों को धारण करके जिनमें नवीन उत्साह था, जिनमें प्रचुर साहस से युद्ध करने करने का चाव था और युद्ध में आने के कारण जिनकी अंगों की कान्ति बढ़ गई थी—(ऐसे वीर योद्धा रण के लिए बाहर निकले) ॥१२॥

शृङ्गार रस में तो संग्राम से उत्पन्न होने वाला वीर रस अवश्य ही विशेष मधुरता प्राप्त कर लेता हैं क्योंकि प्रियतमा के आलिंगन को त्याग कर वीर लोग रण के लिए प्रस्थान कर गये थे ॥१३॥

संग्राम के मिलने के आनन्द के कारण ही वीरों के अंग बहुत अधिक विशाल हो गये थे, क्योंकि वे तो बड़े बड़े कवचों में भी उनके अंग समा नहीं रहे थे ॥१४॥

कोई-कोई वीर तो डर के कारण मानो हिलती हुई मृगाक्षी की केश राशि को देखकर ध्यान मग्न होकर संग्राम में चलते हुए खड्गों की कल्पना करता हुआ तलवार उठाकर चल दिया ॥१५॥

अंगों में लगने वाले बाण अधिक सुखकर होते हैं अथवा ललनाओं की तिरछी चितवनें अधिक प्रिय लगती हैं—इस प्रकार का विवेचन करने वाला कोई वीर धरती कँपा देने वाली रणभूमि को अलंकृत करता था ॥१६॥

कोई रमणी मुस्कराकर हितपूर्णवाणी में बोली—"मैं अग्नि मार्ग से तुम्हारे हृदय की एकाकिनी

सहचरी होती हुई भी पहले ही स्वर्ग पहुँच रही हूँ। क्या तुम भी इस युद्ध मार्ग में मेरे हृदय के एकाकी सहचर हो? ॥१७॥

ऐसे ही अन्य सुन्दरी भी हँसकर अपने किसी वीर पति से बोली—हे कामुक! रण भूमि में शत्रु के हाथियों के कुम्भस्थलों को मेरे स्तन समझ कर तुम काय रस की संगति के अभिलाषी मत हो जाना।" ॥१८॥

प्रियतम की ओर तिरछे नयन करके कोई कहती थी "हे प्रियतम! यदि मैं तुम्हारी प्रिय हूँ तो अपने द्वारा उखाड़े हुए हाथी दाँत से निर्मित चूड़ियों से मेरे हाथों को सजाना ॥१९॥

अत्यधिक स्नेह के कारण जब अपने हाथ से माता ने अपने पुत्र के सिर पर तिलक किया तो कोई वीर शिरोमणि वीरता के कारण उसे कवच से भी अधिक मानता हुआ (रण के लिए) चल पड़ा ॥२०॥

हे पिताजी! हाथ में तिरछा खड्ग लेकर शत्रु वीरों के हाथियों को मारने के लिए मैं भी जाऊँगा ऐसी बात कहने वाले पुत्र के प्रति बार बार हँसते हुए कोई वीर युद्ध के लिए चल पड़ा ॥२१॥

किसी पुत्र से प्रसन्नवदना मां ने कहा—"हे पुत्र! आज युद्ध में पहुँच कर अपनी भुजाओं के पराक्रम को उसी प्रकार से बढ़ा बढ़ा कर बताना कि जिससे मैं वीर माताओं में श्रेष्ठ कहलाऊं।" ॥२२॥

अन्य योद्धा भी तब मूर्तिमान् होकर भयानक रस की तरह युद्ध में मानो चल पड़ा जिसने कि सुपुष्ट वीर रस से संगम के कारण पैदा हुए रोमाञ्च मात्र से ही कवच समूह तोड़ डाले थे, जो कि फड़कता हुआ और लाल-लाल भयानक आँखों वाला था ॥२३॥

शत्रुओं के वीर व्यक्तियों का मान नष्ट करने वाली ही चतुरंगिणी सेना नहीं हो बल्कि वह नियमानुकूल युद्ध करने वाली भी हो—ऐसा सोचना हुआ युद्ध के बाजे की ध्वनि सुनकर अन्य युद्ध जीतने के लिए जल्दबाज योद्धा प्रयाण कर गया ॥२४॥

ऊपर गृध्र को (गिद्ध पक्षी को) भ्रमण करते हुए देखकर अन्य कवच पहनते हुए योद्धा ने कहा कि—"(हे गिद्ध!) यहाँ प्रतीक्षा करो। दुश्मन के सिर पर अथवा अपने ही शरीर पर तुम टूट पड़ना। मैं तुम्हारे ऊपर सफलता युक्त श्रद्धा करता हूँ ॥२५॥

युद्ध में जीवित रहने वाले को यश प्राप्ति होती है और युद्ध में मरने वाले का यश तो और भी अधिक विस्तृत हो जाता है और वह देवताओं का प्रिय होकर स्वर्ग में पहुँच जाता है। ऐसा विचारने वाले वीर समूह को रास्ते मे कहीं पर भी अपशकुन नहीं मिलते थे ॥२६ ॥

इलायची, लौंग से युक्त शीतल जल से भरे हुए घटों को शीश पर रखकर प्रेम पूर्वक अपने प्राणप्रिय पतियों का अनुसरण करने को समस्त वीर योद्धाओं को पत्नियाँ तैयार हो गी ॥२७ ॥

बादशाह अल्लाबदीन भी प्रचण्ड योद्धाओं को नष्ट करने की इच्वा से आकुल हृदय होकर सेना को सजाकर अनुज, उल्लूखाँ आदि भटों के साथ उचित स्थान पर चुपचाप युद्ध में आ पहुँचा ॥२८ ॥

वीर योद्धा और उनके बाद नाद—दोनों ही एक दूसरे के देखने मात्र से ही भयंकर क्रोध के कारण बढ़ी हुई महिमा वाले हो गये जैसे कि प्रतिरव होते हुए ही गूँज सुनाई देती है और चण प्रत्यय लगने से शब्द में कुशलता का भाव लग जाता है ॥२९ ॥

आकाश को छूने वाले सुन्दर चँवर और दिशाओं में सर्वत्र फैलने वाले हाथियों की चिंघाड़ होने पर—ये दोनों ही परस्पर सेना में अधिक से अधिक शोभा की होड़ लेते थे ॥३० ॥

परस्पर युद्ध के कारण योद्धाओं के हृदय में उत्साह भरने वाले और अपनी आवाज से दिशाओं को परिपूर्ण करने वाले तूर्य-वाद्य दोनों सेनाओं के मध्य बजने लगे ॥३१ ॥

अब अपनी भुजाओं की खुजली को शत्रुओं के हाथियों के कुम्भस्थलों के घर्षण द्वारा मिटाने के लिए रण के जोश के कारण कवचों को भी तोड़ देने वाले योद्धा गण दोनों सेनाओं में से आगे चल दिये ॥३२ ॥

तब योद्धाओं का द्वन्द्ध युद्ध होने लगा। पैदल-पैदल से, महारथी महारथी से, हाथी पर सवार योद्धा हाथी पर बैठे योद्धा से युद्ध करने लग गया ॥३३ ॥

भयंकर विक्रम दिखाने के कारण वीर यूथों के सिर के बाल शिरस्त्राणों को ऊँचा करते हुए मानो साँस ले रहे थे वैसे ही जैसे कि पृथ्वी के अन्य भागों को भयंकर

प्रलय के समय ज्वालामुखी पर्वत ऊँचा करके साँस लेते हैं ॥३४॥

हठपूर्वक रण भूमि में लगातार छोड़े हुए बाण समूहों से विजयश्री के साथ पाणि-ग्रहण करने के लिए योद्धाओं ने मानो मण्डप सा बना दिया था ॥३५॥

धनुष रूपी सूर्यमण्डल से चमकती हुई और निकलती हुई बाणरूपी किरणों ने दुश्मन के वीर रूपी अन्धकार को युद्ध में केवल कथा मात्र ही शेष रहने दिया था। (शत्रु वीरों को मार डाला था) ॥३६॥

"युद्ध में बाण छोड़ने वाले व्यक्तियों से होने वाला समागम मुझे पवित्र करने वाला होगा।" यह समझकर प्रसन्नता के कारण मानों आकाश रोमाञ्चित हो रहा था क्योंकि लक्ष्य से चूके हुए जो नीचे गिर रहे थे वे ही मानो उसके रोम थे ॥३७॥

वीरों के द्वारा प्रचुर मात्रा में चलाये हुए और आकाश में सघन रूप से फैले हुए बाणों के. बीच में निकलने के डर से मानो सूर्य भी अपनी किरणें फेंकने में असमर्थ हो गया था ॥३८॥

वीरव्रत के आलिंगन के क्षण में कोई रुकावट न हो यह सोचकर कोई-कोई योद्धा तो सघन बाण समूह के चलने पर बड़ी बड़ी ढालों को भी मानों नहीं ले पाये थे ॥३९॥

वेग के कारण वायु को भी परास्त करने वाले कणों के चलने पर मानों वैरियों की साँस भी निकलने लग गई। उनके (वीरों के) अंगों को भेद कर साँसों को बिना देखे ही मानो बाण भी उनके पीछे-पीछे ही चल रहे थे। (बाणों से वीर बिंध कर मर गये ॥४०॥

अन्य योद्धा ने शौर्य लक्ष्मी की भुजाओं और स्तनद्वय के स्पर्श सुख का अनुभव कर लिया था क्योंकि दोनों बगलों में हाथियों के दन्तद्वय थे और हाथी के कुम्भ पर उससे अपने कर कमल रखे हुए थे। (हाथी पर योद्धा मारा जा चुका था) ॥४१॥

शत्रु के द्वारा बाण से घोड़े की पीठ पर अत्यधिक बाण की नोंक घुस जाने के कारण पिरोया हुआ अन्य योद्धा भी मरण प्राप्त होने पर भी घोड़े से नीचे नहीं गिरा मानो वह युद्ध में जीवित ही था ॥४२॥

अन्य योद्धा के हाथी पर चढ़ने के लिए एक टांग लम्बी करने पर और दूसरी टांग हाथी के दाँत पर रख देने पर क्रोध से घूमता हुआ हाथी ऐसा मालूम होता था मानो कि उसने युद्ध क्षेत्र में दो-दो सूँडे धारण कर रखी हों ॥४३ ॥

दूसरा योद्धा भी सिर के दो टुकड़े होने पर और उसे हाथ में लेकर के दुश्मन को मारने की बात सोचते हुए अन्य योद्धा के बाण लग जाने के कारण भी हर्षयुक्त हो युद्ध के लिए दौड़ता था ॥४४ ॥

दुश्मन के द्वारा काटा गया किन्तु पुनः अपने ही पेट चिर जाने पर निकाली आँतों द्वारा बाँध कर रखा गया सिर लेकर अन्य योद्धा फिर युद्ध कर रहा था ॥४५ ॥

किसी योद्धा ने शत्रुशरीर के हाथ को काटकर मुस्कुराकर काम चरित करने वाली, बिना म्यान की, प्रेमयुक्त, शुभ्र कान्ति धारण करने वाली तलवार को उसकी प्रियतमा की भांति छीन लिया था ॥४६ ॥

अन्य योद्धा के एक पैर को अपने विशाल पाँव से पकड़ कर और दूसरे पैर को अपनी सूँड से जोर से खींच कर इस हाथी ने दोनों लोकों का साधन कर लिया उसने ऐसा सोचते हुए युद्ध में उसके दो टुकड़े कर दिये ॥४७ ॥

इन हाथी के कुम्भ स्थलों के द्वारा मेरी प्रियतमा के कुच युगल की शोभा हरण कर ली गई है" ऐसा सोचकर अन्य कुछ योद्धा ने हाथी के दोनों कुम्भस्थलों को विदीर्ण कर दिया और महावत के प्रहार को भी सहन कर लिया ॥४८ ॥

कोई दो योद्धा आपस में तलवारों के तेज प्रहार के कारण हृदयों के छिन्न भिन्न होने के कारण रणभूमि में मृत होने पर मानों आपस में आलिंगन करते हुए शोभा देते थे ॥४९ ॥

अच्छे बाँस से बने हुए आकार वाला और बाणों से युक्त उत्तम डोरी वाला धनुष देखकर के किसको वैसी कंपकपी नहीं आती थी जैसे कि किसी अच्छे वंश में उत्पन्न अनेक भूषणों से सज्जित और गुणशाली वेश्या को देखकर सब रोमाञ्चित हो जाते हैं ॥५० ॥

किसी योद्धा की तलवार हाथी के कुम्भस्थल के रक्त की मदिरा को छक कर पीकर मानो मदमस्त हो गई थी और वह बार-बार दुश्मनों के वक्षः स्थलों पर प्रहार

कर रही थी ॥५१ ॥

शत्रु के द्वारा आगे के दोनों पैर कट जाने पर हाथी पृथ्वी पर गिर गया था और वह उठने के लिए मानो अपने दोनों दाँतों को ही मानों पैरों की भांति काम में ले रहा था ॥५२ ॥

शत्रु द्वारा छोड़े हुए बाणों से कटी सूंड वाला हाथी सूंड कटते समय दुःखी नहीं हुआ था किन्तु अब सामने फड़कते हुए शत्रुवीर को देखकर प्रहार करने में असमर्थ होता हुआ बहुत व्यथा को प्राप्त हो रहा था ॥५३ ॥

जब कोई शत्रु का प्रचण्ड योद्धा हाथी के अग्रभाग पर प्रहार करके बार-बार उसके पृष्ठ भाग की ओर चला जाता था तो क्रोध से दुश्मन का वह हाथी मानो उसकी गंध सूंघता हुआ वायु से विनोद करता था ॥५४ ॥

अन्य योद्धा बाणों से सारे अंगों को बेध कर हाथी को मारकर पुनः हथिनी की ओर आक्रमण करता हुआ ऐसा मालूम होता था मानो पराशर पुत्र—व्यास जी हंसों के जाने के लिए द्वार निर्माण के लिए क्रौञ्च पर्वत भेदकर भेद करके मार्ग बना रहे हों ॥५५ ॥

शत्रुओं पर भयंकर बाणों की वर्षा करने के लिए किसी भी प्रत्यञ्चा के माध्यम से वर्तुलाकार धनुष चढ़ाने पर मध्य में आया हुआ मुखकमल वैसे ही अत्यधिक शोभा देता था जैसे कि गोलाकार चन्द्रमा के बीच में उसका बिम्ब ॥५६ ॥

किसी योद्धा के शरीर को दो भागों में बँटे हुए देखकर और उसका केवल दाहिना आधा भाग देखकर के दिशाओं ने विचारा कि इन्द्र के स्वामी शकंर भगवान् बिना उमा के ही प्राप्त कर लिये हैं और वे इधर उधर दौड़ भाग करने लग गई थी ॥५७ ॥

तब संग्राम करने वाले राक्षसों का यज्ञ में महान् परस्पर का हठ मालूम हो गया था क्योंकि एक ओर के राक्षस रक्त की नदी बहाते थे तो दूसरी और तुरन्त ही उसे पी जाते थे ॥५८ ॥

संग्राम के असंख्य विवरों में छिप जाने के कारण तथा उनके अतिथि सत्कार के साधनों के द्वारा मानो बहुत उत्सुक होती हुई दोनों सेनाएं सूर्य के दूसरे लोक में चले

जाने पर तब युद्ध से विरत हो गई ॥५९ ॥

द्वितीय दिन का युद्ध—

योद्धा लोग किसी प्रकार से स्वप्न में युद्ध प्रसंगों को देख देख कर रात बिता कर प्रातः फिर अपने राजा की आज्ञा से संग्राम भूमि में मन को लगाने लग गये ॥६० ॥

अब दोनों सेनाओं के तैयार हो जाने पर ये योद्धाओं के स्वर्णमय कवचों के कारण युद्ध भूमि भी पूर्व दिशा की भांति सुनहरी शोभा को प्रचुर रूप से धारण कर रही थी ॥६१ ॥

शत्रु की खड्ग के प्रहार के कारण रण भूमि में मूर्च्छित हुआ कोई योद्धा उठकर फिर लड़ने लग गया था मानो उसे लेने आई हुई किसी अप्सरा के हाथ का उसने अमृतस्पर्श कर लिया था और वह जीवित हो गया था ॥६२ ॥

उछल करके वीर कलश के द्वारा क्रोध करके छोड़े गये और महावत के सिर फोड़कर निकलने वाले भाले से अन्य हाथी भेद दिया गया और वह ऐसा मालूम होता था मानो युद्धभूमि में अपने बण्डे में खड़ा हो ॥६३ ॥

शत्रु के हाथी के साथ युद्ध के समय उसके दोनों और लग जाने के कारण समान लम्बाई के दांतों के कारण उज्ज्वल मालूम हो रहा था एक अन्य हाथी। रणभूमि में घूमता हुआ वह ऐरावत की शोभा धारण करता था ॥६४ ॥

शत्रु के बाण समूह लगने से अनेक घाव होने के कारण पागल हुए हाथी के कुम्भ स्थल से रक्त धाराएँ निकल रही थी और उसकी मद धाराएँ भी निकल कर मानों परस्पर स्पर्धा कर रही थीं ॥६५ ॥

किसी योद्धा की भयंकर तलवार से कटे हुए पेट के नीचे गिरती आँतें ऐसी मालूम होती थी मानो उस मृत योद्धा को स्वर्ग ले जाने के लिए तुरन्त ही अप्सराओं द्वारा पाशों का समूह फेंका गया हो ॥६६ ॥

रण के लिए क्रुद्ध होकर हाथी के दौड़ने पर एक दूसरे के ऊपर अश्वगण गिर पड़ते थे। यह देखकर देवगण हँस पड़े और मानों वही हंसी उस के सिर पर पुष्पों की भयंकर वर्षा की भांति लग रही थी ॥६७ ॥

किसी योद्धा की भुजा को काटकर भाले के घावों से निकली रक्त की शोभा देखने से ऐसा मालूम होता था मानो वीरश्री के द्वारा वीरवरों के ऊपर नये कुंकुम की राशि छिटक दी गई हो ॥६८ ॥

"श्रीवृक्षकी" नामक श्रेष्ठ घोड़े ने भी युद्ध क्षेत्र में अपनी सफल उन्नति को प्रकट कर दिया था क्योंकि वह भी अपने सवार से भी ऊँचे अश्वारोहियों को सरलतापूर्वक मार डालने में प्रवीणता दिखा रहा था ॥६९ ॥

उछल करके हाथी के कुम्भ स्थल पर सवार अपने ओजस्विता के कारण अद्‌भुत यश की श्वेत छवि के कारण शोभायमान अन्य घोड़ा भी ऐसा लगता था मानो ऊंचे पर्वत पर उसकी चोटी पर लगा हुआ वर्षाकाल का बादल हो ॥७० ॥

समर रूप तालाब में क्रीड़ा करता हुआ शत्रुओं का हाथी युद्धभूमि मे पड़े हुए वीरों के मर्दन करने के कारण और पैरों में आँतों के लग जाने के बहाने से ऐसा शोभा देता था मानो वह सेवार नामक जल की घास में उलझ गया हो ॥७१ ॥

एक हाथी ने तो सूंड पर उठाकर एक घुड़सवार को युद्ध भूमि में गेंद के समान फेंक दिया था तो दूसरे ने सूंड से घोड़े की कमर पकड़कर उसे धोबी के वस्त्रों की भांति जमीन पर फेंक दिया था ॥७२ ॥

और किसी की तलवार को युद्धभूमि में शत्रुओं के लिए हंसों की भांति विनाशकारी हो गई थी और बादल की भांति आचरण कर रही थी। उसने झरनों की धाराओं की भांति रक्तधार बहाकर कौतुक उपस्थित कर दिया था और अपने तेज के समूहों से मानो सैकड़ों जलाशय भर दिये थे ॥७३ ॥

किसी योद्धा का प्रत्यञ्चा को छोड़कर चलने वाला बाण यथेच्छ अपने लक्ष्य पर दौड़ जाता था और दो करोड़ शत्रुवीरों के सामने भी इस समय इसका धनुष नहीं झुकता था ॥७४ ॥

योद्धाओं की ज्योतिर्मय मूर्त्तियों से रण के चारों ओर से व्याप्त हो जाने पर देवताओं के द्वारा भी आकाश में सूर्य मण्डल क्षण भर के लिए भी नहीं देखा जाता था ॥७५ ॥

किसी वीर का तना हुआ धनुष रण भूमि में क्रोध युक्त आँखों की लाल-लाल द्युति

आवलि से युक्त होता हुआ ऐसा शोभा दे रहा था मानो वह अग्नि कुण्ड हो और उसमें शत्रुरूपी पशुओं का हवन करते हुए वह जयश्री की प्राप्ति का प्रयत्न कर रहा हो ॥७६ ॥

क्रोध के कारण दौड़ाये हुए रथ के पहियों के टूटने पर टूटे हुए अस्थि पंजर की भांति शब्दों के साथ ये पहिये मेरे जीवित रहते हुए ही क्यों घूम रहे हैं—ऐसा विचार कर अन्य योद्धा गिर कर मर गया ॥७७ ॥

रणभूमि में शत्रुवीरों को पलायनाभिमुख करते हुए और उन्हें कदम-कदम पर दौड़ते रथों से गिराते हुए वीरों ने अपनी प्रशंसा प्राप्त की और मरने वाले वीरों ने भी किले का कोट तो बचा ही लिया है—ऐसा मान कर कीर्ति का अनुसरण किया ॥७८ ॥

तब स्वर्ग में भी आपस में अप्सराओं के मध्य भयंकर युद्ध हो गया था क्योंकि वे भी संग्राम में युद्ध करके उन्मत्त हाथियों द्वारा फेंके हुए वीरों को वरण करना चाहती थीं—इस व्यापार में उन के चित्त बड़े उत्सुक प्रतीत होते थे ॥७९ ॥

उधर वीर वरों की ललनाएँ तुरन्त अपने मृत पति का हृदय से आलिंगन करके चिता में प्रवेश कर जाती थीं—यह सोचकर कि स्वर्ग में अप्सराएँ हमसे पहले ही इनको वरण न कर लें ॥८० ॥

योद्धाओं की युद्धस्थली कहीं पर तो छत्रों के कारण श्वेत कमल युक्त, कहीं पर (कटे) हाथों (गिरे होने) के कारण पत्तों से युक्त, तो कहीं कटे बालों के (बिखरे होने के) कारण शैवालयुक्त-सी शोभा देती थी ॥८१ ॥

युद्ध स्थल पर बड़े जोर से हिनहिनाने की ध्वनियों से मानो घोड़े दुःख से विलाप करते थे क्योंकि शस्त्रों के प्रहार से मूर्च्छित हो जाने के कारण अश्वारोही पृथ्वी पर गिर गये थे ॥८२ ॥

शत्रुओं के हाथियों के कुम्भ स्थल से गिरे हुए मोतियों के समूह से आकीर्ण रणभूमि ऐसी शोभा देती थी मानों वीरों की लक्ष्मी का आलिंगन कर सोये हुए बहादुर लोगों की वह पुष्पों से सजी हुई शय्या हो ॥८३ ॥

कदम-कदम पर वीरों के द्वारा रणभूमि में मारे हुए और गिरे हुए हाथी ऐसे शोभा देते थे मानो सेतु निर्माण के लिए हनुमानजी के द्वारा लाये हुए पर्वत भार के कारण

आधे रास्ते में ही छोड़ दिये गये हों ॥८४॥

एक हजार योद्धा यहाँ पर मर गये हैं—ऐसा सोचकर दोनों हाथों की अंगुलियों से एक योद्धा ने नृत्य क्रिया शुरू कर दी जो कि बिना शिर वाले व्यक्ति जिसका कि सिर शत्रुवीरों के द्वारा काट दिया गया था—के द्वारा की गई थी ॥८५॥

इस प्रकार महाभारत के समान रण युद्ध के दो दिन तक चलने पर सूर्य मानो अवधि को बताने के लिये अस्ताचल के शिखर पर चला गया ॥८६॥

वीरों ने योद्धाओं के समूहों के लिए कल्याणकारी युद्ध में अपनी वीरता से शत्रुपक्ष और अपने पक्ष को व्याप्त कर दिया था। अपने स्वामी के मन को भी उन्होंने अपनी स्वामी भक्ति से पूर्ण प्रतिज्ञाओं से, शत्रु-गजों के कुम्भस्थलों को अपने प्रहारों से, युद्ध के आंगन को अपने अंगों से और समस्त त्रैलोक्य को अपनी उज्ज्वल कीर्त्ति से व्याप्त कर दिया ॥८७॥

इस समर में यवनों के महान् ओजयुक्त ८५,००० वीर यमलोक पहुँच गये ॥८८॥

जब म्लेच्छ वीरों के स्वामी उल्लूखाँ—अलाबदीन भी अधिक समय हो जाने के कारण विरत हो गये और उन्होंने किसी प्रकार इन वीरों को युद्ध से हटाकर अपने अपने शिविर को जल्दी से प्रयाण किया ॥८९॥



त्रयोदश सर्ग

दूसरे दिन प्रचुर शृङ्गार से युक्त चतुर हृदय राजा हम्मीर ने "शृङ्गार चातुरी" नामक सभा को अलंकृत किया ॥१ ॥

जहाँ पर कि स्फटिक की शिलाओं को देखकर जल की भांति से कौन अचानक ही चकित होकर वस्त्रों को ऊँचा नहीं कर लेता, न कि भय प्राप्त करके ॥२ ॥

जहाँ पर कि सुन्दर पत्थरों में निर्मित केले के वृक्षों को देखकर साक्षात् ही मनुष्य (निर्माता) का स्मरण करते हुए, फल की इच्छा करते हुए व्यक्ति हाथ को ऊँचा उठा लेता था ॥३ ॥

जहाँ पर कि खम्भों पर विचित्र पुतलियाँ शोभा देती थी जो कि राजा को देख कर मानों देवियों की भांति चकित हो रही थीं ॥४ ॥

जहाँ पर कि (दीवारों पर) उकेरे हुए कमलों पर मधु का स्वाद लेने के इच्छुक भौंरे आ पड़ते थे लेकिन अपना प्रयत्न व्यर्थ होने के कारण निराश हो जाते थे ॥५ ॥

जहाँ पर कि स्फटिक निर्मित पुतलियों के मुख कमल पर उड़ते भौंरों के कारण चकोर पक्षी चन्द्रमा के अवलोकन की श्रद्धा को पूरी करते थे ॥६ ॥

जिसने कि रत्न जड़ित फर्श पर पैरों की अरुणता के प्रतिबिम्बित होने के कारण मानो राजा के चलने के लिए लाल लाल रेशम का वस्त्र बिछा दिया गया था ॥७ ॥

अत्यधिक कर्पूर से सुगन्धित जलाशय वाले चन्दन चूर्ण से चित्रित और कस्तूरी से सुगन्धित चौंक वाला आंगन जहाँ शोभा दे रहा था ॥८ ॥

जहाँ पर राजा के वक्षःस्थल पर स्थित नील मणियों के हार को स्फटिक निर्मित फर्श

पर प्रतिबिम्बित देख करके लोग साँप की भांति के कारण काँप जाते थे ॥९ ॥

नीचे के भू भाग पर पड़ने वाले प्रतिबिम्बों के बहाने से जो सभा सर्पराजों की सभा को पराजित करती थी ॥१० ॥

वहाँ पर सुन्दर लक्षण युक्त "वीरम" राजा के दक्षिण भाग में स्थित होकर शोभा देता था और रतिपाल हास्यरस की सृष्टि करता हुआ गोष्ठी को रसमय बना रहा था ॥११ ॥

वैसे ही तीनों गुणों से युक्त परमात्मा की भांति तीनों लघु भ्राताओं सहित "महिमासाहि" भी स्पष्ट नजर आ रहा था ॥१२ ॥

मृदङ्ग वादक, मृदङ्ग, वीणा वादक, वीणा और बांसुरी वादक ताल सहित बांसुरी बजा रहे थे ॥१३ ॥

फैलती हुई सुगन्ध एवं वाद्यों की झनकारों के अनुसार ही अपने स्वर का उन्नयन करते हुए गायक लोग हम्मीर राज की कीर्ति का बखान कर रहे थे ॥१४ ॥

तभी 'धारादेवी' नामक नर्तकी ने नृत्य करना प्रारम्भ कर दिया। वह चौली एवं साड़ी से आवृत अपने स्तनों एवं नितम्बों को, जो कि मानो अपनी वृद्धि के लिए एक दूसरे से होड़ कर रहे थे, अच्छी तरह संभाल रही थी। वह मानो अपनी देह वल्लरी के विलास से मानो कामिजनों को मदहोश कर रही थी। तिरछी चित्तवनों से देख देखकर मानो वह कामदेव को पुनः जीवित कर रही थी और दरबारियों के मन में मानो प्रवेश करके उन्हें आनन्द प्रदान कर रही थी ॥१५,१६,१७ ॥

उसके विलास पूर्ण नृत्य से दरबारियों के पाणि पल्लव हिलते हुए ऐसे ही शोभा देते थे मानो धतूरे की बेल के मूर्छना देने वाले पत्ते हिल रहे हों ॥१८ ॥

तीनों गोलों को उछालने के बहाने मानो वह त्रिभुवन को (तीनों लोकों को) अपने हाथ में स्थित करती हुई बोली ॥१९ ॥

उस अंगुली के सिरे पर एक चक्र घूम रहा था और वह उस चक्र के बहाने से मानो रूप, लावण्य, और सौन्दर्य के समूह को धारण कर रही थी ॥२० ॥

कान के पास घूमने वाले चक्र के बहाने उससे चन्द्रमा मानो कह रहा था कि मेरी उपमा तो तुम्हारे मुख के लिए देना केवल विद्वान् लोगों का भ्रम ही है ॥२१॥

कपूर के कणों के बहाने से उस (धारादेवी) के पैरों में लगे हुए युवकों के मनों को मानो चकरी से घुमाती हुई वह शोभा दे रही थी ॥२२॥

मयूरासन से नाचती हुई वह विलुप्त हो गई। मयूर का कठिनतापूर्वक पालन करना विधाता के लिए भी अपवाद ही है ॥२३॥

उसके स्तनों के ऊपर अंग की शोभा हेतु मुक्ताहार वैसे ही शोभा देता था जैसे कि चकवे की चोंच में स्थित कमलों की लड़ी हो ॥२४।

भाव भङ्गियों के साथ उसके शरीर के धनुष की भांति पीछे झुक जाने पर उसकी एडी को छूने वाली चोटी प्रत्यञ्चा की भांति लगती थी ॥२५॥

दरबारियों की दृष्टि उसके सिर से लेकर पैरों तक बार-बार उस तरह उतर चढ़ रही थी जैसे कि बन्दरिया किसी लता (मृदुल पेड़) पर आरोहावरोह कर रही हो ॥२६॥

'वह भयंकर नृत्य कर रही है' ऐसी बात ताल टूटने के क्षण मध्य ही नीचे शिविर में स्थित शकराज ने उसके पृष्ठ भाग को देख लिया ॥२७॥

इसमें मन में कष्ट पाकर के शकराज अल्लावदीन अपने सभाध्यक्ष से बोला—क्या कोई ऐसा धनुर्धारी है जो इस नर्तकी को बाण से विद्ध करदें? ॥२८॥

तब छोटा भाई बोला—हे राजन्! जो पहले हमने कैद में डाला हुआ है वही उड्डान सिंह ही इस वेधने के कार्य में समर्थ है। उसे छोड़ कर कोई नहीं ॥२९॥

तब शकराज ने उस उड्डान सिंह को हथकड़ी खुलवाकर शीघ्र ही बुलवाया और दोनों प्रकार से स्नेह देकर एवं धनादि—उत्कोच का लोभ देकर उसे धनुष आदि से सज्जित कर दिया ॥३०॥

तब उस पापी ने धनुष आदि से सज्जित होकर असाधारण धनुष को लेकर तुरन्त ही वैसे ही उस नर्तकी को बाण से मार डाला जैसे व्याध हिरनी को मार देता है ॥३१॥

उस बाण के लगने से अत्यधिक मूर्च्छा को प्राप्त हुई वह घाटी में वैसे ही गिर गई जैसे कि आकाश से अलग होकर बिजली गिर जाती हैं ॥३२॥

तब राजा लोग क्षणभर के लिए घबरा से गये और इन धनुर्धारी के कौशल की प्रशंसा करते हुए बार बार सिर हिलाने लगे ॥३३॥

उस घाव करने वाली घटना को हृदय में रखकर दूसरे दिन महिमासाहि ने शकराज अल्लावदीन पर निशाना साधकर राजा हम्मीर से यह कहा— ॥३४॥

यदि राजा उसे आदेश दे तो मैं वैसे ही शत्रु को बाण से वेध दूं जैसे कि कोई अर्जुन जैसा धनुर्धर चित्र के लक्ष्य को बेध देता है ॥३५॥

राजा ने कहा कि इसके मारे जाने पर मैं युद्ध में किसके युद्ध का आनंद लूंगा, अतः हे महिमासाहि ! तुम उसे छोड़कर धनुर्धारी उड्डानसिंह को मार दो ॥३६॥

शकराज को बेध देने का आदेश नहीं मिलने पर दुःखित चित्त हुए महिमासाहि ने तब उसे (उड्डान सिंह को) मार कर धिक्कारते हुए धनुष को छोड़ दिया ॥३७॥

उसके मारे जाने से आश्चर्य चकित होकर उस शकाधीश्वर से तुरन्त ही तालाब के सम्मुख भाग से शिविर हटा कर के पिछले भाग में लगवांया ॥३८॥

वहाँ से आकर अनेक प्रकार के उपहार दे देकर खिन्न मन होकर शकराज ने पर्वत के निकट सुरंग बनवाई ॥३९॥

पत्थर, मिट्टी, दलिक (ईंटे) घास के पूलों से उल्लूखाँ ने खाई को पाट दिया ॥४०॥

कितने ही महिनों में दोनों उपायों के (सुरंग निर्माण और खाई पाटना) पूरे होने पर शकराज के द्वारा आदेश दिये जाने पर शक सैनिक युद्ध करने को चले ॥४१।

चौहान राजपूतों ने यह जानकर खाई को तोप के गोलों से जला दिया और सुरंग में लाख और तेल की राशियाँ फेंकी ॥४२॥

उस तेल को सुरंग भर जाने पर शत्रु के योद्धा वैसे ही उछलने लगे जैसे कि जलते पानी से पूर्ण तालाब में मछलियाँ उछलती हैं ॥४३॥

तथा ऊपर स्थित शत्रु-योद्धाओं द्वारा आक्रमण प्राप्त करके कोई योद्धा तो चीत्कार कर रहे थे—वैसे ही जैसे कि कुँए में स्थित कुत्ते लकड़ी तथा पत्थर फेंकने वाले बच्चों के द्वारा सताये जाने पर चिल्लाते हैं ॥४४ ॥

उस तप्त तैल से सब अंगों में जले हुए योद्धा लोग (शत्रु के) गर्म लोहे के गोलों की भांति हो गये थे जो कि क्षण भर के लिए लाल हो जाते हैं और फिर क्रमशः काले हो जाते हैं ॥४५ ॥

जले हुए अंगों से निकली हुई कीलों के समूहों के बहाने से मानों शक योद्धाओं के अंगों में से जलने के डर से उनके तेज भी नष्ट हो गये ॥४६ ॥

शकाधीश अल्लाबदीन और उसके वीरों ने जिन शक सैनिकों ने सुरंग खोदी थी उन्हीं सैनिकों के ही शरीरों से उस सुरंग को भर दिया ॥४७ ॥

इस प्रकार से जिन जिन यत्नों को किले को लेने की इच्छा के लिए शकराज ने किया उन्हीं उन्हीं को लगातार राजा हम्मीर ने असफल कर दिया ॥४८ ॥

तब किले को न तो छोड़ने को समर्थ और न लेने को शक्तिमान् होता हुआ शकराज वैसे ही दुःखी हो गया जैसे की सांप छछूँदर (गिरका) न निगल सकता है न छोड़ ही सकता है ॥४९ ॥

रात-दिन वह योगी की भांति समस्त सुखों से मुँह फेर कर एक दृष्टि दुर्ग पर देता था तो दूसरी पृथ्वी पर ॥५० ॥

दुर्ग पर अधिकार न करने की दुःखरूपी अग्नि से मानों उसका हृदय जल गया था और मानो वह मेघ की भांति पृथ्वी पर बरस पड़ने को आकाश मण्डल में ऊँचा चढ़ गया था ॥५१ ॥

मोर गर्दन उठाकर केका ध्वनि करने लग गये थे मानो वे बहुत विलम्ब से आये हुए बादलों को मिलाने की पुकार रहे हों ॥५२ ॥

ऊपर उठे हुए मेघ को देखकर मयूरों ने केका (मयूर ध्वनि) के बहाने, आह्लादपूर्वक अर्धोक्तियों की भाव-भङ्गिमा में पूछा कि अब कब गमन हुआ ?(कब गये) ॥५३ ॥

मोरों द्वारा केका ध्वनि से मानो गीत गाने पर और बादलों की गड़गड़ाहट के मानो बजने पर नर्तकी की तरह आकाश में बिजली नाचने लग गई थी ॥५४॥

पृथ्वी पर सघन रूप से नीली घास का अम्बार उग आया था मानो मेघ रूपी प्रियतम के आगमन पर चोली पहन ली हो ॥५५॥

समुद्र से मानो होड़ करते हुए यहाँ सरोवर शोभित हो रहे थे, जैसे कि पानी के भार से टूट टूट कर बादल ही नीचे गिर रहे हो ॥५६॥

विरहिणियों के नेत्र और आकाश में स्थित बादलों के समूह आपस में स्पर्धा करते हुए अधिकाधिक बरस रहे थे ॥५७॥

कैसी अद्भुत बात थी कि सघन रूप से बादल खूब पानी बरसा रहे थे और विरही स्त्रियों का लावण्य गल रहा था ॥५८॥

शंकर भगवान् से पराजित होने के कारण अब कामदेव ने बसन्त का और धनुष का त्याग कर दिया था और मानो वर्षा का मित्र बनकर अब बिजली के बहाने से उसने तलवार सी खींच ली थी ॥५९॥

तब बादल के द्वारा सींची हुई पृथ्वी पर अत्यधिक शोभा देती थी मानों वह मृगी जैसी नेत्रवाली स्त्री की शय्या की तरह शोभा दे रही थी जो सुन्दर प्रियतम द्वारा उपभुक्त हो ॥६०॥

गर्मी की ऋतु के पश्चात् आने वाले बादल के प्रचण्ड गर्जन ऐसे उत्पन्न हो गये थे जैसे तूर्य वाद्यों की ध्वनियाँ आ रही हों ॥६१॥

पृथ्वी के कौन से अंग सिंचित हो गये हैं, अथवा अब सींचने योग्य हैं—यही मानो इन्द्र विद्युत् के प्रकाश के माध्यम से देख रहा था ॥६२॥

वर्षा की हवा भी लता के विलास की कला की आचार्य बनकर बह रही थी अर्थात् लताएँ वायु से इधर उधर डोल रही थी। मालती व कुटज पुष्पों की सुंगध लेकर और जल कणों को छूती हुई वायु चल रही थी ॥६३॥

क्षेत्रप और सुराप्र को खूब स्नान करा कर भी कहीं कहीं पर क्रोध सहित बरसते बादल

ने, आश्चर्य है, बंजर कर दिया था ॥६४।

जैसे जैसे यह बादल गरजता था वैसे वैसे ही शक लोगों की रमणियाँ भी, जो कि क्षत्रियों के द्वारा विधवा बना दी गई थी, रोती थी व विलाप करती थीं ॥६५ ॥

नीचे कीचड़ से युक्त धरती और ऊपर गिरती वर्षा की धाराएँ देख कर यवनों ने यवन राज की सेवा से मुँह मोड़ लिया ॥६६ ॥

घोड़े के रङ्ग फीके पड़ गये, हाथी कृशकाय हो गये, रथ जल में डूबने लगे और आदमियों के फुंसियाँ होने लग गई (मच्छरों के कारण) ॥६७ ॥

इस प्रकार वर्षाकाल को साक्षात् काल के समान आया देखकर किसी प्रकार से शक-राज ने सन्धि कराना चाहा ॥६८ ॥

तब शकराज ने दूतों से 'रतिपाल' नामक हमीर के योद्धा को बुलवाया और राजा ने भी "क्या कहता है शकराज" यह सोच कर उसे जाने की आज्ञा दे दी ॥६९ ॥

रतिपाल के चले जाने पर, संधि की वार्ता चलने पर "रणमल्ल" नामक क्षत्रिय वीर यह सोचकर क्रुद्ध हो गया कि "हमारी वीरता अब व्यर्थ हैं।" ॥७० ॥

अब रतिपाल के आने पर मायावी शकराज ने स्वयं उठकर के उसे अपने आसन पर बिठाया और कूटनीतिपूर्वक मान, दान और अनेक प्रकार से उसे प्रसन्न किया (सम्मान व धन का लालच देकर) क्योंकि कूटनीतिज्ञ कहीं पर भी अपनी कूटनीति में चूक नहीं करते ॥७१,७२ ॥

अल्लाबदीन ने सभासदों को हटाकर केवल अपने भाई उल्लूखाँ के साथ रतिपाल के आगे आँचल फैला कर उसे यों कहाँ ॥७३ ॥

"मैं अल्लाबदीन" नामक शकों का सम्राट् हूँ और अनेक बार मैंने कठिनाई से अधिकार किये जाने योग्य दुर्गों की जीता है। अब मैं ही इस दुर्ग को अपने अधिकार में नहीं करके चला जाऊं तो मेरा यश जलती अग्नि में स्थित लता की भांति नष्ट हो जायेगा ॥७४,७५ ॥

इसे अपने अधिकार में करने को तो इन्द्र भी समर्थ नहीं है, किन्तु भाग्य से तुम आ

गये हो तो अतः हमारी इच्छा पूर्ण हो जायेगी। अतः तुम वैसा ही यत्न करो जिससे मैं संग्राम में विजयी रहूं। यह राज्य तो तुम्हारा ही (रतिपाल का) होवे, मैं तो केवल विजय का इच्छुक ही हूँ ॥७६-७७ ॥

जिसके आचरण में दुराचार ही है, माया ही जिसकी सहचरी है, जिसके हर कदम में झूठ का बोलवाला है और जिसका सेवा टहल करने वाला क्रोध होता है, वह कलियुग ही इसी बीच लोभ को आगे करके रतिपाल के मन रूपी दुर्धर्ष किले में प्रवेश कर गया ॥७८-७९ ॥

बलपूर्वक रतिपाल के मन रूपी किले को अधिकार में करके "कलियुग" रणथम्भौर के किले को अधिकार में करने के इच्छुक शकराज के लिए शकुनी स्वरूप हो गया ॥८० ॥

इसके पश्चात् उसे अन्तःपुर में ले जाकर उसे भोजन करवाया और विश्वास पैदा करने के लिए अपनी बहिन के साथ मदिरा भी पिलाई ॥८१ ॥

तब वह दुष्ट बुद्धि वाला "रतिपाल" शकराजा द्वारा कहे वचनों के अनुसार प्रतिज्ञा करके गया और उसके विरोधी बातें राजा से निवेदन की। (और कहा) ॥८२ ॥

"हे श्रीमन्! अहंकार में रावण की भाँति शकराज ने कहा कि क्या हमीर मूर्ख है जो मुझे अपनी पुत्री नहीं देता? ॥८३ ।

या फिर मत दे पुत्री, किन्तु मैं अल्लावदीन नहीं यदि पुत्री नहीं देने वाले उस राजा हम्मीर की सारी रानियों को मैंने नहीं ले लिया ॥८४ ॥

क्या हुआ, यदि मेरे बहुत से वीर मृत्यु को प्राप्त हो गये? क्या दो तीन पैर टूट जाने से कनखजूरा लँगड़ा हो जाता है? ॥८५ ॥

"क्या हुआ, यदि व्यय कर-कर के खजाने को रिक्त कर दिया? क्या बादलों के द्वारा पानी ले जाने के कारण समुद्र सूख जाता है? ॥८६ ॥

"अरे! तू (दूत) चला जा। जो विधाता करेगा वह निश्चित रूप से होगा। तिरस्कार करने वाले अलावद्दीन का मैं भी तिरस्कार करके आ गया ॥८७ ॥

"मुझे शंका होती है कि 'रणमल्ल' किसी कारण से रुष्ट हो गया है। उसे निश्चित

रूप से यह बात ज्ञात हो गई है, अतः वह घमण्डी हो गया है ॥८८ ॥

"इसलिए पाँच-छः आदमियों के साथ सांयकाल उसके घर जाकर शीघ्र उसे प्रसन्न करो—यह शकराज कितना सा प्राणी है।" ॥८९ ॥

राजा ने इस प्रकार कह कर "रणमल्ल" को प्रसन्न करने के लिए 'वीरम' के निकट से निकल कर 'रतिपाल' बाहर निकल गया ॥९० ॥

तब इस रतिपाल के मुख से मदिरा की गन्ध निकली वैसे ही जैसे कि अन्य स्त्री के आलिङ्गन से उसमें व्याप्त सुंगधित वायु निकलती है। ॥९१ ॥

तब "वीरम" ने राजा से एकान्त में कहा कि चतुरतापूर्वक यदि देखा जाय तो यह मालूम पड़ता है कि इसने शत्रु राजा से मेल तो नहीं कर लिया? ॥९२ ॥

हे राजन् ! बाहर निकलते समय इसके (रतिपाल के) मुख से मदिरा की गंध निकली। इससे मुझे लगता है कि यह पापी निश्चित रूप से शत्रु से मिल गया है ॥९३ ॥

'मदिरा पान करने वाले व्यक्ति के अन्दर से कुल, शील, बुद्धि, लज्जा, स्वामिभक्ति सत्य और पवित्रता—ये कहीं भी प्रकट नहीं होते ॥९४ ॥

जिस व्यक्ति के लिए मद्य ही विशेष पेय है उसमें ये तीन गुण होते हैं—वह अकरणीय कार्य भी कर डालता है, न जाने योग्य स्थान पर भी जा सकता है और अभक्ष्य वस्तुएँ भी खा सकता है ॥९५ ॥

जैसे कि एक ऋषि ने मदिरा पान करके वेश्या के साथ रमण किया था, गोमांस खाया था और अपने ऋषि के नियम का भङ्ग किया था ॥९६ ॥

'हे स्वामिन्! यदि इसे (रतिपाल को) भेड़ की भांति तलवार के घाट उतार दिया जाय तो शीघ्र ही शकराज अल्लाबदीन असफल हो कर के चला जायेगा ॥९७ ॥

उस (वीरम) की यह वाणी सुनकर आने वाली योजना पर क्षण भर विचार कर राजा ने अमृतमय वाणी से कहा— ॥९८ ॥

"किसी भी समय सूर्य भी पश्चिम दिशा में उग सकता है किन्तु यह विभाजित किया हुआ दुर्ग अब नहीं रहेगा, ऐसा मेरा विचार है ॥९९ ॥

"यदि रतिपाल के मार देने पर और किले के चले जाने पर लोगों की इस प्रकार की जल्पनाओं (व्यर्थ की निन्दा युक्त बातों) को कौन रोकने में समर्थ होगा—कोई नहीं ॥१०० ॥

"(लोग कहेंगे) अवश्य ही परिवार सहित जीवित हमारा स्वामी हम्मीर दुष्ट बुद्धि वाला ही था जो उसने बिना बिचारे ही रतिपाल को मार दिया ॥१०१ ॥

"मेरे जीवित रहते क्या इस दुर्ग में शक लोग विलास कर सकते हैं? नहीं। क्या सिंह के जीवित रहते उसकी गुफा में कोई क्रीडा कर सकता है। कोई नहीं ॥१०२ ॥

जैसे हमारे जीत जाने पर हनुमान जी जैसा समय होता है वैसा ही हमारे मारे जाने पर पृथ्वी पर रतिपाल का सा काल होगा ॥१०३ ॥

"अतः इस व्यापार से हमें विराम लेना चाहिये। जो होना चाहिये उसे होने दो क्योंकि रावण आदि अत्युग्र लोगों के द्वारा भी भवितव्यता नहीं रोकी जा सकी है।" ॥१०४ ॥

ऐसा कहकर राजा के चुप हो जाने पर नगर के भीतर यह बात फैल गई कि शकराज राजा हम्मीर से उसकी पुत्री मांग रहा है ॥१०५ ॥

और इधर रानियों द्वारा समझा बुझाकर प्रेरित की हुई "देवल्लदेवी" नामक हम्मीर की पुत्री ने जाकर राजा से कहा— ॥१०६ ॥

"हाय! हाय। पिताजी। आप मेरे लिए इस राज्य को क्यों खो रहे हैं? क्या कोई भी व्यक्ति केवल कील मात्र के लिए महल को नष्ट कर देता है? ॥१०७ ॥

"पूर्व में भी अपने अनेक औरस पुत्रों ने भी क्या किया किन्तु मैं तो नित्य ही निकृष्ट लक्ष्मी की भांति आप के द्वारा दूसरों के निमित्त ही पाली जा रही हूँ ॥१०८ ॥

"यदि मेरे शकराज को दे देने से साम्राज्य को चिरस्थायी किया जा सकता है तो जैसे काँच का टुकड़ा दे देने पर चिन्तामणि को बचाया जा सकता है तो वैसे ही साम्राज्य की रक्षा क्यों नहीं की जाती? ॥१०९ ॥

"दूसरों के प्राणों के हितार्थ जीवित रहने वाली पुत्री श्रेष्ठ मानी जाती है। जीवित रहने वालों को ही पुनरावृत्ति युक्ति संगत हो ती है—मरे हुए लोगों की नहीं ॥११० ॥

"यह नीति है कि बुद्धिमान् व्यक्ति को अपने हित की बात सोचकर ही कार्य करना चाहिये। तो हे पिताजी ! मेरे दे दिये जाने पर आपका क्या-क्या कल्याण नहीं होगा ? ॥१११ ॥

"वैसा-अल्लाबदीन जैसा—जंवाई होगा और सुखपूर्वक अपने भू भाग की रक्षा हो जायेगी। अधिक कहने से क्या, हम तो सबसे ऊपर ही रहेंगे ॥११२ ॥

"आपने कुल को बचाने के लिए एक व्यक्ति का त्याग कर देना चाहिए यह नीति है"—ऐसा किसी विद्वान् ने कहा है। तो आपकी विशाल राज्य भूमि को बचाने के लिए मुझे दे देने से आपको क्या हानि है? ॥११३ ॥

"अतः मूल बात पर ध्यान दीजिए और समय के अनुसार काम कीजिए। मेरे वाक्य को मना मत कीजिये। और मुझे शकराज को दे दीजिये।" ॥११४ ॥

कलङ्क रूपी वस्त्र के निर्माण की उपकरण भूत उस पुत्री की चबरता को सुनकर राजा आहुति प्राप्त अग्नि की भांति जल उठा और बोला—"ह पुत्रि ! तुम्हारी बुद्धि का यह विलास उचित नहीं है। पाप के कीचड़ को नहीं छूने वाली कुमारियों में सोचने समझने की बुद्धि नहीं होती ॥११५-११६ ॥

"इस प्रकार सिखा कर जिस पापिनी स्त्री के द्वारा तुम यहाँ भेजी गई हो, उसकी मैं जिह्वा काट लूं, यदि मैं स्त्री के वध से नहीं डरता होऊँ ॥११७ ॥

यदि तुम्हारे देने से ही प्रचुर राज्य के सुख को प्राप्त कर लूं तो क्या पुत्र के मांस को खाकर के ही जीने की आशा नहीं करना चाहिये? ॥११८ ॥

"कुल के हितार्थ एक व्यक्ति का बलिदान कर देना चाहिये" इस नीति को जो तुमने कहा तो उसके गूढार्थ को समझने की तुममें बालपन के कारण सामर्थ्य नहीं है ॥११९ ॥

"कुल के कल्याण हेतु जो भी हीनतर व्यक्ति हो तो उसको त्याग देना चाहिए। जिस प्रकार सर्प द्वारा काटा गया अँगूठा काटने योग्य होता है। वैसे ही क्या जीभ भी काटने योग्य होती है? ॥१२० ॥

समुद्र तक फैली हुई पृथ्वी होने पर भी तुम ही हमारे कुल की सर्वोत्तम सारभूत वस्तु

हो, अन्यथा उस पृथ्वी को छोड़कर शकराज भी तुम्हें ही क्यों मांगता है? ॥१२१॥

"हे पुत्रि! जो तुमने कहा कि मेरे दे देने से तुम्हारा क्या क्या कल्याण नहीं होगा, तो यह भी तुम्हारी बाललीला की ही अभिव्यक्ति है ॥१२२॥

"सर्व प्रकारेण निकृष्ट, पापी और गोमांस भक्षक शक के लिए तुम्हे दे देने पर, हाय। हाय! कहाँ पर कल्याण ही प्राप्ति हो सकती है ॥१२३॥

"(ऐसा करने पर) अपयश के बाजे बजेंगे (इस लोक में) परलोक में भी दुर्गति होगी और अपनी कुलमर्यादा का नाश होगा। ऐसे में आदमी के जीने पर धिक्कार है ॥१२४॥

"दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर बुद्धिमान् व्यक्ति को दो वस्तुओं का ही अर्जन करना चाहिये—कुल की मर्यादा का पालन करते हुए कीर्त्ति का और वैसे ही धैर्य का ॥१२५॥

"हाय! जो पूर्वजों की मर्यादा को नष्ट करके सुख भोगते हैं, क्या उन्होंने-पापिकों ने आज्ञा का उल्लंघन करके अपने पूर्वजों को मार नहीं दिया है? ॥१२६॥

"अब तक के चौहान वंश की स्थिति पर्यन्त जिन पूर्वजों ने पहले कभी अकरणीय कार्य नहीं किया, अब उस अकृत्य को करके मैं उन पूर्वजों से क्या कहूँगा? ॥१२७॥

"पिता के मर जाने पर जो भी व्यक्ति पैतृक धरा को नहीं उठाता है उसके द्वारा अपने वंश के पूर्वज उपदेश देने योग्य नहीं रहते ॥१२८॥

इस प्रकार अपनी विपरीत उक्तियों की तरंगों से देवल्ल देवी की वाणी बन्द करके राजा ने तुरन्त ही उसे अपने निवास स्थान पर भेज दिया ॥१२९॥

इधर वह रतिपाल भी शीघ्र ही रणमल्ल के घर जाकर आकुलता का भाव धारण करता हुआ उससे यों बोला— ॥१३०॥

"हे भाई! तुम क्यों सुखपूर्वक बैठे हों? भाग जाने की शीघ्रता करो क्योंकि हमारे राजा हम कर्तव्यनिष्ठ सेवकों के शत्रु हो गये हैं और हमें बाँधने को आ रहे हैं ॥१३१॥

"अमृत किरणों वाले चन्द्रमा में जैसे विष नहीं होता वैसे ही हमारे राजा हम्मीर में

यह दुर्भाव कैसे हो सकता है?" ऐसे आक्षेप के वचन कहने पर रतिपाल फिर बोला— ॥१३२॥

"वह राजा यदि सांयकाल ५-६ व्यक्तियों को साथ लेकर तुम्हारे घर आ जाय तो मेरे वचन को तुम सत्य जानना" और यह कहकर वह (रतिपाल) अपने घर चला गया ॥१३३॥

रतिपाल के कथनानुसार उसने (रणमल्ल से) जब राजा हम्मीर को आते देखा तो उसे विश्वास हो गया और वह डर के मारे किले से उतर कर शत्रु से जा मिला ॥१३४॥

रतिपाल ने दुर्ग से उतर कर वैसे ही शकराज के डेरे में शरण ले ली जैसे उच्च स्तरीय स्वर्ग से उतर कर नरक में कोई आश्रय ग्रहण कर लेता है ॥१३५॥

उन दोनों के इस कार्य को देखकर "कलियुग को धिक्कार है" ऐसा सोचते हुए राजा ने जाहड़ नामक अपने अन्न भण्डार के अधिकारी से पूछा"भण्डार में कितना अन्न है?" ॥१३६॥

उसने सोचा कि यदि मैं कहूँगा कि "नहीं है" तो निश्चित रूप से सन्धि हो जायगी अतः भावी स्वार्थ के लिए उसने भी सोच कर कहा कि "कुछ भी नहीं है।" ॥१३७॥

कल्याण करते हुए भी मूर्ख व्यक्ति बुराई के लिए ही चेष्टा करता है। यहाँ क्या तुम जाहड़ को इसका स्पष्ट उदाहरण नहीं देखते हो? (अर्थात् वह मूर्खता का उदाहरण है।) ॥१३८॥

इस वाणी से चिन्ता से व्याप्त हृदय वाला हम्मीर राजा अपने महल में आकर निद्राविहीन होकर रात्रि के अन्तिम प्रहर में इस प्रकार मन में सोचता रहा— ॥१३९॥

अतुल सम्मान और अनेक प्रकार के उपहार दोनों द्वारा सन्तुष्ट किये हुए जो दोनों योद्धा मेरे द्वारा सदैव सम्मानित किये गये थे, यदि उन दोनों ने ही हाय! अपने स्वामी से द्रोह किया तो अन्य स्वभाव से नीच अन्य मनुष्यों की तो क्या गिनती हो सकती है? ॥१४०-१४१॥

यदि ये देशद्रोही ही लोग (मुद्गलाः) दुश्मन से मिलकर के सजातीय होने के कारण बाँधकर मुझे खा भी जाय (मामुदः) तो बड़ी भारी विडम्बना की बात होगी ॥१४२॥

इसलिये ये अपने नगर से किसी प्रकार भी विदा कर देने योग्य ही हैं क्योंकि दूसरा व्यक्ति तो अत्यधिक प्रेमकर्त्ता भी हो तो भी परायेपन को नहीं छोड़ता ॥१४३ ॥

इसी बीच में किसी चतुर चारण ने द्वार पर खड़े खड़े ही प्रातः काल के आगमन की सूचना देने वाले दो श्लोक पढ़े— ॥१४४ ॥

"(हे राजन् !) प्रातः कालीन लालिमा ऐसी प्रतीत हो रही है मानो की विरह के निःश्वासों के कारण अंधकार रूपी अंगारा जल उठा हो। चन्द्रमा ने समस्त रात्रि का काल समाप्त कर लिया है और उसे सूर्य के समीप स्थित आकाश रूपी मञ्जुषा के अन्दर मानो बन्द कर दिया गया है। उसने अब प्रात काल की उड़ाई हुई गुलाल का परित्याग कर दिया है और निर्मल शरीर होकर वह अस्त हो गया है।अब काल रूपी दिन के आभूषण हेतु मानो सूर्य को नवीन स्वर्ण के समान बनाना चाह रहा है ॥१४५ ॥

"देखो ! (विकसित) नलिनी भी प्रेमी सूर्य के द्वारा हृदय पर हाथ का स्पर्श करके जगा दी गई है किन्तु फिर भी वह निद्रालु हो गई है अर्थात् नलिन मुँद गये हैं, प्रभात होने से, और कमल के अन्तस्तल में से उड़ती हुई भौंरों के गुंजन के कारण वह नलिनी बाला की भाँति काँप रही है" ॥१४६ ॥

राजा उस पद्य द्वय के अर्थ का सुन्दरता से प्रसन्न हुआ और उसने उसे पारितोषिक देकर प्रातः काल की क्रिया की ॥१४७ ॥

इसके पश्चात् प्रातः काल ही राजा ने सभा में आसीन होकर अपने और उसके सहोदरों (सगे भाइयों) के सामने महिमासाहि से कहा— ॥१४८ ॥

"हम अपनी जन्म भूमि के लिए प्राणों का भी त्याग कर देते हैं। यह क्षत्रियों का धर्म युग युगान्तर के पश्चात् भी नष्ट नहीं हो सकता ॥१४९ ॥

"वही क्षत्रिय है जो मरने के पश्चात् भी हुंकार करने में समर्थ होता है। इसका स्पष्ट उदाहरण राजा दुर्योधन है ॥१५० ॥

"तुम विदेशी हो अतः तुम्हें विपत्ति वाले स्थान में रहना उचित नहीं है। जहाँ कहीं भी जाने की तुम्हारी इच्छा हो तो बोलो, मैं तुम्हें वहीं ले जाऊँ।" ॥१५१ ॥

उस राजा के वचन से मानो भाले से छिदे हुए हृदय से मूर्च्छा से मानो महिमासाहि गिर गया और उसे बड़ा क्रोध आया ॥१५२॥

"ऐसा ही होवे" ऐसा कहकर महिमासाहि अपने घर जाकर अपने समस्त कुटुम्ब को तलवार के घाट उतार कर राजा के समीप आकर यों बोला ॥१५३॥

आपके भाई की दुलहिन इला विलासिनी ने जो कि आपके राज्य से जाने को उत्सुक है—उसने उसके प्रति मुझसे गद् गद् होकर कहा है— ॥१५४॥

"हे प्रिय! जिसके घर में हम इतने वर्षों तक रहे हैं किन्तु अब तक हमने कभी शत्रु के हाथों कोई पराजय का स्मरण नहीं किया ॥१५५॥

जिसकी कृपा से लगातार लाखों सुख प्राप्त करके हमारे द्वारा यह नहीं जाना गया कि सूर्य उदित हुआ या अस्त हो गया ॥१५६॥

'अतः हे नाथ। उसी हमारे राजा हमीर से बिना मिले हुए यदि हम जाते हैं तो पश्चात्ताप से भरा हुआ मन कैसे शान्त होगा? ॥१५७॥

"अतः हे राजन्! कृपा करके शीघ्र ही मेरे घर पहुँच कर अपने दर्शन रूपी अमृत से पश्चात्ताप से भरी मेरी पत्नी को आप शीतल कर दीजिये ॥१५८॥

इस प्रकार उस महिमासाहि के द्वारा प्रार्थित राजा हम्मीर उसकी बांहों का सहारा लेकर अपने भाई के साथ आदर सहित चल दिया ॥१५९॥

उसके घर पहुँच कर ज्योंही राजा ने अन्दर प्रवेश किया त्योंही उसके सारे आँगन को उसने कुरुक्षेत्र की भाँति देखा ॥१६०॥

रक्त के तालाब में शिशुओं के और स्त्रियों के भी तैरते हुए शीशों को देख कर राजा मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा ॥१६१॥

"वीरम" आदि बन्धुओं के रोने से गिरे आँसुओं के सिंचन से होश में आया हुआ राजा हम्मीर महिमासाहि के गले लगकर इस प्रकार से विलाप करने लगा ॥१६२॥

"हाय! काबुल प्रदेश के कुलों के आधार महिमासाहि! हाय यशः समूह के आगार! हाय क्षत्रिय व्रत के पालन करने वाले! हाय संसार भर के मनुष्यों के लिए

वात्सल्य रस प्रवाहित करने वाले। मैं तुम्हारा प्राण देने वाला राजा होकर भी कैसे तुमसे उऋण हूँगा ॥१६३-१६४॥

"मुझसे अधिक कोई भी व्यक्ति नीच नहीं है और तुमसे अधिक अन्य कोई भी उत्तम नहीं है। मुझ मन्द बुद्धि ने ऐसा कभी नहीं सोचा था कि तुम्हारा मेरे ऊपर इतना प्रेम है ॥१६५॥

"यदि विधाता की प्रतिकूलता से ही मेरी यह बुद्धि दुष्ट हो गई है तो तुम आश्चर्य क्यों करते हो? जो भावी होगा वही होगा, दूसरा नहीं ॥१६६॥

"मनुष्य अपना कल्याण करने के लिए अनेक प्रकार से बुद्धि से सोच विचार करता है किन्तु वह बुद्धि तो पतिव्रता स्त्री की भांति होती है जो पति को कहीं भी नहीं छोड़ती। बुद्धि भी होनी (भवितव्यता) को नहीं छोड़ती ॥१६७॥

मनुष्य के द्वारा अपने मनोरथ अन्य ढंग से ही सोचे जाते हैं किन्तु भाग्य के द्वारा तो अन्य बात होने वाली है और भाग्य के अनुसार ही कार्यों की दूसरी गति होती है ॥१६८॥

वहाँ से लौटकर भण्डार में स्थित अतुल अन्न राशि को देखकर राजा हम्मीर ने भण्डार के प्रभारी "जाहड़" से पूछा कि यह क्या है?" (पहले तो कहा था कि कुछ भी नहीं है—कथन में विरोध क्यों? ॥१६९॥

इसके पश्चात् उसके द्वारा अपनी बुद्धि के अनुसार कहने पर राजा बोला—"जिस तुम्हारी बुद्धि ने कुल का नाश ज्ञात कर लिया है, उस बुद्धि पर वज्रपात हो जाय" ॥१७०॥

तब नीतिज्ञ राजा ने पुरवासियों को मुक्ति का द्वार दिखा कर अपनी रानियों को अग्नि में प्रवेश करने की आज्ञा दे दी ॥१७१॥

और स्वयं विष्णु भगवान की पूजा करके दानादिक कर्म करके सब दुःखों से निर्विकार होकर पदम सरोवर के किनारे क्षणभर के लिए बैठ गया ॥१७२॥

इसके अनन्तर आरङ्गदेवी—पट्टमहिषी समेत दिव्य आभूषण वाली संयत चित्त वाली महिलाएँ वहाँ स्नान करके और राजा को प्रणाम कर के वहाँ खड़ी हो गई ॥१७३॥

किसी स्त्री के दोनों कानों में स्वर्ण कुण्डल ऐसे शोभित थे मानो वे रति के पति कामदेव और कृष्ण भगवान के संसार विजेता दो चक्र हों ॥१७४॥

अन्य स्त्री के ललाट पर पुष्प कलिका के आकार का तिलक (कस्तूरी का) ऐसा शोभायमान था मानो कामदेव के द्वारा स्वर्ग की विजय प्राप्त करने के लिए धनुष पर यहाँ बाण चढ़ा लिया हो ॥१७५॥

अन्य स्त्री के नासाभाग के आगे लटकता हुआ मोती भी ऐसी शोभा रहा था मानो तिल के पुष्प के अग्र भाग पर चमकती हुई पानी की बूँद रखी हुई हो ॥१७६॥

किसी स्त्री के वक्ष स्थल पर उज्ज्वल हार (मोतियों का हार) ऐसा शोभित था मानो उसके दोनों होठों के मध्य में से हँसी की धाराएँ निकल रही हों ॥१७७॥

अन्य किसी स्त्री का कामस्पन्दनाङ्ग की (योनि की) भाँति धूल उड़ने के डर से ढका हुआ श्रोणी मण्डल भी (पेडू का भाग) नील वस्त्र से आवृत होने के कारण अत्यधिक शोभा पा रहा था ॥१७८॥

कोई स्त्री दोनों हाथों की अंगुठियों की वर्तुलाकार प्रकाश रश्मियों के कारण ऐसी लग रही थी मानो वह इन्द्र धनुषों से आवृत हो रही हो ॥१७९॥

चकोर के यान के नाश के भय से मानों छीनकर नूपुरों के बहाने से पाँव का बन्धन भी किसी अन्य स्त्री का अत्यधिक अच्छा लग रहा था ॥१८०॥

तब सन्तुष्ट हुए हम्मीर राज ने अपने श्रेष्ठ केशपाश को काटकर उसे शृङ्गार की सर्वोत्तम वस्तु की भांति उनमें वितरित कर दिया ॥१८१॥

और तब अपनी पुत्री देवल्ल देवी को दोनों हाथों से प्रगाढ़ आलिंगन में लेकर खूब रुदन्न करते हुए राजा ने बड़े कष्ट से उसे अलग किया और कहा कि यदि किसी के पुत्री हो तो वह आपके जैसी हो, जिसके द्वारा गौरी (पार्वती) की भाँति अपने पिता को यश के शिखर पर पहुँचा दिया गया था ॥१८२-१८३॥

अप्सराओं के रूप का लोभी (हमारा पति) यदि वह हमें स्वीकार नहीं करेगा तो हम उसे प्रतीति के लिए इसे (केशपाश के बाल को) दिखा देंगे ॥१८४॥

ऐसा सोचकर उस बेणी को हृदय पर रखकर मृगलोचनियाँ उस चिता में प्रवेश कर गईं, जिसमें जलती हुई आग की कराल ज्वालाएँ निकल रही थीं ॥१८५॥

यदि स्वर्ग की अप्सराओं के रूप के वश में होकर कभी यह—(हमारा पति) उसकी प्रियाओं को स्वीकार नहीं करेगा, तो हम उस समय इस वेणी को दिखाकर उसके लिए विश्वास पैदा कर देंगी। ऐसा सोचकर अपने हृदय पर उस वेणी को रखकर उस चिता में प्रवेश कर गई जो कि ज्वलनशील थी और अगरु, श्रीखण्ड, चन्दन आदि से सुगन्धित थी ॥१८६॥

तब राजा हम्मीर के द्वारा भेजा गया जाजदेव उन स्त्रियों को अन्तिम जलाञ्जलि देकर आ गया जिसने तुरन्त ही आठ स्त्रियों के मस्तक काटकर बलि दी थी ॥१८७॥

राजा के ऐसा कहने पर कि "यह क्या है" तो उसने कहा कि राजन्! जैसे रावण ने शंभु की अर्चना की थी वैसे ही मैं भी आप की पूजा इस प्रकार कर रहा हूँ ॥१८८॥

"तो एक शिर मेरा भी है—इस प्रकार म्लेच्छ के हाथ में ये नौ शिर है" यों कहकर उसने अपना सिर भी दिखाया ॥१८९॥

"वीरम" के द्वारा तो जनापवाद के डर से राज्य लेना स्वीकार नहीं किया गया—यह सोचकर कि राज्य की इच्छा करने वाले वीरम ने अपने भाई को मार कर अपनी स्थिति पक्की कर ली ॥१९०॥

तब राज्य को जाजदेव के लिए देकर प्रसन्नतापूर्वक वितरित करके राजा यह सोचता हुआ निद्राग्रस्त हो गया "कि अब समस्त राज्य का धन कहाँ रखूँ? ॥१९१॥

तब स्वप्न में पद्मसर के पास पहुँच कर— राजा से कहा—(हे राजन्!) मेरे अन्दर धन डाल देने पर मुगल लोग प्राण देकर भी उसे प्राप्त नहीं कर सकेंगे ॥१९२॥

"फिर सारे ही रतिपाल आदि नीच योद्धा म्लेच्छों से जा मिले किन्तु ये हमारे योद्धागण मैं तथा यहँ दुर्ग—ये सब तुमसे द्रोह नहीं करते हैं।" ॥१९३॥

इसके पश्चात् राजा के जागने पर उसके आदेश से "जाहड़"—कोठार के अध्यक्ष ने समस्त धन धान्यादि को सरोवर में डालकर राजा से कहा कि "अब मैं क्या

करूँ ?" ॥१९४॥

"मुझे आदेश दो" ऐसा कहने पर श्री हम्मीर के आदेश से वीरमदेव ने कद्दू की तरह उसका (जाहड़ का) सिर काट कर पृथ्वी पर डाल दिया ॥१९५॥

इसके उपरान्त श्रावण मास के शुक्ल पक्ष की षष्ठी तिथि रविवार को रात्रि में स्वर्ग में विहार करती हुई अपनी कीर्त्ति का मानो अवलोकन करने को उत्सुक हुआ सा राजा हम्मीर मानो मूर्त रूप वाले अहंकार की तरह के अध्यक्षों और वीर रसों की भाँति नौ वीरों से युक्त होकर रणभूमि में कूद पड़ा ॥१९६-९७॥

"हम्मीर आ गया" ऐसा वचन सुनकर वीरता प्रदर्शित करने वाला शकराज भी सेना सहित उसके शत्रु रूप में सामने आ गया ॥१९८॥

तब राजा हम्मीर के अग्रभाग में वीर श्रेष्ठ, तथा युद्ध कला में कुशल चम्पा का राजा "वीरमदेव" वैसे ही शोभा देता था, जैसे कि कौरव राज दुर्योधन के आगे अंगदेश का राजा कर्ण ॥१९९॥

प्रचुर मात्रा में बाण बरसाते हुए और धनुष की ध्वनि करते हुए उस वीर श्रेष्ठ "वीरम" ने क्षण भर में ही शत्रु समूह को व्याकुल कर दिया ॥२००॥

सिंह की भाँति की हुई गर्जनाओं से शत्रु समूह को मृगयूथ की भांति भयभीत करते हुए यहाँ दुश्मनों के यज्ञ में सिंह भी भांति ही "सिंह" नामक योद्धा शोभायमान था ॥२०१॥

"गंगाधर टाक" ने भी बन्दूकों से शत्रुवीरों को अंग रहित करते हुए—(मारते हुए) अपने नाम को सार्थक कर दिया था ॥२०२॥

"राजद" नामक योद्धा ने भी यवनों के चमकते हुए मुख कमलों को म्लान करते हुए अपने नाम को सत्य सिद्ध कर दिया था ॥२०३॥

चारों बलशाली मुद्गल भी—महिमासाहि आदि चारों पठान योद्धा भी मानो शत्रु की चतुरंगिणी सेना को जीने की उद्यत से शोभा दे रहे थे ॥२०४॥

सैकड़ों शत्रुओं को यमराज का मेहमान बनाते हुए "क्षेत्रसिंह" नामक परमार राजा ने

भी अपना परमार राजकुल सार्थक कर दिया था ॥२०५॥

वीरों के द्वारा की हुई सिंह गर्जनाओं को सुनकर शक योद्धा चकित हो रहे थे जो कि दुश्मनों के प्राण हरण करने के लिए दण्ड वाली दूतियों का सा व्यवहार कर रही थी ॥२०६॥

"वह कैसी स्वर्ग की लक्ष्मी है जिसे राजा ब्याहना चाहता है" इसी को मानो देखने के लिए राजा हम्मीर से पूर्व ही वीरमदेव स्वर्ग में पहुँच गया था ॥२०७॥

हम्मीर के अन्य वीर भी स्वप्राणत्याग के लिए उत्सुक थे और वे मालिक से पहले ही स्वर्ग पहुँच गये थे, ऐसी वीरों की स्थिति थी ॥२०८॥

शत्रुओं के बाणों से "महिमासाहि" को मूर्छित जानकर स्वयं हम्मीर राजा अब युद्ध के लिए चल दिया ॥२०९॥

मुझे शंका होती है कि बाण वर्षा करने वाले इस राजा की यमराज से शत्रुता होनी चाहिये अन्यथा वह कैसे इस का अन्त करने वाला है ॥२१०॥

युद्ध में अकेले हम्मीर ने लाखों योद्धाओं का संहार कर दिया और तलवार से काटे हुए शत्रु मुण्डों से उसने सारे आकाश को मानों कमलों का सरोवर बना दिया था ॥२११॥

हम्मीर के अग्नि बाणों के समूह से घिरे हुए शक योद्धा अपने आपको सूर्य के मण्डल में प्रविष्ट हुए से मानने लगे थे ॥२१२॥

इस अकेले हम्मीर ने ही प्रचुर मात्रा में शत्रुओं को पराजित कर दिया क्या हिरनों के यूथ को जीतने वाला सिंह किसी अन्य मित्र की अपेक्षा रखता है? नहीं ॥२१३॥

हाथी पर सवार योद्धा या घुड़सवार, पैदल अथवा रथी जो भी इसके द्वारा मारा गया वह मानो चित्र लिखा सा हो गया ॥२१४॥

बाणवर्षा द्वारा वर्षा के बादल की भांति शत्रुओं पर आक्रमण करता हुआ राजा वैसे ही शत्रुओं को नष्ट कर रहा था जैसे बादल कमल समूह को नष्ट कर देता है ॥२१५॥

बाण वर्षा से मदमत्त हाथी को अत्यधिक व्याकुल करते हुए राजा ने उसके आरोहण

करने वाले योद्धा को भी और उसको भी व्याकुल कर दिया और उसका मद भी उतार दिया ॥२१६ ॥

"रतिपाल" की भांति ये (वीर) भी (गद्दार) हो गये हैं—इस प्रकार के अपवाद से मानों डर करके बाण भी शत्रु के अंग छेद कर दूर चले जाते थे ॥२१७ ॥

अर्जुन को भी मात करने वाले शत्रु धनुर्धारियों के धनुष की तथा हाथ में स्थित प्रत्यंचा को हम्मीर राजा ने काट दिया था ॥२१८ ॥

उसके धनुष की प्रत्यञ्चा की टणत्कार के सुनने मात्र से ही प्राण छोड़ देने वाले शत्रुगण उसके बाणों के लगने की वेदना भी अनुभव नहीं कर पाते थे ॥२१९ ॥

राजा के द्वारा बीच-बीच में से काटे हुए पृथ्वी पर पड़े हुए वैरियों के सिरों से रण क्षेत्र ऐसा मालूम हो रहा था मानो वह तिल क्षेत्र को काट देने वाली स्वयं मृत्यु ही हो ॥२२० ॥

बाणों के समूह को बरसाने वाले इस राजा के सामने से भागने वाली शकराज की सेना क्षणभर को ऐसी मालूम, होती थी जैसे वह धनहीन विलासी से दूर पलायन करने वाली वेश्या हो ॥२२१ ॥

किन्हीं योद्धाओं को तो राजा ने बाणों से छाती तक भर दिया था और किन्हीं को तलवार से मध्य में से घास की तरह काट दिया था ॥२२२ ॥

इस वीर ने युद्ध में शत्रुओं का इस प्रकार वध किया था जिससे कि यमराज का घर भी पूर्ण रूपेण इनसे भर गया था ॥२२३ ॥

उसने ध्वजाओं के दण्डों को काट-काट कर घुड़ सवार सहित अश्वों को मार मार कर और शत्रुओं की देहों के दो दो टुकड़े करके बहुत समय तक युद्ध किया ॥२२४ ॥

भयंकर वर्षा की भांति शत्रु के क्षेत्र पर बाण वर्षा करके हम्मीर राजा ने, आश्चर्य की बात है कि, मानो दृश्यमान श्रावण का सा दृश्य उपस्थित कर दिया था ॥२२५ ॥

भयंकर रण कर्म करने वाला, वीर कुलों का मुकुट मणि, म्लेच्छों के बाणों के प्रहार से सभी अंगों में लगे बाणों से समस्त पृथ्वी पर सब ओर से सम्मानित राजा

हम्मीर स्वयं ही अपने कण्ठ को काट कर स्वर्ग की ओर प्रयाण कर गया—यह सोचकर कि वहीं मुझे यवन लोग जीते हुए ही न पकड़ लें और देवताओं का अतिथि बन गया ॥२२६ ॥



चतुर्दश सर्ग

हम्मीर राजा के गुणों की स्तुति—इस प्रकार के गुणों वाले, शत्रुओं को भयभीत करने की दीक्षा देने में गुरु के समान, पृथ्वी के इन्द्र तथा विभुस्वरूप हम्मीर राज की संसार के लोगों के पालन की प्रवृत्ति एवं उसकी उन्नति को सुनकर तथा उसकी मृत्यु को कर्ण परम्परा से जानकर भी उस समय किन्हीं किन्हीं अल्पज्ञजनों ने ही मुश्किल से उसके कार्यों को कविता कलेवर में बाँधा है ॥१ ॥

हे हम्मीर महीपति ! हे राजाओं के भाल के तिलक। आज तुम्हारे स्वर्ग चले जाने पर धर्म ने अपनी प्रसन्नता त्याग दी, करुणा वन की शरण में चली गई, उदारता नष्ट हो गई, वीरों की प्रतिज्ञाएँ बालकों का खेल बन गई, राजनीति भयभीत हो गई और लक्ष्मी विधवा हो गई ॥२ ॥

हे निर्मल बुद्धि वाले हम्मीर राज ! अब ब्राह्मणों को कौन स्वर्ण के ढेर के ढेर दान मे देकर पूजित करेगा ? कौन छः दर्शनों की पद सहित उपासना करेगा ? क्रोध के कारण शक समूहों के द्वारा मारी जाती हुई गायों के समूह की कौन रक्षा करेगी और हमारी क्या हालत होगी ? ॥३ ॥

कल्पवृक्ष, कामधेनु, ऐरावत की मणि—ये सब वस्तुएँ इस कराल कलियुग के समय में पृथ्वी पर कहीं भी पल्लवित नहीं होती हैं—ऐसा बुद्धिमान लोग कहते हैं। किन्तु हे राजा हम्मीर। आप की केवल कीर्त्ति ही शेष रह जाने पर—आपके दिवङ्गत होने पर—हम इन सब वस्तुओं को इस समय परम पवित्र मानते हैं ॥४ ॥

हाय, हाय ! पाताल में सर्पों के स्वामी, स्वर्ग में देवताओं के समूह, प्रत्येक वन में पुष्पों के समूह, प्रत्येक सरोवर में राजहंसों के दल, हर एक भवन में मृगाक्षी महिलाएँ और प्रत्येक नगर में प्रेमपूरित नागरिक जन केवल हम्मीर राज के लिए ही शोक प्रकट कर रहे हैं ॥५ ॥

हम्मीर राज के अप्सराओं के स्तनरूपी विशाल पर्वतों पर नेत्र संचालन करने पर (दिवङ्गत हो जाने पर) धैर्य ने तुरन्त ही स्वेच्छा पूर्वक मेरु पर्वत का आश्रय ले लिया, बुद्धि ने बृहस्पति का, गम्भीरता ने सागर का, सौम्यता ने चन्द्रमा का, प्रताप के समूह ने सूर्य का, वीरता ने विष्णु भगवान् का, उदारता ने चिन्तामणि का और सौभाग्य ने कामदेव का सहारा ले लिया है ॥६ ॥

हम क्या करें, क्या बोलें, किस स्वामी से अनुरोध करें, अपने असीम दुःख का वर्णन किससे करें अथवा किससे बोले? बिना कारण ही निर्दय बने हुए विधाता ने वैसे गुणों के आगार हम्मीर राजा का अपहरण करके, हाय! तुरन्त ही हमारे सर्वस्व को हर लिया है ॥७ ॥

हे हम्मीर राज! तुम्हारे स्वर्ग में इन्द्राणी के पास चले जाने पर—जहाँ पर कि उसके स्तन रूपी कलशों पर पत्र रचना करने में तुम चतुराई दिखाने के लिए लालायित हो—(अर्थात् तुम्हारे मर जाने पर) लक्ष्मी शीघ्र ही मुर दैत्य के शत्रु विष्णु भगवान के वक्षस्थल में चली जायेगी और वीरता भी हरि के वीर निकेतन में पहुँच जायेगी तथा सारी कलाएँ भी नष्ट हो जायेगी ॥८ ॥

पृथ्वी पर कितने भूपाल नहीं हैं—बहुत से नहीं है कि अपनी महारानियों की प्रसन्नतार्थ अनेक अश्व समूहों पर आरोहण कर कर के अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करते हैं किन्तु कलियुग में तो हम्मीर राज ही एक ऐसा राजा था जिसने म्लेच्छों के बड़े बड़े मुकुटों को पृथ्वीतल पर फैला कर उसे तुरन्त ही चित्र विचित्र वर्ण कर दिया था ॥९ ॥

हे वीर !तुम अकेले के ही स्वर्ग चले जाने पर बेचारे शक लोग अपनी प्रबल बलशाली सेनाओं से लोगों को अपने यश का अध्यापन करते हुए बढ़ते रहें, मध्यम पाण्डव-भीम की भांति-बलशाली राजनीति के मार्ग का अवगाहन करें, परम प्रसन्नता को प्राप्त करें, युद्ध में क्षत्रिय राजाओं के समूहों के लिए विघ्न पैदा करते रहे और अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करते रहें ॥१० ॥

जब शक्तिशाली विजेता जल में जाते हुए विकलाङ्ग कौए को—धूर्तयवन राज को खाना चाहा तो मलय राज ने डिण्डिम घोष करके उसे सावधान कर दिया था। हे हम्मीर नृपते! इस प्रकार से कितने आदमी स्वप्रदर्शन नहीं करते हैं—खूब करते

हैं किन्तु जो तुमने किया वह वीरत्व कार्य कलियुग में किसने किया, कौन करता है अथवा कौन करेगा? ॥११॥

हे हम्मीर! जहाँ पद्म सरोवर में सन्ध्या वन्दन आदि कर्म करने से दुष्ट बुद्धि वाले ब्राह्मण लोग मदमत्त हंसों की भांति प्रसन्न मन से निरन्तर स्नान करते थे, वहाँ अब तुम्हारे बिना दुर्गन्ध युक्त वस्त्र वाले यवन लोग निःशंक होकर सरोवर में प्रवेश करते हैं और भैंसों की भांति कूदते हैं॥१२॥

हे विधाता आपके द्वारा इस प्रकार के मनुष्यों के मुकुटमणि हम्मीर राजा की अवहेलना करके मार कर जो असाध्य कार्य कर दिया गया है, उसे आप देखिये। अहो! नीचों की भी यदि ऐसी ही स्थिति होती है तो तुम्हारे उदाहरण के बिना भी वे तो अन्य लोगों की प्रिय वस्तुओं के नष्ट करने की कला के लिए लगातार खूब प्रयत्न करते हैं॥१३॥

अब तो मनुष्य के दोनों नेत्रों को अपने कार्य से विरत हो जाना चाहिए और दोनों कानों को भी अत्यन्त बहरे हो जाना उचित है। हे नेत्र—कर्ण युगल! अब तुम दोनों का जो भी कार्य कलाप हो रहा है उसे देखकर—इसके अतिरिक्त तुम दोनों का कोई काम नहीं है कि उन्हें देखकर या सुनकर तुम लज्जा का अनुभव करते रहो। तुम्हारे द्वारा तो हम्मीर राज के गुणों का समूह अतीत में देखा गया था और उनका बखान सुना गया था॥१४॥

संसार तो मूर्खतावश यह खूब कहता रहे कि श्रीचौहान वंश का राजा हम्मीर विश्व में साधारण राजा की भांति स्वर्ग में चला गया किन्तु तत्वज्ञ के रूप यदि हम देखें तो हम कहेंगे कि वह पृथ्वी पर अपने विक्रम कार्यों के कदम कदम पर चिह्नित होने के कारम जीवित रूप में ही देखा जाता है॥१५॥

हे सूर्यवंश के अधम व्यक्ति रतिपाल! तुम्हें धिक्कार है तुम विलय को प्राप्त हो जाओ। हे रणमल्ल! हे पापी! तुम तुरन्त ही अपने मुख पर खूब कालिख पोत लो। केवल एक ही स्वाभाविक स्वामी से प्रीति करने वाला व्यक्ति "जाजराज" ही संसार में आनन्द प्राप्त करे जिसने राजा हम्मीर के दिवंगत होने पर दो दिन तक दुर्ग की रक्षा की॥१६॥

राधा पुत्र कर्ण ने अपना कवच दान में दे दिया था, राजा शिवि ने अपना मांस और

राजा बलि ने सारी पृथ्वी का दान कर दिया था। जीमूतवाहन ने अपना आधा शरीर (गरुड़ भक्षण के लिए) दे दिया था किन्तु ये सब राजा हम्मीर के तुल्य नहीं हैं उसने तो शरण में ये हुए महिमासाहि के लिए फौरन ही अपने पुत्र स्त्री तथा सेवक समूहों समेत अपने आपको मिटा दिया कि केवल उसकी कहानी ही अवशिष्ट रह गई है ॥१७॥

दो नकार (नहीं-नहीं) प्रस्तुत अर्थ को बतलाते हैं—यह जानकर राजा हम्मीर के द्वारा दो बार कही गई "जाओ जाओ" (याहि याहि) ऐसी वचन रचना को जा जा (चला जा चला जा) इसी अर्थ से युक्त चौहान वंशीय स्वामिभक्त "जाजा" नामक क्षत्रिय ऐसा कहने पर भी राज्य में ही रहा और अपने स्वामी के राज्य को उसने दो दिन तक लुप्त नहीं होने दिया ॥१८॥

कम्बोज देश (काबुल) के कुल रूपी समुद्र को प्रवर्धित (ज्वार के कारण) करने के लिए चन्द्रमा के समान और निश्च्छल वीरता के धनी और स्वाभिमान के निकेतन अफगान सरदार महिमासाहि का वर्णन भी कैसे किया जा सकता है? उसने केवल हम्मीरवीर को छोड़कर प्राणान्त हो जाने पर भी दुश्मन के सामने कभी अपना सिर नहीं झुकाया ॥१९॥

'स्वजाति वाले को कोई स्वजातीय ही न मारे' यह कुल रीति पालते हुए अल्लाबदीन के सामने महिमासाहि पकड़ा गया। म्लेच्छ राज के सामने वह जीवित महिमासाहि अपना पैर उसे दिखाते हुए प्रविष्ट हुआ।" तुम जीवित रहते मेरे से क्या व्यवहार करोगे" यह पूछने पर महिमासाहि ने कहा—जो तुमने हम्मीर राज के साथ व्यवहार किया, वही करूंगा"। ऐसा करने वाले महिमा साहि की समानता इस संसार में कौन वीर कर सकता है? कोई नहीं ॥२०॥

हे रतिपाल! युद्धभूमि में हम्मीर राज के सिर को पैर से ठोकर लगाकर दिखाने वाले, अल्लावदीन के द्वारा यह पूछने पर कि "उस राजा ने क्या क्या कृपा तुम्हारे ऊपर की "उसकी कृपाओं का वर्णन करने वाले तुम्हारी खाल को उतरवाने का आदेश जो शक राज ने दिया, वह ठीक ही था, अन्यथा तुम सरीखे कितने व्यक्ति स्वामी से द्रोह नहीं करते? अनेक व्यक्ति करते ॥२१॥

काव्यकर्त्ता की प्रशस्ति

पृथ्वी को अति हर्ष प्रदान करने वाले, विकसित हुई नई चमेली के पुष्पों के गुच्छों की भांति पवित्र मूर्त्ति वाले, विभिन्न प्रकार के विद्वानों की पंक्ति रूपी भौंरों के द्वारा जिनकी कीर्त्ति गाई जा रही हो, ऐसे, और विद्वान लोगों के शिरोभूषण "कृष्णगच्छ" की जय हो ॥२२ ॥

उसी विस्मयावह चरित वाले श्री सूरियों के वंश में क्रमशः विद्वान् शिरोमणि गुरुवर श्री जयसिंह सूरि उत्पन्न हुए, जिन्होंने छः भाषाओं में काव्य रचने वाले कवीन्द्र समस्त मान्यविज्ञों के अग्रणी "सारंग" नामक विद्वान् को वाद विवाद में परास्त कर दिया था ॥२३ ॥

"श्रीन्यायसार" नामक टीका, व्याकरण, और काव्य रचना करके जिन्होंने "कुमार" राजा संभवतः कुमारपाल नामक राजा) से तीनों विद्याओं के ज्ञाता चक्रवर्ती की उपाधि प्राप्त करके प्रसिद्धि पाई ॥२४ ॥

उसी राजा के प्रधान पण्डित (तदीय गणनायकः) जिनको क्रमशः समस्त राजा लोग प्रणाम करते थे, ऐसे शुभ्र चन्द्रमा सी कान्ति वाले और वाद विवाद विद्या में पारङ्गत प्रभु (श्री जयसिंह सूरि) की जय हो, जिनके चरण कमलों में बड़े बड़े राजाओं के शीश भ्रमरों की भांति मंडराते रहते थे ॥२५ ॥

उन्हीं के सिंहासन रूपी कमल के लिए चञ्चल और तीव्र किरणों वाले चन्द्रमा के समान, सारे शास्त्रों में पारंगत सूरि कुल के लिए चन्द्रमा स्वरूप और कवि समूहों के समुद्र को उल्लसित करने को चन्द्रमा की भांति श्री नयचन्द्रसूरि की विजय हो। अपनी महिमा का बखान करने को स्वप्न में आकर प्रेरणा देने वाले उसी हम्मीर नृपति के द्वारा कहे जाने पर यह सुन्दर हम्मीर (राज) महाकाव्य नामक वीर रसपूर्ण काव्य राजाओं के मोद के लिए ही रचा गया ॥२६ ॥

कवि गुरु श्री जयसिंह सूरि के इस पौत्र ने भी नवीन-नवीन अर्थ घटना—पदों में रीति, रस भाव आदि के विन्यास का प्रयत्न करके काव्य को उत्पन्न किया ॥२७ ॥

यह जो मेरा काव्य की उक्तियों का परिश्रम है—वह तो श्रीहर्ष और अमर नामक श्रेष्ठ कवियों की वाणीरूपी कल्पलता को नवीन नवीन अमृतधाराओं से सेचन करने

का प्रयास है और मेरे भाग्यरूपी मारुत के डोलने से जो कुछ बूँदे अपहत कर ली गई हैं—उन्हीं के घर्षण से निर्मित किया हुआ यह हरा हरा मनोहारी दूब का मैदान है ॥२८॥

कोई कोई विद्वान् कहते हैं कि जो जो भी कार्य कलाओं में प्रमुख कवीन्द्र हैं, वे अपने अनुभव से ही सरस काव्य की रचना करते हैं किन्तु यह मिथ्या बात है। यह तो हमारे ऊपर बारम्बार उपासना की जाने वाली वाणी की देवी सरस्वती की ही कृपा है कि चपल नयन वाली ललनाओं की पवित्र तरुणता ही प्रचुर लालित्य धारण करती है और हमें प्रेरणा देती रहती है ॥२९॥

काव्य में कवियों का अनुभव अधिक महत्व नहीं रखता। प्रायः इस बात का यदि प्रमाण नहीं है तो चन्द्रमा की सौरभ के समान कुन्द के पुष्प की भांति उज्ज्वल चांदनी के स्रोत जैसी कीर्ति का किस कवि ने अनुभव किया था या फिर इसके विपरीत दुर्गुण वाली अपकीर्ति का भी किसने अनुभव किया?—बिना सरस्वती की कृपा के किसी ने भी नहीं ॥३०॥

वाणी की देवी सरस्वती को कुमारी कहा गया है और वहीं से निश्चित रूप से ब्रह्मज्ञ विद्वान् भी सरस वाणी विलास की प्रेरणा प्राप्त करते हैं। पुण्यकर्मा, कुक्कोक, जितेन्द्रिय कवि हर्ष व वात्स्यायन और ब्रह्मज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ तथा महान् तपस्वी वेणी कृपाण अमरसिंह भी सरस्वती से ही प्रेरणा प्राप्त करते थे ॥३१॥

अज्ञानी व्यक्तियों के द्वारा ही शृङ्गार का प्रचुर अनुभव ही काव्य कारण कहा गया किन्तु यदि उज्ज्वल प्रभा वाली सरस्वती कवि के हृदय में नहीं हो तो वह शृगार नगरों में ही सोता रहता। अतः हे विद्वान् कवियों! बांझ औरत के पुत्र पालन की भांति व्यर्थ ही कल्पपर्यन्त कल्पना करते हुए आप लोग खूब बुद्धि का ही गुणगान करते रहो ॥३२॥

जो विद्वान शृंगार की कथा को ही काव्य की रीति मानते हैं, तो उनका अनुभव वाणी—विलास और रस के विकास के समकक्ष नहीं है और जिनका अनुभव है, वे फिर अन्य विद्वान् होते हैं (वे सरस्वती की कृपा को ही काव्य मूल जानते है)। हाथियों के कुन्द के समान श्वेत दाँत जिनका कि वर्णन कवियों द्वारा किया जाता है, वे भोजनादि के चर्वण के साधन नहीं होते। भोजन चबाने के दाँत तो कठिनाई से ही दिखाई देते हैं ॥३३॥

"काव्य प्रकाश" आदि ग्रंथों में रस बहुल वाक्यों को जो विद्वान् उत्तम काव्य मानते हैं, वह (उत्तम काव्य) भाव, विभाव आदि के द्वारा भी कभी ही अभिव्यक्त होता है, अन्यथा नहीं। उसी विद्वान् के द्वारा यह भी स्पष्ट कहा गया कि काव्य तो सरस आदमियों के मन को प्रसन्न करने वाला होता है, किन्तु यदि कोई नीरस व्यक्ति भी काव्य पढ़कर आनन्द प्राप्त कर लेता है तो इसमें कौन दोष नहीं है (यह परिभाषा दोष युक्त है।) ॥३४॥

जब विद्वान् रस को ही काव्य कहते हैं और जिसको पीने पर मन प्रसन्न हो जाता है तो कानों में आभूषण पहन के, सुपर्ण पर्ण के लिए अभ्यर्ण आदि शब्दों के शब्द समुद्र का प्रदर्शन करने से क्या लाभ है? ॥३५॥

रस कोई सा भी हो, किन्तु शृङ्गार रस को जो स्पर्श नहीं करे, वह शब्दावली रस उत्पन्न नहीं कर सकती क्योंकि पाक रस की कुशलता होने पर भी लवण विहीन भोजन सुस्वादु नहीं हो सकता ॥३६॥

कविता, वनिता (स्त्री) और गीति—ये सब प्रारंभ में प्रायः रसप्रद नहीं होते किन्तु सबके सम्मुख इनका भाव समझ लेने पर ही ये सब रस की वर्षा करने लगते हैं ॥३७॥

अपशब्दों द्वारा यदि किया हुआ यदि कहीं मुझ मन्द बुद्धि का दोष हो तो यहाँ उस पर आपको नहीं सोचना चाहिये क्योंकि कालिदास आदि कवियों द्वारा जो मार्ग नहीं छोड़ा गया उस मार्ग को मैं कैसे छोड़ सकता हूँ? ॥३८॥

प्रायः अपशब्द से काव्य की हानि नहीं होती यदि अर्थ में समर्थता हो और रस प्रवाहित करने की क्षमता हो तो, और यदि यह प्रवाह की प्रतिज्ञा ही है तो विद्वान् को वाद विवाद भी नहीं करना चाहिये—काव्य करने से हटना भी नहीं चाहिये ॥३९॥

विद्वान् व्यक्तियों की वाणी तो सरस्वती के प्रसाद से ही प्रसारित होती है। उसी प्रसाद से (कृपा से) प्रायः चित्त के भाव भी शब्द व अपशब्द के रूप में निकलते हैं तथा शब्द शास्त्र की कवियों के मत की पुष्टि करने वाली सिद्धि भी सरस्वती की कृपा से ही संभव है। ऐसा ही मानकर हे सहृदय विद्वानों! अपशब्द मत बोलो, किन्तु यदि प्रौढ कविता में यदि दो तीन अपशब्द हो भी, तो भी वाणी का ब्रह्मकोष क्यों वृद्धि को प्राप्त करता जाता है? ॥४०॥

यथा महाकवियों के काव्यों में जब अशुभ या शुभ भाव होते ही हैं और वे यदि यहाँ पर प्रदर्शित किये गये हैं तो क्या यह "हम्मीर महाकाव्य" क्या महाकाव्य नहीं है? (अवश्य ही है।) ॥४१ ॥

इस महाकाव्य में यदि कोई अपशब्द असावधानी के कारण आ गया हो तो विद्वज्जनों को कृपा करके क्षमा कर देना चाहये। अथवा जैसी मित्रों को अच्छी शब्दावली से प्रसन्नता होती है वैसी क्या शत्रुओं को बुरी शब्दावली से नहीं होती? बुरी शब्दावली से शत्रु प्रसन्न ही होते हैं ॥४२ ॥

"पूर्व कवियों के काव्य के समान अब कोई भी क़ाव्य नहीं रचेगा ऐसी बात'' वीरम-तोमर" राजा के समाज के व्यक्तियों द्वारा सभा में कहने पर 'नयचन्द्र' कवि ने यह काव्य रचा। उनके भ्रूभङ्ग के संकेत से प्रेरणा प्राप्त करके शृङ्गार और वीर रस युक्त यह अद्भुत हम्मीर राजा का नवीन काव्य उसने निर्मित किया ॥४३ ॥

वे हंस रूपी सज्जन कहाँ है जिनकी प्रीति गुणरूपी दुग्ध में है और दोषरूपी जल में जिनकी रुचि नहीं है? वे दर्पण भी कहाँ है जिनमें गुण अथवा दुर्गुण दोनों ही समान रूप से प्रतिबिम्बित होते हों। वे छानने के उपकरण भी कहीं दूर ही रहें जो कि दोषरूपी हड्डियों को तो ऊपर ही ऊपर रख लेते हैं और उज्ज्वल गुणरूपी गेहूँ के आटे की राशि को नीचे फेंक देते हैं ॥४४ ॥

युद्ध में वीर रस प्रदर्शित करने वाले राजा लोग प्रसन्नता पूर्वक राज्य करें और उनके विक्रम का वर्णन करने में कवि भी खूब प्रयत्न करें। सुधा से परिपूर्ण वाणी भी अनवरत रसों से आप्लावित रहे और रस का स्वाद लेने के इच्छुक व्यक्ति इन सुधा पूर्ण वाणियों का चटखारे ले लेकर रस पान करते रहें ॥४५ ॥

'श्री नयचन्द्र सूरि—महाकवि के मुख कमल से निकले हुए काव्य रूपी अमृत का पान करने कौन "श्री अमरचन्द्र" नामक पूर्व कवि को अपने सामने साक्षात् नहीं देखता? अर्थात् अवश्य देख लेता है। यदि प्रारंभ में ही उसकी बाधिका अमरता नहीं हुई—यदि वह देवत्व को प्राप्त नहीं हुआ (मर नहीं गया) तो यह हर्ष की लहरों का अनिवार्य समूह खूब इधर-उधर प्रचुर मात्रा में उछलता ही रहेगा ॥४६ ॥



श्री जयसिंह सूरि के शिष्य नयहंस के द्वारा लिखित महाकवि नयचन्द्र सूरि की प्रशस्ति

जब हमारा मन बिना एकान्त में विचार किये हुए कार्य से कारण का ज्ञान जान नहीं सकता तो वह कैसे किसी अन्य चमत्कारयुक्त कार्यों के कारण ज्ञान में समर्थ हो सकता है? नहीं हो सकता है। यदि ऐसा नहीं है तो श्री नयचन्द्र सूरि महाकवि की वाणी का अमृत बनाने वाले श्री हर्ष कवि और श्री अमरचन्द्र कवि को विद्वान् लोग क्यों स्मरण करते? ॥१॥

जिस काव्य त्रय—रघुवंश—कुमारसंभव—मेघदूत—को कलात्मक रूप से कालिदास महाकवि ने निर्मित किया, वह काव्यत्रयी तो विश्वामित्र की रची गई सृष्टि के यदि योग्य नहीं है तो कोई बात नहीं। किन्तु जिस काव्यकला को नयेन्दु-अमरचन्द्र और श्री हर्ष नामक महाकवियों ने रचा—विभिन्न रसों से पूर्ण किया—वह तो ब्रह्मा की इस सृष्टि में इसी के संवाद से जीवित है॥२॥

नयचन्द्र कवि का यह काव्य संसार में एक अद्भुत रसायन है। इसका आस्वाद सज्जन ही ले सकते हैं और श्री हर्ष आदि कवियों की कीर्त्ति भी जीवित रहती है॥३॥

श्री अमरचन्द्र—कवि जैसा यहाँ लालित्य है और श्रीहर्ष कवि जैसी इस काव्य में वक्रोतियाँ हैं। इस प्रकार नयचन्द्र कवि के काव्य में ये दोनों अलौकिक गुण वर्तमान हैं। ।४॥

काव्य की कीर्ति को चाहने वाले कवि लोगों की रचनाओं की वृद्धि लोगों को प्रसन्न नहीं करती है अथवा कवियों की रचना वृद्धि की बात भी कोई तुलनात्मक रूप से स्पष्ट नहीं हो सकती। विद्वान् लोग क्योंकि इन लोगों की प्रसिद्धि का कारण शुद्ध या अशुद्ध रूप से मानते हैं अतः उनके मन के द्वारा ही यह बात निर्धारित की गई है। शुद्ध अशुद्ध का कहीं भी अवकाश नहीं है॥५॥

यश चाहने वाले कविजनों का पाप व पुण्य कुछ भी नहीं होता। पुण्य और पाप का जो भी निदान है वह उनके मन के द्वारा ही निर्धारित किया जाता है ॥६॥

सम्वत् १५४२ में नयहंस के द्वारा यह हम्मीर महाकाव्य प्रतिलिपि के रूप में लिखा गया।

